श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमाला

(१)

श्री परमात्मने नमः

श्रीमन्नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्तिविरचित

गोम्मटसार

(जीवकाण्ड)

न्या० वा० वादिगजकेसरी स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी वरैया के
अन्यतम शिष्य श्रीमान् पं० खूबचन्द्र जैन द्वारा रचित
संस्कृतछाया तथा बालबोधिनी टीका सहित

प्रकाशक
रावजीभाई छगनभाई देसाई
श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

श्री वीरनिर्वाण सं० २४९८ विक्रम सं० २०२८ ईस्वी सन् १९७२

मूल्य : नौ रुपये

प्रकाशकीय निवेदन

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत प्रस्तुत गोम्मटसार (जीवकाण्ड) ग्रन्थ बहुत दिनोंसे अनुपलब्ध हो गया था, अतः इसका यह चतुर्थ संस्करण तीसरी आवृत्तिके अनुरूप ही प्रकाशित किया जा रहा है।

इसकी नवीन टीका, सम्पादन तथा संशोधनका कार्य श्रीमान् ब्रह्मचारी पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने किया है। आप जैनसमाजके प्रसिद्ध पण्डितोंमें अग्रणी रहे हैं। ग्रन्थकी पहली और दूसरी आवृत्ति जिस समय प्रकाशित हुई थी उस समय षट्खंडागम—धवल, जयधवल, महाधवल सिद्धान्तग्रन्थोंका नाम ही सुननेको मिलता था, प्रकाशन नहीं हुआ था। अब ये ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं। इन ग्रन्थों तथा बड़ी संस्कृत टीकाके आधारसे श्रीमान् पण्डितजीने टीका लिखी है और उसमें जैनसिद्धान्तका विस्तृत विवेचन किया गया है। अब यह ग्रन्थ पहलेसे काफी बड़ा हो गया है। संदृष्टियाँ भी इसमें जोड़ दी गई हैं, जिससे विषय समझनेमें सुगमता हो। यह एक पाठ्यग्रन्थ होनेसे इसे सब प्रकारसे उपयोगी बना दिया गया है। इस ग्रन्थको तैयार करके छपानेमें आश्रम तथा श्रीमान् पण्डितजीने काफी श्रम उठाया है, एतदर्थ सभी धन्यवादके पात्र हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजीने जिस परमपुनीत महान् उद्देश्यसे श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डलकी स्थापना की थी, उसे सफल बनानेका भरपूर प्रयत्न हम लोग करेंगे। यह संस्था किसी आर्थिक दृष्टिसे प्रकाशनका कार्य नहीं कर रही है, इसमें मात्र सम्यग्ज्ञानका प्रचार ही मुख्य लक्ष्य है। श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत सत्श्रुतरूप महान् ग्रंथों तथा अन्य आचार्यरचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंको सुसम्पादित कराकर प्रकाशमें लाना ही इस शास्त्रमालाका ध्येय है। संस्थाकी ओरसे प्रकाशित ग्रंथोंकी सूची पीछे संलग्न है। विद्वज्जनोंसे निवेदन है कि उत्तम साहित्यका पठन-पाठन द्वारा अधिकाधिक लाभ उठाकर हमारा उत्साह बढ़ावें और निर्ग्रन्थ-प्रवचनकी सेवाका अवसर देते रहें।

सभी ग्रंथोंका प्रकाशन पर्याप्त सावधानीपूर्वक कराया जाता है, फिर भी कहीं किसी प्रकारकी भूल दृष्टिगत हो तो विद्वान् पाठकगण हमें उसकी सूचना देकर कृतार्थ करें।

अन्तमें, जिन-जिन महानुभावोंका हमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे सहयोग मिला है उन सभीका हम हृदयसे आभार मानते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
अगास, वाया : आणंद
चैत्र सुदी १५, सं० २०२८

निवेदक
रावजीभाई देसाई

आ मु ख

आज मुझे इसलिये प्रसन्नता है कि अपनी विद्यार्थी अवस्थाकी समाप्तिके साथ ही इस टीकाके लिखने वाले मुझे स्वयं ही पर्याप्त लम्बे समयके अनन्तर इसमें संशोधन करनेका अवसर प्राप्त हुआ है।

यह टीका करीव ४५ वर्ष पूर्व लिखी गई थी। सन् १९१५ के अन्तमें अथवा सन् १९१६ के प्रारम्भमें लिखी गई और सबसे प्रथम सन् १९१६ के मध्यमें प्रकाशित हुई थी। इसके वाद यद्यपि इसका संस्करण प्रकाशित हुआ परन्तु उसमें कोई खास परिवर्तन करनेका अवसर प्राप्त नहीं हो सका।

टीकाके लिखनेका निमित्त इस तरह वना कि स्व. पं. गोपालदासजीके पास अध्ययन समाप्त करके मैं मुरेना छोड़कर वाहर जानेके विचारमें था कि एक दिन उक्त गुरुदेवने बुलाकर मुझसे कहा कि "हमने जो जैन सिद्धान्त दर्पण लिखा है वह अधूरा है, उसमें जीवद्रव्यका वर्णन अच्छी तरह लिखकर तुम उसको पूरा कर दो।" यह सुनकर मैं स्तब्ध रह गया और विचारमें पड़ गया। आज्ञाका भंग करना भी अशक्य था और इस कार्यके योग्य अपनी असमर्थताका भी मुझे अनुभव हो रहा था। दो तीन वार कहनेपर भी जव मैंने अपनी इसके लिए अयोग्यता ही प्रकट की तव उन्होंने कहा कि "अच्छा ऐसा करो कि छात्रोंके उपयोगके लायक जीवकाण्डकी एक छोटी संक्षिप्त टीका लिख दो।" यह मैंने स्वीकार किया और उसके वाद ही लिखना शुरु कर दिया।

इस वर्तमान संशोधनका कारण यह हुआ कि इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करणके भी प्रकाशित हो जानेके वाद एक दिन जव कि मैं श्रीमती दानशीला सेठानीजी सा. कंचनवाई जी सा. इन्दौर को और साथमें अपनी वहिन स्व. विदुषी सुशीलावाईको यह ग्रन्थ सुना रहा था कि मेरी दृष्टि इस वातपर गई कि मेरी टीकामें जीवसमास प्रकरणके अन्तर्गत कुलकोटिका वर्णन करनेवाली एक गाथा नं. ११४ छूट गई है। यह वात मुझे वहुत खटकी और इसका सुधार करने की तरफ मेरा ध्यान खासतौरसे आकृष्ट हो गया। समय पाकर जव मैं वम्बई गया तव वहां जिस संस्था—श्री रायचन्द्र शास्त्रमालाकी तरफसे यह प्रकाशित हुआ था उसके मैनेजर भाई कुन्दनलालजीसे मैंने अपना सव अभिप्राय कह दिया। और फलस्वरूप यह ग्रन्थ अव नवीन परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधनके साथ प्रकाशित हो रहा है।

उक्त एक गाथाके छूट जानेके सिवाय और भी कोई इसमें अशुद्धि रह गई हो जिसके कि सुधारनेकी आवश्यकता है तो उसको मालूम करनेके सदभिप्रायसे हमारी सम्मतिके अनुसार भाई कुन्दनलालजीने समाचार पत्रोंमें विद्वानोंके नाम एक विज्ञप्ति भी इसी आशयकी प्रकाशित की थी और उन्होंने तथा हमने प्रत्यक्ष भी कुछ विद्वानोंसे इस विषयमें सम्मति मांगी थी। परन्तु एक सहारनपुरके भाई ब्र. श्री रतनचन्दजी सा. मुख्तारके सिवाय किसीसे किसी भी तरहकी सूचना या सम्मति हमको नहीं प्राप्त हुई। श्री रतनचन्दजी सा. ने जो संशोधन

भेजे हमने उनको बराबर ध्यानमें लिया है और संशोधन कार्य समय दृष्टिमें भी रक्खा है। हम मुख्तार सा. की सहृदयता सहानुभूति तथा श्रुतानुरागके लिये अत्यन्त आभारी हैं और केवल अनेक धन्यवाद देकर ही उनके निःस्वार्थ श्रमका मूल्य करना उचित नहीं समझते।

हमने इस संशोधन परिवर्तन और परिवर्धनमें यद्यपि इस बातकी पूरी सावधानी रक्खी है कि कोई गलती न रहे—ग्रन्थके पाठ अथवा अर्थमें यदि कहीं विपर्यास न हो सके। मुद्रण सम्बन्धी संशोधनमें भी यथाशक्य पूरा ध्यान रक्खा है, फिर भी हम यह असम्भव नहीं मानते कि इस ग्रन्थमें कहीं कोई किसी भी तरहकी अशुद्धि रही ही न होगी। हम सरीखे सामान्य व्यक्तिके लिये प्रमाद, दृष्टिदोष, मुद्रणकी असावधानी आदिके कारण अशुद्धियोंका रह जाना सामान्य बात है. अतएव हम उनके लिये पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं और सहृदय विद्वानोंसे अनुरोध करते हैं कि वे यथास्थान सुधार लेनेकी कृपा करें।

इस संशोधनमें हमने श्री १०५ ऐ. प. दि. जैन सरस्वतीभवन ब्यावरकी हस्तलिखित प्रतिसे भी मिलान किया है। अतएव हम उक्त भवन और उसके मैनेजर सहृदय धर्मात्मा सिद्धान्तशास्त्री निःशल्यव्रती पं. पन्नालालजी सोनीके भी आभारी हैं जिनसे कि हमको यह प्रति सहज ही प्राप्त हो सकी है।

श्री भा. दि. जैन महासभा दिल्ली कार्यालय और उसके तत्कालीन महामन्त्री श्रीमान् लाला परसादीलालजी सा. पाटनीके भी हम अत्यन्त आभारी हैं जिनकी कृपासे हमको स्व. ब्र. दौलतरामजी सा. द्वारा रचित इस ग्रन्थका हिन्दी पद्यानुवाद प्राप्त हो सका। जीवकाण्डकी इस बालबोधिनी टीका ग्रन्थके छपनेसे पूर्व इस बातका भी विचार किया गया था कि इसके साथमें यह हिन्दी पद्यानुवाद भी यदि रक्खा जा सके तो अच्छा है परन्तु ग्रन्थ विस्तारके भयके साथ ही विद्यार्थियोंको अधिक मूल्य बढ़ जाने पर अखरने और खरीदनेमें असुविधा होनेका विचार करके वह विचार स्थगित कर दिया गया और पद्यानुवाद साथमें नहीं छपाया गया। फिर भी यह पद्यानुवाद भी अध्ययनीय है। और पद्यरूप रचना होनेके कारण कण्ठस्थ करनेमें भी सुभीता हो सकता है।

यह भी एक विचार किया गया था कि परीक्षार्थियोंके सुभीतेके लिये यदि साथमें परीक्षामें आनेवाले—आ सकनेवाले कतिपय प्रश्नोंका संग्रह भी श्री भा. दि. जैन महासभा-परीक्षालय तथा बम्बई परीक्षालयके गत दश पांच वर्षमें आये हुए प्रश्नपत्रोंके आधार पर प्रकाशित कर दिया जाय तो अच्छा है जैसा कि आधुनिक शिक्षण-परीक्षण पद्धतिके अनुसार प्रचलित है। किन्तु वैसा भी नहीं किया गया है। इस तरह प्रश्नोंका आश्रय लेकर किसी न किसी तरह उत्तीर्णता प्राप्त कर लेनेकी अपेक्षा छात्रगण यदि लगनके साथ इस तरह ग्रन्थका ठोस अध्ययन करें कि वे कभी भी उस ग्रन्थके किसी भी अंशमें पूछे गये प्रश्नका उत्तर दे सकें तो कहीं अधिक अच्छा है। साथ ही अनुभवसे मालूम होता है कि जिस तरह दिनपर दिन ग्रन्थोंके अध्ययनकी विपुलताके वर्धमान होते हुए भी तज्जन्य ज्ञानके साथ श्रद्धान चारित्र हीयमान होता जा रहा है उसी प्रकार ज्यों-ज्यों छात्रोंके लिये अध्ययनमें स्वार्थी ग्रन्थविक्रेताओंकी होड़ाहोड़ीके परिणामस्वरूप सरलता प्रदान करनेवाले प्रकाशन बढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों उनका ज्ञान अधिकतर कच्चे रंगके समान सहज उड़ाऊ, मन्द एवं अविशद बनता जा रहा है। अतएव हमारा खासकर छात्रोंसे अनुरोध है कि वे

ठोस अध्ययन करनेकी तरफ प्रवृत्ति करें साथ ही अध्यापकवर्गसे भी निवेदन है कि वे इस बातकी तरफ असाधारण लक्ष्य देनेकी कृपा करें कि विद्यार्थीका ग्रन्थसम्बन्धी विशिष्ट व्युत्पत्ति होनेके सिवाय उन्हें श्रद्धा सुरुचि उत्साह भक्ति एवं सदाचारके प्रति प्रेम पूर्ण पालन करनेकी पवित्र भावना भी वृद्धिगत हो। अध्यापकोंका कार्य केवल शब्दार्थ बताना ही नहीं है। मुख्य कार्य उन्हें शिक्षित बनाना है जिसका अर्थ होता है कि यथायोग्य एवं यथाशक्य उनके मन वचन कायको ज्ञानके श्रद्धा चारित्ररूप फलसे संस्कृत बना दिया जाय। प्रकृत ग्रंथके गाथा नं. ३ में जो गुणस्थानका लक्षण किया गया है उससे भी यह बात भले प्रकार विदित हो सकती है कि जीवोंमें गुणवृद्धि, ज्ञानकी अपेक्षा श्रद्धा और चारित्र पर ही मुख्यतया निर्भर है। अस्तु।

प्रकृत ग्रन्थ जिस श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बईकी तरफसे प्रकाशित हुआ था हमको उसकी तरफसे इसके पुनः संशोधन आदिकी सूचना एवं स्वीकृति प्राप्त हुई थी, हमने भी अपना यह कार्य अबसे करीब तीन वर्ष हुए पूरा करके उक्त संस्थाको भेज दिया था। परन्तु इसके प्रकाशनमें विलम्ब पड़ता हुआ देखकर हर्षकी बात है कि इसकी तरफ अगासकी सुप्रसिद्ध संस्था श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम और उसके स्वत्वाधिकारियोंका ध्यान आकृष्ट हुआ और उन्होंने इसको अपनाया। पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि अब यह ग्रन्थ उसी श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगासकी तरफसे प्रकाशित हो रहा है। हम इस संस्था और उसके अधिकारियोंके प्रति इस श्रुतोद्धार कार्यके निमित्त आभारी हैं। और आशा करते हैं कि उनका यह श्रुतानुराग सदा वर्धमान रहेगा।

यदि इस संशोधन कार्यमें हमसे अज्ञान अथवा असावधानीवश किसी भी प्रकारकी त्रुटि, अशुद्धि या विश्रृंखलता रह गई हो तो सहृदय पाठकोंसे हम क्षमा चाहते हैं और उसको सुधार लेनेकी नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं।

वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड इन पाँच महान् सिद्धान्तशास्त्रोंके विषयोंका यहाँपर संक्षेपमें संकलन किया गया है यही कारण है कि विषयके अनुरूप इसका अपरनाम पंचसंग्रह भी है।

प्रकृत ग्रन्थमें आत्मा या जीवद्रव्यकी संसारावस्था-बाह्य दस प्राणोंसे सम्बन्धित अशुद्ध परिणतिका वर्णन ही मुख्य है फिर भी वह आत्म द्रव्यके शुद्ध एवं त्रैकालिक स्वतःसिद्ध स्वरूपपर भी प्रकाश डालता है जैसा कि इस ग्रन्थकी वर्णनीय बीस प्ररूपणाओंका जिनमें कथन किया गया है उनमेंसे मुख्य-मुख्य प्रायः सभी अधिकारोंके अन्तिम कथन द्वारा जाना जा सकता है, जैसा कि गुणस्थानाधिकारमें गुणस्थानातीत जीवोंका (पृ. ५० गा. नं. ६८) गतिमार्गणामें चतुर्गतिरूप संसारसे रहित सिद्धका स्वरूप (पृ. ९३ गा. १५२) कायमार्गणाके अन्तमें कायरहित आत्माका स्वरूप (पृ. १२० गा. २०३) एवं भव्य मार्गणाकी गाथा नं. ५५९ तथा आलापाधिकारकी गा. ७३१ इत्यादि वर्णनोंके द्वारा भले प्रकार दृष्टिमें आ जाता है।

इस तरह एक ही जीवद्रव्यको यद्यपि दो अवस्थाओंमेंसे प्रथम अशुद्ध-संसार अवस्थाका ही यहाँपर प्रधानतया वर्णन किया गया है फिर भी वह अपूर्ण नहीं है क्योंकि यह उसकी शुद्ध अवस्थाका भी बोध कराता है। वर्णनीय प्रत्येक प्रकरणके अन्तिम भागका निर्देश इस बातको स्पष्ट कर देता है कि वस्तुतः आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें किस तरहका है, परन्तु साथ ही यह कि अनादिकालसे इस जीवात्माकी किन किन कारणोंसे कैसी कैसी अवस्थाएँ हो रही हैं, और उनमेंसे वह अपने शुद्ध स्वरूपको किस तरहसे प्राप्त कर सकता है। इसप्रकार आत्माकी हेय और उपादेय दो अवस्थाओंमेंसे प्रथम हेयरूप-पर-परनिमित्तक आकुलता एवं दुःखस्वरूप पराधीन अवस्थाका यह ग्रन्थ प्रधानतया वर्णन करके संक्षेपमें उसके विपरीत इन अवस्थाओंसे रहित रहनेके कारण शुद्ध मुक्त स्वरूप-स्वनिमित्तक, निराकुल सुखस्वरूप अपनी अनन्त स्वाधीन उपादेय अवस्था भी प्रत्यय कराता है। जब कि अध्यात्म शास्त्रको इसी विषयका वर्णन करनेकी पद्धति ठीक इससे विपरीत है। वह उपादेय अंशका ही मुख्यतया वर्णन करता है और अशुद्ध निश्चयनयके विषयभूत यहाँके वर्णनको सर्वथा हेय कहकर उसपरसे मिथ्या एवं प्रमत्त बुद्धिको हटाकर अपने समीचीन शुद्ध स्वरूपमें उपयुक्त होने और उसीमें सावधानतया स्थिर रहनेका उपदेश देता है।

इसपरसे पाठकगण समझ सकते हैं कि दोनों ही सत्य एवं प्रमाणभूत शास्त्रोंके—आगम और अध्यात्मशास्त्रोंके आत्माकी दोनों ही अवस्थाओंके वर्णन करनेकी पद्धतिमें गौणमुख्यताके सिवाय लक्ष्यमें कोई अन्तर नहीं है। संसारावस्था और उसके कारणोंकी हेयता तथा संसारातीत मुक्त अवस्थाकी उपादेयताके विषयमें दोनों ही एकमत हैं। हाँ, यह ठीक है कि अध्यात्म शास्त्र जिसको अशुद्ध निश्चयनय एवं व्यवहारका विषय कहकर हेय प्रतिपादन करते हुए भी सत्य तथा यथार्थ स्वीकार करता है उसीका यह मुख्यतया वर्णन करता है। और साथ ही उसकी हेयता और यहाँके वर्णनीय बीस विषयोंसे रहित अवस्थाकी उपादेयताको भी यह स्वीकार करता है। ऐसी अवस्थामें दोनोंमें कोई मतभेद नहीं है, विषयके स्वरूप और आदर्शरूप साध्य अवस्थाकी उपादेयताके विषयमें दोनोंहीका एकमत है।

ग्रन्थकर्त्ता और टीकाएँ

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती जो कि इस ग्रन्थ एवं संग्रहके कर्त्ता हैं। वे अपने

विषयके कितने असाधारण विद्वान् थे इस बातको समझनेके लिए उनका यह वाक्य हमारे सामने पर्याप्त प्रकाश डालता है कि—

"जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण ।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ।। ३९७ ।।
—गो. क. सत्त्वस्थान भंग.

सुदर्शनचक्रके द्वारा षट्खण्ड भरतक्षेत्रको भले प्रकार सिद्ध करनेवाले चक्रवर्तीकी तरह अपने ज्ञानचक्रके द्वारा षट्खण्डागमरूप महान् सिद्धान्तको सिद्ध करनेवाले इन नेमिचन्द्र सि. च. के समयके विषयमें ऐतिहासिक विद्वानोंका मत है कि वे ग्यारहवीं शताब्दीके विद्वान थे, किन्तु हमको यह मत अभीतक उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि इसी ग्रन्थके प्रथम संस्करणकी आदिमें ता. ७-७-१९१६ को लिखी गई हमारी प्रस्तावनामें जो बाहुबली चरितका नं. ५५ का पद्य उद्धृत किया गया है, जिसमें कि चामुण्डरायके द्वारा गोम्मटेशकी बेल्गुल नगरमें की गई प्रतिष्ठाका समय कल्कयब्ध (शक सं. ६००) का उल्लेख पाया जाता है उसकी यथार्थ संगति नेमिचन्द्रको ११ वीं शताब्दीका मानने पर किस तरह बैठ सकती है ।

इसके साथ ही वीरनन्दिका स्मरण करनेवाले वादिराजसूरीके पार्श्वनाथ चरितकी अन्तिम प्रशस्तिके "नगवार्धिरन्ध्रगणने" वाक्यका अर्थ ९४७ के बदले ७४९ क्यों न किया जाय ?

यह कहनेकी आवश्यकता तो नहीं है कि प्रकृत ग्रन्थमें पाई जानेवाली अनेकों गाथाएँ इससे प्राचीन ग्रन्थोंमें भी पाई जाती हैं । अतएव स्पष्ट है कि वे प्राचीन आगमग्रन्थोंकी परम्परागत हैं जिनका कि धवलामें पाये जानेवाले उद्धरणकी तरह यहाँ भी संग्रह किया गया है । फिर भी यह ध्यान देने योग्य एवं विचारणीय विषय है कि टीकाकारोंने जैसाकि प्रथम गाथाकी मन्दप्रबोधिनी टीकाके इस वाक्यसे कि "परिमाणं अर्थतो अनन्तरूपं, शब्दतो गाथासूत्राणां पंचविंशत्युत्तरा सप्तशती" मालूम होता है कि इस ग्रन्थके गाथाओंकी संख्या ७२५ ही मानी है जबकि वर्तमानमें इस ग्रन्थकी गाथाओंकी संख्या ७३४ पाई जाती है ।

टीकाओंका इतिवृत्त

अबतक इस ग्रन्थपर जो टीकाएँ लिखी गई हैं उनके सम्बन्धका इतिवृत्त भी ज्ञातव्य विषय है । श्रीमान् सि. शा. पं. पन्नालालजी सोनीने इस विषयमें हमारे पास जो परिचय लिखकर भेजा है वह ज्योंका त्यों यहाँ हम पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत कर देना उचित समझते हैं । हम आशा करते हैं कि इस परिचयके द्वारा इस सम्बन्धमें विशिष्ट परिचय मिल सकेगा और अब तक जो भ्रम रहा है—हुआ है या है वह निर्मूल हो सकेगा ।

सोनीजी अपने पत्रमें लिखते हैं कि—

"गोम्मटसारपर चार टीकाएँ हैं । उनका क्रमशः विवरण यह है । पहली टीका चामुण्डराय महाराजकृत है, जो पंजिकास्वरूप है और कन्नड़ भाषामें है । इसका उल्लेख "जा कया देसी" इत्यादिके द्वारा स्वयं आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने किया है । यह मैंने देखी नहीं है । इसका अस्तित्व अब भी कन्नड़ प्रान्तमें सम्भव है ।

दूसरी टीका अभयचन्द्र सैद्धान्तीकृत है। यह संस्कृतमें है, जो अपूर्ण रह गई है, उससे आगे ज्ञानभूषणके शिष्य नेमिचन्द्र आचार्यने केशववर्णिकृत कन्नड़ टीकापरसे पूर्ण की है। इसकी दो तरहकी प्रतियाँ मिलती हैं। कुछ ऐसी जो अपूर्ण रह गई हैं, कुछ ऐसी जिनके साथ नेमिचन्द्र कृत जुड़ी हुई है। इसीपरसे लोग कह देते हैं कि हमारे यहाँ अभयचन्द्र सैद्धान्तिकृत टीका परिपूर्ण है। ज्ञानमार्गणाकी ३७४ वीं गाथामें यह उल्लेख है कि—

"श्रीमदभयचन्द्र सैद्धान्तचक्रवर्तिविहितव्याख्यानं विश्रान्तं इति कर्णाटवृत्यनुरूपमयमनुवदति।"

यहाँपर "कर्णाटवृत्ति" पदसे केशववर्णिकृत कर्णाटवृत्ति और अयं पदसे ज्ञानभूपणशिष्य नेमिचन्द्राचार्यका ग्रहण है। यह कुछ टिप्पणपरसे कुछ पुष्पिकाओंपरसे कुछ कर्मकाण्डकी अन्तस्थ प्रशस्तिपरसे जाना जाता है। यह प्रशस्ति भा. जैन ग्रन्थ प्रकाशिनी संस्थासे प्रकाशित वृहद्-गोम्मटसार कर्मकाण्डमें छप भी चुकी है।

तीसरी टीका केशववर्णीकृत है जो कन्नड़ भाषामें है। इस प्रतिके १०९ पत्र नागरी लिपिमें भवनमें भी सुरक्षित हैं, जो गाथा नं. ३७४ से लेकर सम्यक्त्व मार्गणाके कुछ अंशपर्यन्तके हैं। केशववर्णी अभयचन्द्र सैद्धान्तीके शिष्योंमेंसे एक थे। उनने यह टीका शक सं. १२८१ (वि. सं. १४१६) में पूर्ण की थी। टीकाका नाम जीवतत्त्वप्रदीपिका है।

चौथी टीका ज्ञानभूषणशिष्य नेमिचन्द्राचार्यकृत है। यह परिपूर्ण है और केशववर्णिकृत जीवतत्त्वप्रदीपिकापरसे बनाई गई है, अतएव इसका नाम भी टीकाकर्त्ताने जीवतत्त्वप्रदीपिका ही रखा है। भाषा इसकी संस्कृत है इसका निर्माण वि. सं. १४१६ के बाद और वि. सं. १६०८ के पूर्व किसी समय हुआ है। १४१६ के बाद तो यों कि केशवण टीका १४१६में पूर्ण हुई है। और १६०८ के पूर्व यों कि वि. सं. १६०८ और १६२०के विद्वान् इसका उल्लेख और उद्धरण देते हैं। केशववर्णीकी कन्नड़ टीका परसे यह टीका लिखी गई है। इस विषयमें प्रमाण एक तो इस टीकाका प्रारम्भिक मंगलाचरण है। उसमें "कुर्वे कर्णाटवृत्तितः" पद है। यह कर्णाटवृत्ति केशवर्णिकृत है। इस सम्बन्धमें जीवकाण्डके अन्तस्थ ये दो पाठान्तर हैं—

श्रित्वा कर्णाटिकीं वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृतां।
कृतेयमन्यथा किञ्चित्तद्विशोध्यं वहुश्रुतैः॥
श्रीमत्केशवचन्द्रस्य　　कृतकर्णाटवृत्तितः।
कृतेयमन्यथा किंचित्तद्विशोध्यं वहुश्रुतैः॥

इन दोनों पद्यों परसे स्पष्ट है कि आचार्य नेमिचन्द्रने यह संस्कृत टीका केशववर्णिकृत कर्णाट-वृत्ति परसे रची है। दूसरा प्रमाण कर्मकाण्डकी प्रशस्ति भी है कि यह टीका कर्णाटवृत्ति परसे रची गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आ० नेमिचन्द्रने या तो पहले कर्णाटवृत्ति परसे अभयचन्द्री टीकाको पूर्ण किया है, पश्चात् रहा हुआ अवशिष्ट अंश जोड़कर दूसरी टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके नामसे तैयार की है। या पहले जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तैयार की है पश्चात् जहाँसे अभयचन्द्रीय टीका विश्रान्त हुई है वहाँसे आगे इसी जीवतत्त्वप्रदीपिकाको जोड़ दिया गया है। किन्तु दोनोंकी अन्तिम प्रशस्ति जुदी-जुदी हैं, और कर्मकाण्डमें कहीं-कहीं अन्य विवेचन भी भिन्नरूपताको लिए हुए

है। अस्तु, कुछ भी हो गोम्मटसारपर दो कन्नड़ टीकाएँ और दो ही संस्कृत टीकाएँ इसप्रकार चार टीकाएँ हैं।

पं० टोडरमलजीने भी इस टीकाको अर्थात् नेमिचन्द्रकृत टीकाको केशववर्णिकृत समझ लिया है इसलिये वे इसे केशववर्णिकृत मानते हैं। मालूम पड़ता है इसीपरसे यह नेमिचन्द्रकृत टीका 'केशववर्णीके नामसे' प्रसिद्ध हो गई है। वस्तुवृत्या यह केशववर्णीकृत कर्णाटवृत्तिका अनुवाद है, केशववर्णिकृत नहीं है।"

सोनीजीने ऊपर जिन चार टीकाओंका परिचय दिया है वह यथार्थ है साथही उन्होंने जो पं. टोडरमलजी सा. के नेमिचन्द्रकृत टीकाको केशववर्णीकृत समझ लेनेके भ्रमकी बात लिखी है सो वह भी सत्य ही है। पं. परमानन्दजीने पं. ठोडरमलजी सा. के मोक्षमार्गप्रकाशककी आदिमें जो प्रस्तावना लिखी है उसमें भी यह बात स्वीकार की गई है।

ऊपर जिन चार टीकाओंका उल्लेख किया गया है वे प्रमाणित हैं इनके सिवाय अन्य टीकाओंका पता नहीं लगता। यद्यपि हमने सुना है कि आचार्यकल्प महाविद्वान् पं. आशाधरजी सा. ने भी इस गोम्मटसारपर कोई संस्कृत टीका लिखी है परन्तु जबतक वह उपलब्ध न हो अथवा अन्य किसी प्राचीन उल्लेख आदिके द्वारा समर्थित न हो तबतक उसके विषयमें कुछ भी निश्चित नहीं कहा जा सकता। स्व. पं. गजाधरलालजीके उल्लेखसे भी मालूम होता है कि इनके सिवाय भी संभवतः और भी कोई टीका है। उन्होंने वृहद् गोम्मटसारकी प्रस्तावनामें लिखा है कि "हमारे पासमें जो डेकिन कालेजकी प्रति थी उसमें २०० पृष्ठ किसी अन्य ही संस्कृत टीकाके थे जो उक्त दोनों संस्कृत टीकाओंसे विलक्षण टीका थी।" अस्तु।

ऊपर जिन टीकाओंका उल्लेख किया गया है उन कन्नड़ संस्कृत टीकाओंके अनन्तर पं. टोडरमलजी सा. की इस उपलब्ध एवं प्रकाशित भाषा टीकाका ही नम्बर है जो कि जीवतत्त्व प्रदीपिकाका अनुवाद रूप है।

इसी भाषा टीकाके आधार परसे स्व. ब्र. दौलतरामजीने भाषा पद्यबन्ध रचना की है जिसका कि हमने ऊपर उल्लेख किया है। यह अभी अप्रकाशित है।

स्व. ब्र. सीतलप्रसादजीकी प्रेरणा और सहायतासे स्व. बैरिष्टर जुगमन्दिरदासजीने अंग्रेजीमें भी एक टीका लिखी है जो कि मुद्रित हो चुकी है।

उस्मानाबादके स्व. नेमिचन्द्रजी वकीलने कर्मकाण्डके भाग पर मराठीमें एक सुन्दर रचना की है। यह भी छप चुकी है।

हमने जो यह छात्रोंके उपयोगके लिए छोटीसी टीका लिखी है उसके निमित्तका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

अन्तिम निवेदन और आभार

हमसे इस संशोधनमें जो त्रुटि रही हो उसको ठीक कर लेनेकी विद्वानोंसे अन्तमें हमारी पुनः पुनः प्रार्थना है। क्योंकि अध्येताओंको आगम परम्परागत सत्य एवं यथार्थ तत्त्वकाही बोध

हो यही सर्वथा अभीष्ट है। जिन-जिनने हमको इस कार्यमें सहायता दी है उनके हम अत्यन्त आभारी हैं।

जिस संस्थाके द्वारा यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो रहा है उसके विषयमें कुछ विशिष्ट परिचय भी अन्तमें दे देना उचित प्रतीत होता है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि श्रीमद् राजचन्द्रजी सा. एक संस्कारी प्रबलधारणाशक्तिसे युक्त, तत्त्व-विचारक एवं आधुनिक युगके महान् प्रभावशाली आत्मसाधक व्यक्ति थे। उनका विशेष परिचय अन्यत्र साथमें दिया जा रहा है। श्रीमद्जीकी ही योजना और भावनाको सफल बनानेवाली यह संस्था है कि जिसके द्वारा अब यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है।

श्रीमद्जी सं. १९५६ के भाद्रपदमें जिस समय वढवाण केम्पमें थे, उस समय वीतराग ज्ञानके प्रचारार्थं जो उनकी सर्वोत्तम भावना प्रकट हुई थी वह उनके निम्न उदगारोंसे स्पष्ट ज्ञात होती है।

"परम श्रुतके प्रचाररूप एक योजना की है। उसके प्रचारसे परमार्थ-मार्ग प्रकाशित होगा।"

इस योजनाके ही अनुसार उनके ही हाथसे श्री परमश्रुतप्रभावक मंडलकी स्थापना हुई थी। बादमें उसने श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमालाके नामसे अनेक उत्तम ग्रन्थ-रत्न प्रकट किये थे। परन्तु कितने ही वर्षोंसे मालाकी प्रकाशन-प्रवृत्ति मन्द पड़ गई थी और मंडलका तो कोई अस्तित्व ही नहीं रहा था।

इससे संस्थाके संचालक स्वर्गीय सेठ मणिलाल रेवाशंकरजीके अनुरोधसे गत वर्ष इस आश्रम (श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास) ने ग्रन्थ-प्रकाशनका कार्य अपने हाथमें ले लिया है। परमश्रुतप्रभावक मण्डल-श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमालाके नामसे वीतरागश्रुतके प्रचारकी प्रवृत्ति रहे, इसलिए आश्रमने इस उदार महान् कार्यको अपने ऊपर लिया है। एतदर्थ आश्रम धन्यवादका पात्र है। और यह ग्रन्थ उसीके द्वारा प्रकाशित हो रहा है इसलिए हम उनके आभारी हैं।

इन्द्र भवन–तुकोगंज, इन्दौर
ता० २९–९–१९५९

खूबचन्द जैन

प्रस्तावना

इस ग्रन्थके रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। आपके पवित्र जन्मसे यह भारत भूमि किस सयय अलंकृत हुई यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता; तथापि इतिहासान्वेषी विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें या उसके कुछ पूर्व ही वहुधा आपने अपने भवभंजक उपदेशसे भव्यों-को कृतार्थ किया था यह सिद्ध करते हैं। इस सिद्धिमें जो प्रमाण दिये जाते हैं उनमेंसे कुछका यहाँ-पर संक्षेपमें उल्लेख करते हैं।

वृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने आपका शक संवत् ६०० (वि. सं. ७३५) निश्चित किया है। क्योंकि श्रीनेमिचन्द्रस्वामी तथा श्रीचामुण्डराय दोनोंही समकालीन थे। और श्रीचामुण्डरायके विषयमें 'वाहुवलिचरित' में लिखा है कि :—

'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये वितुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये हस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥ ५५ ॥

अर्थात् शक[1] सं. ६०० में चैत्र शुक्ला ५ रविवारके दिन श्रीचामुण्डरायने श्रीगोम्मटस्वामीकी प्रतिष्ठा की। परंतु यदि दूसरे प्रमाणोंसे इस कथनकी तुलना की जाय तो इसमें बाधा आकर उपस्थित होती है। क्योंकि वाहुवलिचरितमें ही यह बात लिखी हुई है कि देशीयगणके प्रधानभूत श्री अजितसेन मुनिको नमस्कार करके श्री चामुण्डराय ने श्री वाहुवलीकी प्रतिमाके विषयमें वृत्तान्त कहा,' यथा :—

"पश्चात्सोजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरं
स्वस्याधिप्यसुखाब्धिवर्धनशशिश्रीनन्दिसंघाधिपम्।
श्रीमद्भासुरसिंहनंदिमुनिपांघ्र्याम्भोजरोलम्बकं
चानम्य प्रवदत्सुपौदनपुरीश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥"

श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीने भी श्री अजितसेनका स्मरण किया है। और उनको श्रीचामुण्डरायका गुरु वतलाया है। यथा :—

"जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरु जयउ सो राओ ॥"

---

१. यहांपर कल्की शब्दसे जो शकका ग्रहण पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने किया है वह किस तरह किया यह हमारी समझमें नहीं आया।

और भी—"अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारि अजियसेणगुरु ।
भुवणगुरु जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ॥"

अर्थात् वह श्री चामुण्डराय जयवन्ता रहो कि जिसके गुरु अजितसेन नाथमें ऋद्धिप्राप्त गणधर देवादिकोंके गुण पाये जाते हैं ॥ आचार्य श्री आर्यसेनके अनेक गुणोंके समूहको धारण करनेवाले तथा तीन लोकके गुरु **अजितसेन गुरु** जिसके गुरु हैं वह गोम्मट राजा जयवंता रहो ॥

इससे यह बात मालूम होती है कि जिन अजितसेन स्वामीका उल्लेख बाहुबलि चरितमें और गोम्मटसारमें किया गया है वे एक ही हैं । परन्तु ये अजितसेन कब हुए इस बातका कुछ पता श्रवणबेलगोलाके एक शिलालेखसे मिलता है ।

उसमें अजितसेनके विषयमें लिखा है कि :—

गुणाः कुन्दस्पन्दोड्डमरसमरा वागमृतवाः,
प्लवप्रायः प्रेयःप्रसरसरसा कीर्तिरिव सा ।
नखेन्दुज्योत्स्नाङ्घ्रेर्नृपचयचकोरप्रणयिनी,
न कासां श्लाघानां पदमजितसेनो व्रतिपतिः ॥

यह शिलालेख करीब ग्यारहवीं शदीका खुदा हुआ है । इससे मालूम होता है कि श्री अजितसेन स्वामी ग्यारहवीं शदीके पूर्व हुए हैं, और उसी समय श्री चामुण्डराय भी हुए हैं । परन्तु पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित 'चन्द्रप्रभचरितकी भूमिका'में श्री चामुण्डरायके परिचयमें लिखा है कि कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रन्नने शक सम्वत् ९१५ में 'पुराणतिलक' नामक ग्रन्थकी रचना की है और उसने अपनेको रवकस गंगराजका आश्रित बतलाया है । चामुण्डरायकी भी अपनेपर विशेष कृपा रहनेका वह जिकर करता है । इससे मालूम होता है कि शक सं. ९१५ या विक्रम सं. १०५० के लगभग ही श्री चामुण्डराय और श्री अजितसेन स्वामी हुए हैं ।

गोमट्टसारकी श्री चामुण्डरायकृत एक कर्नाटक वृत्ति श्रीनेमिचन्द्र सि. चक्रवर्तीके समक्ष ही बन चुकी थी । उसीके अनुसार श्री केशवर्णिकृत संस्कृत टीका भी है । उसकी आदिमें लिखा हुआ है कि :—

'श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यंतरनिवासिप्रवादिसिंधुरसिंहायमान-सिंहनंदिनन्दितगंगवंशललाम—राजसर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेय—श्रीमद्राजमल्लदेवमहीवल्लभमहामात्यपदविराजमान—रणरंगमल्लासहायपराक्रम—गुणरत्नभूषण—सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविविधगुणनामसमासादितकीर्तिकांत—श्रीमच्चामुंडरायप्रश्नावतीर्णैकचत्वारिंशत्पदनामसत्वप्ररूपणद्वारेणाशेषविनेयजननिकुरंवसंबोधनार्थं श्रीमन्नेमिचंद्रसैद्धान्तिक-चक्रवर्ती समस्तसैद्धान्तिकजनप्रख्यातविशदयशाः विशालमतिरसौ भगवान्... ... ... गोमट्टसारपंचसंग्रहप्रपंचमारचंयस्तदादौ निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तिनिमित्तं ... ... देवताविशेषं नमस्करोति ।

राजमल्ल और रक्कस गंगराज ये दोनों ही भाई थे। उपर्युक्त गोम्मटसारकी पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि राजमल्ल चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती तीनोंही समकालीन हैं। राजमल्लका समय विक्रमकी ग्यारहवीं सदी निश्चित की जाती है। अतएव स्वयं सिद्ध है कि यही समय चामुण्डराय तथा श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तीका भी होना चाहिये।

नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्तीने कई जगह वीरनंदि आचार्यका स्मरण किया है। यथा :—

"जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदिगुरुं॥"
"णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं।"
"णमह गुणरयणभूसणसिद्धंतामियमहद्धिभवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं॥"

इन्हीं वीरनंदिका स्मरण वादिराज सूरीने भी किया है। यथा :—

चन्द्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनंदिनः॥ (पार्श्वनाथकाव्य श्लो. ३०)

वादिराज सूरीने पार्श्वनाथ काव्यकी पूर्ति शक सं० ९४७ में की है यह उसीकी अन्तिम प्रशस्तिके इस पद्यसे मालूम होता है।

"शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने,
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया,
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये॥"

अर्थात् 'शक सम्वत् ९४७ (क्रोधन सम्वत्सर) की कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पार्श्वनाथ काव्य पूर्ण किया।' इस कथनसे यद्यपि यह मालूम होता है कि वीरनंदि आचार्य शक संवत् ९४७ के पहले ही हो चुके हैं, तथापि जब कि वीरनंदी आचार्य स्वयं अभयनंदीको गुरु स्वीकार करते हैं और नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती भी उनको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि वीरनंदि और नेमिचन्द्र दोनों ही समकालीन हैं।

गोमट्टसारकी गाथाओंका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें भी मिलता है। यथा :—

"विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥" (६६५)

हृदयंगत करें, और यदि कुछ निःसारता या विपरीतता मालूम पड़े तो उसे मेरी कृति समझें, और मेरी अज्ञानतापर क्षमा प्रदान करें।

यह टीका स्व. श्रीमान् रायचन्द्रजी द्वारा स्थापित 'परमश्रुतप्रभावकमण्डल'की तरफसे प्रकाशित की गई है। अतएव उक्त मण्डल तथा उसके ऑनरेरी व्यवस्थापक शा. रेवाशंकर जगजीवनदासजीका साधुवादन करता हूँ।

इस तुच्छ कृतिको पढ़नेके पूर्व "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसंति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः" इस श्लोकके अर्थको दृष्टिपथ करनेके लिए विद्वानोंसे प्रार्थना करनेवाला—

७–७–१९१६ ई.

२ रा पींजरापोल–वम्बई नं. ४

खूबचन्द जैन

वेरनी (एटा) निवासी

इस ग्रन्थका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है। क्योंकि इसमें महाकर्मप्राभृतके सिद्धान्तसम्बन्धी जीवस्थान क्षुद्रबन्ध बन्धस्वामी वेदनाखण्ड वर्गणाखण्ड इन पाँच विषयोंका वर्णन है। मूलग्रन्थ प्राकृत में लिखा गया है। यद्यपि मूल लेखक श्रीयुत नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्ती ही हैं; तथापि कहीं-कहीं पर कोई-कोई गाथा माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवने भी लिखी है, यह टीकामें दी हुई गाथाओंकी उत्थानिकाके देखनेसे मालूम होती है। माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव श्री नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्तीके प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। मालूम होता है कि तानविद्याओंके अधिपति होनेके कारण ही आपको त्रैविद्य-देवका पद मिला होगा। इससे पाठकोंको यह भी अन्दाज कर लेना चाहिये कि श्री नेमिचन्द्र सि. चक्रवर्तीकी विद्वत्ता कितनी असाधारण थी।

इस ग्रन्थराजके ऊपर अभी तक चार टीका लिखी गई हैं। जिनमें सबसे पहले एक कर्नाटक वृत्ति बनी है। उसके रचयिता ग्रन्थकर्ताके अन्यतम शिष्य श्रीचामुण्डराय हैं। इसी टीकाके आधार-पर एक संस्कृत टीका बनी है, जिसके निर्माता केशववर्णी हैं, और यह टीका भी इसी नामसे प्रसिद्ध है। दूसरी संस्कृत टीका श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी बनाई हुई है जो कि 'मंदप्रबोधिनी' नामसे प्रसिद्ध है। उपर्युक्त दोनों टीकाओंके आधारसे श्रीमद्विद्वर टोडरमल्लजीने 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामकी हिन्दी टीका बनाई है। उक्त कर्नाटक वृत्तिके सिवाय तीनों टीकाओंके आधारपर यह संक्षिप्त बालबोधिनी टीका लिखी है। 'मंदप्रबोधिनी' हमको पूर्ण नहीं मिल सकी इसलिए जहाँतक मिल सकी वहाँतक तीनों टीकाओंके आधारसे और आगे 'केशववर्णी' तथा 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिकाके आधारसे ही हमने इसको लिखा है।

इस ग्रन्थके दो भाग हैं—एक जीवकाण्ड दूसरा कर्मकाण्ड। जीवकाण्डमें जीवकी अनेक अशुद्ध अवस्थाओंका या भावोंका वर्णन है। कर्मकाण्डमें कर्मोंकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है। कर्मकाण्ड-की संक्षिप्त हिन्दी टीका श्रीयुत पं. मनोहरलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित इसी ग्रन्थमालाके द्वारा पहले प्रकाशित हो चुकी है। जीवकाण्ड संक्षिप्त हिन्दी टीका अभीतक नहीं हुई थी। अतएव आज विद्वानोंके समक्ष उसीके उपस्थित करनेका मैंने साहस किया है।

जिस समय श्रीयुत प्रातःस्मरणीय न्यायवाचस्पति स्याद्वादवारिधि वादिगजकेसरी गुरुवर्य पं. गोपालदासजीके चरणोंमें मैं विद्याध्ययन करता था उसी समय गुरुकी आज्ञानुसार इसके लिखने-का मैंने प्रारम्भ किया था। यद्यपि इसके लिखनेमें प्रमाद या अज्ञानवश मुझसे कितनी ही अशुद्धियाँ रह गई होंगी; तथापि सज्जन पाठकोंके गुणग्राही स्वभावपर दृष्टि देनेसे इस विषयमें मुझे अपने उपहासका बिलकुल भय नहीं होता। ग्रन्थके पूर्ण करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ था, तथापि किसी भी तरह जो मैं इसको पूर्ण कर सका हूँ उसका कारण केवल गुरुप्रसाद है। अतएव इस कृतज्ञताके निदर्शनार्थ गुरुके चरणोंका चिरंतन चिंतवन करना ही श्रेय है।

प्राचीन टीकाएँ समुद्रसमान गम्भीर हैं—सहसा उनका कोई अवगाहन नहीं कर सकता। जो अवगाहन नहीं कर सकते उनके लिए कुल्याके समान इस क्षुद्र टीकाका निर्माण किया है। आशा है कि इसके अभ्याससे प्राचीन सिद्धान्त तितोर्पुओंको अवश्य कुछ सरलता होगी। पाठकोंसे यह निवेदन है कि यदि इस कृतिमें कुछ सार भाग मालूम हो तो उसे मेरे गुरुका समझ

हृदयंगत करें, और यदि कुछ निःसारता या विपरीतता मालूम पड़े तो उसे मेरी कृति समझें, और मेरी अज्ञानतापर क्षमा प्रदान करें।

यह टीका स्व. श्रीमान् रायचन्द्रजी द्वारा स्थापित 'परमश्रुतप्रभावकमण्डल'की तरफसे प्रकाशित की गई है। अतएव उक्त मण्डल तथा उसके ऑनरेरी व्यवस्थापक शा. रेवाशंकर जगजीवनदासजीका साधुवादन करता हूँ।

इस तुच्छ कृतिको पढ़नेके पूर्व "गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसंति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः" इस श्लोकके अर्थको दृष्टिपथ करनेके लिए विद्वानोंसे प्रार्थना करनेवाला—

७-७-१९१६ ई.
२ रा पींजरापोल-बम्बई नं. ४

खूबचन्द जैन
वेरनी (एटा) निवासी

अलौकिक अध्यात्मज्ञानी परमतत्त्ववेत्ता

श्रीमद्राजचन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्'

हा ! सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनूंकी भाँति कहीं-कहीं चमकते हैं, दृष्टिगोचर होते हैं।

—आशाधर।

महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) को कार्तिकी पूर्णिमाके शुभदिन रविवारको रात्रिके २ बजे हुआ था। यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरवीके निकट है।

इनके पिताका नाम श्रीरवजीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देववाई था। आप लोग वहुत भक्तिशील और सेवा-भावी थे। साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग; गरीबोंको अनाज कपड़ा देना; वृद्ध और रोगियोंकी सेवा करना इनका सहज-स्वभाव था।

श्रीमद्जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनंदन' था। वादमें यह नाम वदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए यथार्थ मुक्तिमार्गकी दिशामें प्रवल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है। वे तीव्र क्षयोपशमवान और आत्मज्ञानी सन्तपुरुष थे, ऐसा निस्संदेहरूपसे मानना ही पड़ता है। उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सूचक है।

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे, जब कि उनकी माताके जैनसंस्कार थे। श्रीमद्जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तकें पढ़नेको मिलीं। इन धर्म-पुस्तकोंमें अत्यन्त विनयपूर्वक जगतके सर्व जीवोंसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है। इस परसे श्रीमद्जीकी प्रीति जैनधर्मके प्रति बढ़ने लगी। यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है। तत्पश्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर वैठने लगे। अपने अक्षरोंकी छटाके कारण जब-जब उन्हें कच्छ दरवारके महलमें लिखनेके लिए बुलाया जाता था, तब-तब वे वहाँ जाते थे। दुकानपर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढ़ीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रचीं, सांसारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा अथवा किसीको कम-ज्यादा तौलकर नहीं दिया।

इस बातका बालकको पता चलेगा तो डर जायगा अतः उनका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करनेके लिए दादाजीने उन्हें भोजन कर लेनेको कहा और इधर-उधरकी दूसरी बातें करने लगे। परन्तु, बालक राजचन्द्रने मर जानेके बारेमें प्रथमबार ही सुना था इसलिए विशेष जिज्ञासापूर्वक वे पूछ बैठे : 'मर जानेका क्या अर्थ है ?' दादाजीने कहा—'उसमेंसे जीव निकल गया है। अब वह चलना-फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, इसलिए उसे तालाबके पास श्मशान भूमिमें जला देवेंगे।' इतना सुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरमें इधर-उधर घूमते रहे, बादमें चुपचाप तालाबके पास गये और वहाँ बबूलके एक वृक्षपर चढ़कर देखा तो सचमुच कुटुम्बके लोग उसके शरीरको जला रहे हैं। इस प्रकार एक परिचित और सज्जन व्यक्तिको जलाता देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे विचारने लगे कि यह सब क्या है ! उनके अन्तरमें विचारोंकी तीव्र खलबली-सी मच गई और वे गहन विचारमें डूब गये। इसी समय अचानक चित्तपरसे भारी आवरण हट गया और उन्हें पूर्व भवोंकी स्मृति हो आई। बादमें एक बार वे जूनागढ़का किला देखने गये तब पूर्व-स्मृतिज्ञानकी विशेष वृद्धि हुई[1]। इस पूर्व-स्मृतिरूप-ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन—अध्याय जोड़ा। श्रीमद्जीकी पढ़ाई विशेष नहीं हो पाई थी फिर भी, वे संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंके ज्ञाता थे एवं जैन आगमोंके असाधारण वेत्ता और मर्मज्ञ थे। उनकी क्षयोपशम-शक्ति इतनी विशाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मर्म बड़े-बड़े विद्वान् लोग नहीं बता सकते थे उसका यथार्थ विश्लेषण उन्होंने सहजरूपमें किया है[2]। किसी भी विषयका सांगोपांग विवेचन करना उनके अधिकारकी बात थी[3]। उन्हें अल्प-वयमें ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिखा है—

> लघुवयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञाननो बोध।
> ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां शोध ?
> जे संस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे कांय,
> विना परिश्रम ते थयो, भवशंका शी त्यांय ?

—अर्थात् छोटी अवस्थामें मुझे अद्भुत तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है ? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते हैं वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये हैं, फिर वहाँ भवशंकाका क्या काम ? (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है।)

अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

श्रीमद्जीकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीव्र थी। वे जो कुछ भी एक बार पढ़ लेते, उन्हें ज्यों का त्यों याद रह जाता था। इस स्मरणशक्तिके कारण वे छोटी अवस्थामें ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे वे सौ अवधान तक पहुँच गये थे। वि० सं० १९४३ में १९ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने

१. इस प्रसंगकी चर्चा कच्छके एक वणिक बंधु पदमशीभाई ठाकरशीके पूछनेपर बम्बईमें भूलेश्वरके दि० जैन मन्दिरमें सं० १९४२ में श्रीमद्जीने की।

२. देखिए पं० बनारसीदासजीके 'समता रमता उरधता०' पद्यका विवेचन 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्रांक ४ ८।

३. आनंदघन चौबीसीके कुछ पद्योंका विवेचन उपरोक्त ग्रन्थमें पत्रांक ७५३।

वम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनके सभापतित्वमें सौ अवधानोंका प्रयोग बनाकर बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया, साथही 'साक्षात् सरस्वती' के पदसे भी विभूषित किया था। ई० सन् १८८६-८७ में 'मुंबई समाचार', 'जामे जमशेद', 'गुजराती', 'पायोनियर', 'इण्डियन स्पॅक्टेटर', 'टाइम्स ऑफ इण्डिया', आदि गुजराती एवं अंग्रेजी पत्रोंमें श्रीमद्‌जीकी अद्‌भुत शक्तियोंके बारेमें भारी प्रशंसात्मक लेख छपे थे। शतावधानमें शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़, बाकी, गुणा करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओंकी पूर्ति करते जाना, सोलह भाषाओंके भिन्न-भिन्न क्रमसे उलटे-सीधे नम्बरों के साथ शब्दोंको याद रखकर वाक्य बनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना, कितने ही अलंकारोंका विचार करते जाना, इत्यादि सौ कामोंको एक ही साथ कर सकते थे।

श्रीमद्‌जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें ही उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ़कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखोंपर पट्टी बाँधकर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथपर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्‌जीकी इस अद्भुतशक्तिसे प्रभावित होकर उस समयके बम्बई हाइकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजंटने उन्हें विलायत चलकर अवधान-प्रयोग दिखानेकी इच्छा प्रकट की थी, परन्तु श्रीमद्‌जीने इसे स्वीकार नही किया। उन्हें कीर्त्तिकी इच्छा नहीं थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्तियोंको आत्मकल्याणके मार्गमें बाधक जानकर फिर उन्होने अवधान-प्रयोग नहीं किये।

महात्मा गांधीने कहा था—

महात्मा गांधीने उनकी स्मरणशक्ति और आत्मज्ञानसे जो अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की वह संक्षेपमें

यतकी हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।…………कविके साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा…………कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

मुझपर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचंदभाई! टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्द्रभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करने वाले रायचन्द्रभाई थे। सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्क में आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य-धर्मियोंको क्रिश्चियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको लेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने मेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्तव्य समझ सका कि जब तक मैं हिन्दूधर्मके रहस्यको पूरी तौरसे न जान लूँ और उससे मेरे आत्माको असंतोष न हो जाय, तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिये। इसलिये मैंने हिन्दूधर्म और अन्य धर्मोंकी पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और इस्लामधर्मकी पुस्तकें पढ़ीं। विलायतसे अंग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकायें रक्खीं तथा हिन्दुस्तानमें जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया। उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसलिए उनसे जो भी मिल सके उसे लेनेका मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शान्ति मिली। हिन्दूधर्ममें मुझे जो चाहिये वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ। मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचन्द्रभाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिये इसका पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उनके प्रवल आत्मज्ञानके प्रभावके कारण ही महात्मा गांधीको सन्तोष हुआ और उन्होंने धर्मपरिवर्तन नहीं किया।[1]

और भी वर्णन करते हुये गांधीजीने उनके बारेमें लिखा है :

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके बिन्दु समान हैं। उन्हें पढ़नेवाले, विचारनेवाले और उसके अनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होवे। उसकी कषायें मन्द पड़ें, उसे संसारमें उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी बने।

इस परसे वाँचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं। सभी वाँचक उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सत् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेशा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिए एक भी अक्षर नहीं लिखा। लिखनेका अभिप्राय वाँचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार बनानेका था। जिसे आत्मक्लेश टालना है, जो अपना कर्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे बहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विश्वास है, फिर भले वह हिन्दू हो या अन्य धर्मी।

····जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंमें झलक रहा

---

१. श्रीमद्जी द्वारा म० गांधीको उनके प्रश्नोंके उत्तरमें लिखे गये कुछ पत्र, क्र० ५३०, ५७०, ७१७ 'श्रीमद्राजचन्द्र'—ग्रंथ (गुजराती)

है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा था। उनके लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा.......।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगत्के किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुये भी ये अपने विचारमें ग्रस्त हैं। आँखोंमें चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमें एकाग्रता थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक नोंकदार भी नहीं चपटी भी नहीं, शरीर इकहरा, कद मध्यम, वर्ण श्याम, देखाव शांत मूर्तिका-सा था। उनके कण्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नहीं। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिसपर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी शब्द ढूँढ़ना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठें उस समय कदाचित् ही मैंने उन्हें शब्द बदलते देखा होगा, फिर भी पढ़नेवालेको ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोंके चुनावमें कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभवित है। बाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुषार्थ करनेवाला जानता है कि रागरहित होना कितना कठिन है। यह रागरहित दशा कवि (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्ष की प्रथम पैड़ी वीतरागता है। जबतक मन जगत्की किसी भी वस्तुमें फँसा हुआ है तबतक उसे मोक्षकी बात कैसे रुचे ? और यदि रुचे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोंको अर्थ जाने या समझे बिना किसी संगीतका स्वर रुच जाय वैसे। मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीड़ामेंसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमें तो बहुत समय निकल जाय! अंतरंग वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। वैराग्यका तीव्र भाव कविमें था।

"....व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।"

श्रीमद्‌जी गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी दशा, छहढालाकार पं० दौलतरामजीके शब्दोंमें 'गेही पै, गृहमें न रचै ज्यौं जलतैं भिन्न कमल है'—जैसी निर्लेप थी। उनकी इस अवस्थामें भी यही मान्यता रही कि "कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठड़ीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है[1]।" फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी सँभाल रखकर चलें। यहाँ उनके अन्तरके भाव एक मुमुक्षुको लिखे गये पत्रमें इस प्रकार व्यक्त हुए हैं—'संसार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचन सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उसने किये नहीं ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।' 'ज्ञानी पुरुषके वचन सुननेके बाद स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूप भास्यमान हुए बिना रहे नही[2]।' इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वैरागी महापुरुष थे।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्रायः कम बैठता है, परन्तु आपका धर्म—आत्म-चिन्तन तो साथमें ही चलता था। वे कहते थे कि धर्मका पालन कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूषणमें ही अथवा मन्दिरों में ही हो और दुकान या दरबारमें न हो ऐसा कोई नियम नहीं, वल्कि ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है। श्रीमद्‌जीके पास दुकान पर कोई न कोई धार्मिक पुस्तक और दैनन्दिनी (डायरी) अवश्य होती थी। व्यापारकी बात पूरी होते ही फौरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर उनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके विचार वे लिखते ही रहते थे। उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश भाग उनकी नोंधपोथीमेंसे लिया गया है।

श्रीमद्‌जी सर्वाधिक विश्वासपात्र व्यापारीके रूपमें प्रसिद्ध थे। वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे। इतना बड़ा व्यापारिक काम करते हुए भी उसमें उनकी आसक्ति नहीं थी। वे बहुत ही सन्तोषी थे। रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे। धनको तो वे 'उच्च प्रकारके कंकर'[3] मात्र समझते थे।

एक अरब व्यापारी अपने छोटे भाईके साथ बम्बईमें मोतियोंकी आढ़तका काम करता था। एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने बड़े भाईकी तरह मोतीका व्यापार करूँ। वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर बाजारमें गया। वहाँ जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्‌जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा। श्रीमद्‌जीने माल अच्छी तरह परखकर देखा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्यौंका त्यौं माल एक ओर उठाकर रख दिया। उधर घर पहुँचकर बड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी बात कह सुनाई। अब जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस अरब व्यापारीके पास उसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत बेचना। जो भाव उसने लिखा था वह चालू बाजार-भावसे बहुत ही ऊँचा था। अब यह व्यापारी तो घबरा गया क्योंकि इसे इस सौदेमें

१. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० १०३
२. 'श्रीमद्‌राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र क्र० ४५४
३. 'ऊँची जातना कांकरा'

बहुत अधिक नुकसान था। वह क्रोधमें आकर बोल उठा—'अरे! तूने यह क्या किया? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा!'

अरब-व्यापारी हाँफता हुआ श्रीमद्‌जीके पास दौड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पत्र पढ़वाकर कहा—'साहब, मुझ पर दया करो, वरना मैं गरीब आदमी बरबाद हो जाऊँगा।' श्रीमद्‌जीने एक ओर ज्यों का त्यों बँधा हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है। तुम खुशीसे ले जाओ।' यों कहकर उस व्यापारीका माल उसे दे दिया और अपने पैसे ले लिये। मानो कोई सौदा किया ही नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभको भी कोई परवाह नहीं की। अरब-व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया। वह अरब व्यापारी श्रीमद्‌को खुदाके पैगम्बरके समान मानने लगा।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापिस लेनेका अधिकारी नहीं था, परन्तु श्रीमद्‌जीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो। सचमुच महात्माओंका जीवन उनकी कृतिमें व्यक्त होता ही है।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलन्त उदाहरण है:

एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्‌जीने हीरोंका सौदा किया। इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्‌को अमुक हीरे दे। इस विषयकी चिट्ठी भी व्यापारीने लिख दी थी। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंकी कीमत बहुत अधिक बढ़ गई। यदि व्यापारी चिट्ठीके अनुसार श्रीमद्‌को हीरे दे, तो उस बेचारेको बड़ा भारी नुकसान सहन करना पड़े; अपनी सभी सम्पत्ति बेच देनी पड़े! अब क्या हो?

इधर जिस समय श्रीमद्‌जीको हीरोंका बाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे शीघ्र ही उस व्यापारीकी दुकानपर जा पहुँचे। श्रीमद्‌जीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घबराहटमें पड़ गया। वह गिड़गिड़ाते हुए बोला—'रायचंदभाई, हम लोगोंके बीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मैं खूब ही चिन्तामें पड़ गया हूँ। मेरा जो कुछ होना हो वह भले हो, परन्तु आप विश्वास रखना कि मैं आपको आजके बाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा। आप जरा भी चिन्ता न करें।'

यह सुनकर राजचन्द्रजी करुणाभरी आवाजमें बोले: "वाह! भाई, वाह! मैं चिन्ता क्यों न करूँ? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये? परन्तु हम दोनोंकी चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न? यदि इसको ही फाड़कर फेंक दें तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायगी।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावसे वह दस्तावेज फाड़ डाला। तत्पश्चात् श्रीमद्‌जी बोले: "भाई इस चिट्ठीके कारण तुम्हारे हाथपाँव बँधे हुए थे। बाजारभाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ सत्तर हजार रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं!"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमद्‌की ओर स्तब्ध होकर देखता ही रहा।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्‌जीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीजूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने स

मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था[१]। एक बार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्वदिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सन्निपात हुआ है।' इस वर्ष १९५५ का चौमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ में भयकर दुष्काल पड़ा। वे दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमें—'स्त्रीनीतिबोधक', 'सद्बोधशतक', 'आर्य प्रजानी पडती', 'हुन्नरकला वधारवा विषे', 'सद्गुण, सुनीति, सत्यविषे' आदि अनेक रचनाएँ केवल ८ वर्षकी वयमें लिखी थीं, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि' (१४२ दोहे) 'अमूल्य तत्त्वविचार', 'भक्तिना वीस दोहरा', 'ज्ञानमीमांसा', 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर) 'मूळमार्ग रहस्य', 'जिनवाणीनी स्तुति', 'बारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' हैं। अन्य भी बहुत-सी रचनाएँ हैं, जो भिन्न-भिन्न वर्षोंमें लिखी हैं।

'आत्मसिद्धि'—शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेढ़ घंटेमें, श्री सौभागभाई, डूंगरभाई आदि मुमुक्षुओंके हितार्थ नडियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) गुरुवार, सं० १९५२ को २९ वें वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्संदेह धर्ममार्गकी प्राप्तिमें प्रकाशरूप अद्भुत रचना है। अंग्रेजीमें भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रकट हो चुके हैं[२]।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्जीने 'पुष्पमाला', 'भावनाबोध' 'और 'मोक्षमाला' की रचना की। यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ पाठ हैं। कथनका प्रकार विशाल और तत्त्वपूर्ण है।

उनकी अर्थ करनेकी शक्ति भी बड़ी गहन थी। भगवत्कुन्द-कुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय'—ग्रन्थको मूल गाथाओंका उन्होंने अविकल गुजराती अनुवाद किया है।[३]

सहिष्णुता

विरोधमें भी सहनशील होना महापुरुषोंका स्वाभाविक गुण है। यह बात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोंने उनका प्रबल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे अटल शांत और मौन रहे। उन्होंने एक बार कहा था : 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तब

१. देखिये—दैनिक नोंधसे लिया गया कथन, पत्र क्र० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजचन्द्र' गुजराती)।

२. 'आत्मसिद्धि' के अंग्रेजी अनुवादमें Atmasiddhi, Self Realization, और Self Fulfilment प्रकट हुए हैं। संस्कृत-छाया भी छपी है।

३. देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' गुज० पत्रांक ७६६। उनकी सभी प्रमुख—सामग्रीका संकलन 'श्रीमद्राजचन्द्र' ग्रन्थमें किया गया है।

कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े वह भी कम; और ज्ञानीके मरनेके बाद उसके नामके पत्थरकी भी पूजे !'

एकान्तचर्या

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योग-रत जीवनमें शांत और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्म-साधना करना उनके लिये सहज हो चला था; फिर भी बीच-बीचमें विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर बहुत गुप्त-रूपसे जाते थे। वे नहीं चाहते थे कि किसीके परिचयमें आया जाय, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशमें तथा सौराष्ट्र क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोंमें उनका गमन हुआ। आपके समागमका विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद् लघुराजस्वामी), मुनिश्री देवकरणजी तथा सायलाके श्री सौभागभाई, अम्बालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अहमदाबाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक बार श्रीमद्जी सं० १९५५ में जब कुछ दिन ईडरमें रहे तब उन्होंने डॉ० प्राणजीवन-दास महेता (जो उस समय ईडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्बन्धकी दृष्टिसे उनके श्वसुरके भाई होते थे) से कह दिया था कि उनके आनेकी किसीको खबर न हो। उस समय वे नगरमें केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही रुकते, शेष समय ईडरके पहाड़ और जंगलों-में बिताते।

आधा घण्टे तक वे गाथायें बोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गए। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर बाद श्रीमद्जी ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते बने। मुनियोंने विचारा कि लघुशंकादि निवृत्तिके लिए जाते होंगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँढ़कर मुनिगण उपाश्रयमें आ गये।

उसी दिन शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्जीने पहाड़के ऊपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोंके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग-जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात् तीन दिन और भी श्रीमद्जीके सत्समागमका लाभ उन्होंने उठाया, जिसमें श्रीमद्जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'आत्मानुशासन'—ग्रन्थ पूरे पढ़कर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये एवं अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया।

अत्यन्त जाग्रत आत्मा ही परमात्मा बनता है, परम वीतरागदशाको प्राप्त होता है। इन्हीं अन्तरभावोंके साथ आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष्य कराते हुए एक बार श्रीमद्जीने अहमदाबादमें मुनिश्री लल्लुजी [पू० लघुराजस्वामी] तथा श्रीदेवकरणजीको कहा था कि 'हममें और वीतरागमें भेद गिनना नहीं, हममें और श्री महावीर भगवानमें कुछ भी अन्तर नहीं, केवल इस कुर्तेका फेर है।'

मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर

उनका कहना था कि मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर रहने पर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है। मतोंके आग्रहसे निज स्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी भी जाति या वेषके साथ भी धर्मका सम्बन्ध नहीं।

"जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ति लहे, एमाँ भेद न कोय॥" (आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेषसे मोक्ष होवे, इसमें कुछ भेद नहीं है। जो साधना करे वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है—"मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला १४, पृ० ४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर[1]।" (पु० मा० १५, पृ० ४)

"दुनिया मतभेदके बंधनसे तत्त्व नहीं पा सकी!" (पत्र क्र० २७)

---

२. जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं ज्झाणं॥ ५५॥

३. मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किं वि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥ ५६॥ (द्रव्यसंग्रह)

—श्रीमद्जीने यह 'बृहद्द्रव्यसंग्रह'-ग्रन्थ ईडरके दि० जैन शास्त्र भण्डारमेंसे स्वयं निकलवाया था।

१. देखिए इसीप्रकारके विचार—पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥ (हरिभद्रसूरि)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह महेता आदि सन्तोंकी वाणीकी जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसलिए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रकट की है कि 'मैं किसी गच्छमें नहीं, परन्तु आत्मामें हूँ।'

एक पत्रमें आपने दर्शाया है—"जब हम जैनशास्त्रोंको पढ़नेके लिए कहें तब जैनी होनेके लिए नहीं कहते; जब वेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहें तो वेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसी-प्रकार अन्य शास्त्रोंको बांचनेके लिए कहें तब अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश-ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और वेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसा नहीं है[1]।"

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निर्ग्रन्थशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है[2]। अहो! सर्वोत्कृष्ट शांतरसमय सन्मार्ग, अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो! उस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्गुरुदेव—इस विश्वमें सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो, जयवंत वर्तो[3]।'

दिनोंदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली। चैतन्यपुंज निखर उठा। वीतराग-मार्गकी अविरल उपासना उनका ध्येय बन गई। वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये—"जहाँ-तहाँसे रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है[4]।"

निर्मल सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्गार इस प्रकार निकले हैं—

ओगणीससें ने सुडतालीसे,
समकित शुद्ध प्रकाश्युं रे,
श्रुत अनुभव वधती दशा,
निज स्वरूप अवभास्युं रे।
धन्य रे दिवस आ अहो!
(हा० नों० १।६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रकटन।

"हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार हो। इस अनादि अनन्त संसारमें अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय बिना अनन्त अनंत दुःख अनुभवते हैं। तेरे परमानुग्रहसे स्वस्वरूपमें रुचि हुई। परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय आया। कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे जिन वीतराग! तुम्हें अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। तुमने इस पामरपर अनंत अनन्त उपकार किया है।

---

१. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ३५८।
२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' शिक्षापाठ ९५ (तत्त्वावबोध १४) तथा पत्र क्र० ५९६।
३. हाथनोंध ३।५२ क्रम २३ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०)।
४. पत्र क्र० ३७ 'श्रीमद्राजचन्द्र'।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। इसके लिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

हे श्री सोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः तुझे नमस्कार करता हूँ।" (हा. नों. २।४५ क्र० २०)

परमनिवृत्तिरूप कामना। चिंतना—

उनका अन्तरङ्ग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटाने लगा। उनका यह अन्तरआशय उनकी 'हाथनोंध' परसे स्पष्ट प्रकट होता है—

"हे जीव ! असारभूत लगनवाले ऐसे इस व्यवसायसे अव निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसाय-के करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दीखता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारब्ध भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीव्ररूपमें विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा० नो० १।१०१ क्र० ४४)

"हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर ! जिस ज्ञानदशामें त्यागात्याग कुछ सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशाकी सिद्धि है जिसमें ऐसा तू, सर्वसंगत्याग दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमें वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है; कारण कि ऋषभादि सर्व परमपुरुषोंने अन्तमें ऐसा ही किया है।" (हा. नों. १।१०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।" (हा. नों. २।३ क्र० १)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवधूतवत्-विदेहीवत् जिनकल्पीवत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।" (हा. नों. ३।३७ क्र० १४)

"मैं एक हूँ, असंग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ। अजन्म, अजर, अमर, शाश्वत हूँ। स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ। शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दृष्टा हूँ। (हा. नों. ३।२९ क्र० ११)

"मैं परमशुद्ध, अखंड चिद्धातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह अभास तो देखो ! आश्चर्य-वत्, आश्चर्य रूप, घटना है। कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नहीं, स्थिति भी ऐसी ही है।" (हा. नों. २।३७ क्र० १७)

इसप्रकार अपनी आत्मदशाको सँभालकर वे बढ़ते रहे। आपने सं० १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता गया। उदय बलवान है। शरीरको रोगने आ घेरा। अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। इसी विवशतामें उनके हृदयकी गंभीरता बोल उठी : "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिसप्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया

जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्‌भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है[1]।"

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको आपने छोटे भाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चिंत रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शान्ति और समाधिरूपसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको २॥ बजे वे फिर बोले—'निश्चिंत रहना, भाईका समाधिमरण है। और अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा: 'मनसुख, दुखी न होना, मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।' और अन्तमें उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोड़कर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्वज्ञानी सन्तको खो बैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओंके चित्त उदास हो गये। वसंत मुरझा गया। निस्संदेह श्रीमद्‌जी विश्वकी एक महान् विभूति थे। उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है। धर्मजिज्ञासु बन्धु उनके वचनोंका लाभ उठावें!

श्री लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) ने उनके प्रति अपना हृदयोद्‌गार इन शब्दोंमें प्रगट किया है: "अपरमार्थमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयाँके प्रसंग दिखाकर इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं।" "संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करे ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलंबन हैं।" "परम माहात्म्यवंत सद्‌गुरु श्रीमद्‌राजचन्द्र देवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है, या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।[2]

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

सं० १९५६ में [3]सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्‌जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसीके तत्त्वावधानमें उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीराजचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिसकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश और योगसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, इष्टोपदेश, प्रशमरतिप्रकरण, न्यायावतार,

---

१. 'श्रीमद् राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

२. 'श्रीसद्‌गुरुप्रसाद' पृ० २, ३।

३. श्रीमद्‌जीद्वारा निर्देशित सत्श्रुतरूप ग्रन्थोंकी सूचीके लिये देखिए, 'श्रीमद्‌राजचन्द्र'—ग्रन्थ (गुज०) उपदेशनोंध क्र० १५।

स्याद्वादमञ्जरी, अष्टप्राभृत, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णव, वृहद्द्रव्यसंग्रह, पंचास्तिकाय, लब्धिसार—क्षपणासार, द्रव्यानुयोगतर्कणा, सप्तभंगीतरंगिणी, उपदेशछाया और आत्मसिद्धि, भावना-बोध, श्रीमद्राजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सब काम अगाससे ही होता है। विक्रयकेन्द्र बम्बईमें भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजराती भाषामें अन्य भी उपयोगी ग्रन्थ छपे हैं।

वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं। वे स्थान हैं—अगास, ववाणिया, राजकोट, वड़वा, खंभात, काविठा, सोमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोड़ा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, आहोर (राज०) हम्पी (दक्षिण भारत), इन्दौर (म० प्र०); बम्बई—घाटकोपर, देवलाली तथा मोम्बासा (अफ्रिका)।

अन्तमें, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि-आत्म-धर्मका अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो, यही भावना है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम
स्टे० अगास, पो० बोरिया
वाया : आणंद (गुजरात)

—बाबूलाल सिद्धसेन जैन

विषय-सूची

ज्ञानमार्गणा अधिकार–१२

(७)

संज्ञीमार्गणा अधिकार–१८

(१३)

आहारमार्गणा अधिकार–१९

(१४)

उपयोगाधिकार–२०

अन्तर्भावाधिकार–१

आलापाधिकार–२

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	८	परूपणा	परूवणा
१०	२२	एते	एदे
१२	२३	उपशामकेपु	उपशामकेषु
१३	२	क्षयिक	क्षायिक
१३	२	गणस्थानोंमें	गुणस्थानोंमें
१६	१८	सम्यक्त्वकी	सम्यक्त्वकी
१८	२६	गृह्वाति	गृह्णाति
१९	१३	सम्यदर्शनके	सम्यग्दर्शनके
२१	२५	सम्यदृष्टि	सम्यग्दृष्टि
२३	३	देववदो	देसवदो
२५	२६	वत्तावत्तपसाए	वत्तावत्तपमाए
	३०	षरिज्ञान	परिज्ञान
३३	७	णुवसमण	णुवसमण
४०	९	प्रकृतियोके	प्रकृतियोंके
	१३	खपया	खवया
	२६	जेहि	जेहिं
४१	३	कम्मवणा	कम्मवणा
४२	८	वादर	वादर
	१४	स्पधंक	स्पर्धक
४७	१६	संपत्ती	संपत्तो
५०	५	तात्पर्य	तात्पर्य
५४	५	लक्षणनुसार	लक्षणानुसार
	१७	पंचेद्रिय	पंचेन्द्रिय
	१८	सभा	सभी
५५	२५	मेदजुदे	भेदजुदे
५७	१२	तिर्यचोंके	तिर्यचोंके
५९	१८	तौनोंका	तीनोंका
६१	११	शोतीष्णे	शीतोष्णे
६५	१७	अपप्पृनि	अप्पृनि
७१	२३	अवक्यव्यवृद्धि	अवक्तव्यवृद्धि
७२	८	अवगाहनाका	अवगाहनाका
	८	वृद्धिक्रम	वृद्धिक्रम
७७	३०	छत्तोसा	छत्तीसा
७८	८	सहास्राणि	सहस्राणि
७९	२	पज्जत्त	पज्जत्त
८९	१५	तिर्यग्मानुप	तिर्यग्मानुष
९०	१४	सुविवृतसंज्ञा	सुविवृतसज्ञा
९२	७	तिर्यंचोंमें	तिर्यंचोंमें
९३	१६	व्याधि	व्याधि
९८	२५	इव	इव
९९	१८	प्रकारक	प्रकारकी
१०५	१२	अवग्गहादीहि	अवग्गहादीहिं
१०६	३०	अन्दर्भेदोंसे	अन्तर्भेदोंसे
१०७	१३	वादरसुहमा	वादरसुहमा
११९	१४	प्रथिव्यादि	पृथिव्यादि
	१६	वायुकयिक	वायुकायिक
१२०	२६	तेजस्कायविक	तेजस्कायिक
१२१	११	शलाकारा शिमें	शलाकाराशिमेंसे
	३५	देनसे	देनेसे
१२२	२३	पृथ्वीकायिक	पृथिवीकायिक
१२३	२८	परगुंलेण	पदरंगुलेण
१२४	२७	निकता	निकलता
	२८	अर्द्धच्छेदोंक	अर्द्धच्छेदोंका
१२८	१९	जंवूदीवं	जंवूदीवं
१३८	१६	निममसे	नियमसे
	२८	वैक्रियिकसे	वैक्रियिकसे
१३९	९	वर्गणओंको	वर्गणाओंकी
	१८	सूच्यगुल	सूच्यंगुल
	१९	वृन्दागुल	वृन्दांगुल
	२१	पर्व पूर्वकी	पूर्व-पूर्वकी
१४१	१३	उत्कण्ट	उत्कृष्ट
१४५	२	पर्याप्त इनका	इनका

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	१८	कर्मणकाययोगी	कार्मणकाययोगी
१४८	८	उत्कष्ट	उत्कृष्ट
१४९	१९	अच्छादित	आच्छादित
१५२	१०	सुहदुवख	सुहदुक्ख
१५५	१०	नरकतिमें	नरकगतिमें
	२४	नोकषयका	नोकषायका
१५७	२	शलगकृष्णे	शैलगकृष्णे
१५९	२७	अर्थसदृष्टि	अर्थसंदृष्टि
	३३	स्वघककालं	स्वककालं
१६३	२६	अहग्रह	अवग्रह
१६८	११	वत्थु	वत्थु
१७३	२	असखलोगा	असंखलोगा
१७५	१२	नकरादि	नरकादि
१७६	७	जिनैनिष्टम्	जिनैर्निर्दिष्टम्
१७७	२०	प्रात्याख्यानं	प्रत्याख्यानं
१८२	६	पूर्व	पूर्वं
	१५	स्थगलता	स्थलगता
	२६	जम्बूद्वीपप्रज्ञति	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
१९१	२९	ज्ञेत्रमध्ये	क्षेत्रमध्ये
	,,	गवछति	गच्छति
१९४	७	उत्कृष्ठ	उत्कृष्ट
१९६	१४	असंख्यत्तावें	असंख्यातवें
१९७	६	विषभूत	विषयभूत
	८	लि	क्रि
१९९	२९	कर्मण	कार्मण
२०१	१५	परमाधि	परमावधि
२०२	२०	उक्क्कस	उक्कस्स
२१०	१८	वग्गण	वग्गण
२१२	१०	रूबि	रूवि
	२१	निर्जीण	निर्जीर्ण
२१३	२९	योजप्रमाण	योजनप्रमाण
२१५	२२	तियर्यग्गति	तिर्यग्गति
२१६	२०	संजममावो	संजमभावो
२१७	२	सामयिक	सामायिक
२२१	१७	व्दिकं	द्विकं
२२५	६	समुदिट्ठं	समुद्दिट्ठं
	८	कार्य	कार्यं
	२३	निर्देश्श	निर्देश
२३२	२३	लेश्याले	लेश्यावाले
२३३	३०	मध्यमाशोंमेंसे	मध्यमांशोंमेंसे
	३१	,,	,,
२३४	२२	शुक्लेश्या	शुक्ललेश्या
२३६	८	सोमतं	सीमतं
२४१	३४	जगच्छेगी	जगच्छ्रेणी
२४२	१०	हृदपदरं	हिदपदरं
	१२	पञ्चाशगुल	पञ्चाशदंगुल
२४४	२०	क्षेष	शेष
२४५	१४	किञ्चदून:	किञ्चिदून:
	२४	मागा	भागा
२५१	२९	वाद	बाद
२५२	४	द्रव्यपरिवतन	द्रव्यपरिवर्तन
२५३	२१	ग्रहोतग्रहणका	ग्रहीतग्रहणका
२५४	३३	इकतीत	इकतीस
२५५	१३	कषायध्यावसाय	कषायाध्यवसाय
२५९	५	हायमानं	हीयमानं
२६१	८	कनते	कहते
	१२	उछ्वास:	उच्छ्वास:
	३२	भिन्नर्मुहूर्त	भिन्नमुहूर्त
	३२	अन्तमुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
२६५	३४	सर्वमलोकाश	सर्वमलोकाकाश
२६६	२	अकाशको	आकाशको
२६७	७	पदेशा	पदेसा
	८	भचलिता:	मचलिता:
२६८	१२	वाइस	बाईस
	१७	ग्राह्यर्गवर्गणा	ग्राह्यवर्गणा
२७०	८	पुढपी	पुढवी
	३०	चार्ध	चार्धं
२७४	१९	युवत	युक्त
२७५	४	गुणावाले	गुणवाले
२८०	४	ममयमें	समयमें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	१३	पुरसिवेदा	पुरिसवेदा
	२८	मन:पर्यज्ञानी	मन:पर्ययज्ञानी
२८४	१७	सभीचाम	समीचाम
२८५	६	ग्रैवेयकम्वन्धी	ग्रैवेयकसम्वन्धी
२८६	२४	किचूण	किंचूण
	२५	सद्दहिव्वा	सद्दहिदव्वा
२८७	१४	सम्यवत्व	सम्यक्त्व
२८८	७	रूपै	रूपै:
२८९	२१	कोचड़	कीचड़
२९०		आयुकर्मो	आयुकर्मों
२९१	१५	समे	समो
	२६	श्रद्धधाति	श्रद्दधाति
	३४	विपरिपामो	विपरिणामों
२९३	३३	अर्तव्य	अकर्तव्य
२९४	२२	वननेके	बननेके
२९५	२	आजोगी	अजोगी
	८	छोढ़कर	छोड़कर
	२८	समुघात	समुद्घात
२९६	८	जीवोंको	जीवोंकी संख्याको
	३१	श्रुति	श्रुत
	३२	कुमुति	कुमति
२९८	१३	उयोग	उपयोग
३००	३०	जिर्नैनिदिष्टम्	जिनैर्निर्दिष्टम्
३१५	७	चतुर्गत	चतुर्गति
२१७	११	पवउण	पयडण
३१८	२१	विदियुक्सम	विदियुवसम

पृ० १९३ पर गाथा ३८८ का शीर्षक रह गया है सो इस प्रकार है—प्रकारान्तरसे ध्रुवहारका प्रमाण—

जहाँ आरहा, जासके, होसके, आसकतो, आदि शब्द मिल गये हैं वहाँ आ रहा, जा सके इत्यादि समझें।

श्रीमन्नेमिचन्द्राय नमः

श्रीमद्राजचन्द्रजैनशास्त्रमालायाम्
श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिविरचितो

गोम्मटसारः

(जीवकाण्डम्)

संस्कृतछाया-हिन्दीभाषानुवादसहितः

अथ श्रीनेमिचन्द्र सैद्धान्तिकचक्रवर्ती गोम्मटसार ग्रन्थके लिखनेके पूर्व निर्विघ्न समाप्ति, नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालन और उपकारस्मरण इन चार प्रयोजनोंसे इष्टदेवको नमस्कार करते हुए इस ग्रन्थमें जो कुछ वक्तव्य है उसके "सिद्धं" इत्यादि गाथासूत्रद्वारा कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं :—

सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिंदवरणेमिचंदमकलंकं ।
गुणरयणभूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं ॥ १ ॥

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य, जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रमकलङ्कम् ।
गुणरत्नभूषणोदयं, जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धावस्था या स्वात्मोपलब्धिको जो प्राप्त हो चुका है, अथवा न्यायके प्रमाणोंसे जिसकी सत्ता सिद्ध है, और जो चार घातिया द्रव्यकर्मोंके अभावसे शुद्ध, तथा मिथ्यात्वादि भाव-कर्मोंके नाशसे अकलङ्क हो चुका है, एवं जिसके सदा ही सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नोंके भूषणोंका उदय रहता है, इस प्रकारके श्रीजिनेन्द्रवर नेमिचन्द्र स्वामीको नमस्कार करके, जो उपदेशद्वारा पूर्वाचार्य परम्परासे चला आरहा है इसलिये सिद्ध और पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध, और दूसरेकी निन्दा आदि न करनेके कारण तथा रागादिका उत्पादक न होनेसे निष्कलङ्क है, और जिससे सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नभूषणोंकी प्राप्ति होती है—जो विकथा आदिकी तरह रागका कारण नहीं है, इस प्रकारके जीवप्ररूपण नामक ग्रन्थको अर्थात् जिसमें अशुद्ध जीवके स्वरूप भेद प्रभेद आदि दिखाये गये हैं इस प्रकारके ग्रन्थको कहूँगा ।

भावार्थ—प्रकृत गाथाका अर्थ संस्कृत टीकामें २४ तीर्थंकर, श्रीवर्धमान भगवान्, सिद्धपर-मेष्ठी, आत्मा, सिद्धसमूह, पंचपरमेष्ठी, नेमिनाथ भगवान्, जीवकाण्ड ग्रन्थ, और श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती इन सभीके नमस्कारपरक किया गया है। वह विशेष जिज्ञासुओंको वहीं देखना चाहिये ।

टीकाकारने इस ग्रन्थके दो[1] नाम बताये हैं—जीवस्थान और जीवकाण्ड। क्योंकि सिद्धान्तमें बन्धक, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु और बन्धभेद, इस तरह पांच[2] विषयोंका वर्णन पाया जाता है। उनमें से यह ग्रन्थ बन्धक जीवका प्रतिपादन करता है।

गाथागत "गुणरत्नभूषण" शब्दका अर्थ चामुण्डराय भी होता है। क्योंकि उसीके प्रश्नके आधार पर इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।

"जीवट्ठाण" नामक सिद्धान्त शास्त्रमें अशुद्ध जीवके १४ गुणस्थान, १४ मार्गणास्थान, और १४ जीवसमासस्थानोंका जो वर्णन है वही इस ग्रन्थका भी आधार है।

अतएव इसको भी जीवस्थान या जीवप्ररूपण कहते हैं। काण्ड नाम पर्वका है। जिस तरह ईख या बेंत आदिमें अनेक पर्व (पंगोली) होते हैं उसी तरह इस ग्रन्थमें बीस प्ररूपणारूपी पर्वोंका संकलन पाया जाता है। अतएव इसको "जीवकाण्ड" भी कहते हैं।

मंदप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीकाके कर्ताने भी[3] धवलाकारकी तरह—

मंगलनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृश्च।
व्याकृत्य षडपि पश्चाद् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः।

इस उक्तिके अनुसार मंगल आदि छहों विषयोंका प्रकृत पद्यके व्याख्यानमें स्पष्टीकरण किया है।

इस प्रकार नमस्कार और विवक्षित ग्रन्थकी प्रतिज्ञा करके इस जीवकाण्डमें मध्यमरुचि रखनेवाले शिष्योंकी अपेक्षासे जितने अधिकारोंके द्वारा जीवका वर्णन करेंगे उनके नाम और संख्या दिखाते हैं—

गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।
उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा[4] भणिदा ॥ २ ॥

१—अनेन (गुणरयणभूसणुदयं, इति विशेषणेन) वंधक-वन्ध्यमान-वंधस्वामि-वन्धहेतु, वन्ध-भेदानां पंचानां सिद्धान्तार्थानां मध्ये वन्धकस्य जीवस्य प्रतिपादकमिदं शास्त्रं जीवस्थान-जीवकाण्डनामद्वयप्रख्यातम् ॥ जी. प्र. ॥

२—इसके लिये देखो वन्धस्वामित्वविचय (षट्खण्डागम) सूत्र नं० १ की धवला टीका। —कृति वेदनादि २४ अनुयोगद्वारोंमें छट्टे बन्धन अनुयोगद्वारके ४ भेद हैं।—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय, बन्ध-विधान। पाँचवां भेद बन्धस्वामित्व है। जो कि उत्तरप्रकृतिबन्धका वर्णन करनेवाले २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे १ है और मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगरूप जीवकर्मका प्रत्ययरूप एकत्वपरिणाम है।

३—एवं मंगलादि षडधिकारसूचनपुरःसरं जीवप्ररूपणप्रतिज्ञासूत्रंसंक्षेपेण व्याख्यातम् ॥ म. प्र. ॥ छक्खंडागम—जीवट्ठाण—संतसुत्तविवरणकी आदिमें "णमो अरहंताणं" आदि मंगलपद्यकी धवलाटीका-में यह विषय अधिक विस्तृतरूपसे पाया जाता है।

४—छक्कं सं. प. गाथा नं० २१७।

परूपणं णाम किं उत्तं होदि ? ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु.......पज्जत्तापज्जत्तविसेसणेहि विसेसिऊण जा जीवपरिक्खा सा परूवणा णाम। उक्तं च—गुण—जीवा—पजत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवजोगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।

टीकाकारने इस ग्रन्थके दो[1] नाम बताये हैं—जीवस्थान और जीवकाण्ड। क्योंकि सिद्धान्तमें बन्धक, वध्यमान, वन्धस्वामी, बन्धहेतु और वन्धभेद, इस तरह पांच[2] विषयोंका वर्णन पाया जाता है। उनमें से यह ग्रन्थ बन्धक जीवका प्रतिपादन करता है।

गाथागत "गुणरत्नभूषण" शब्दका अर्थ चामुण्डराय भी होता है। क्योंकि उसीके प्रश्नके आधार पर इस ग्रन्थका अवतार हुआ है।

"जीवट्ठाण" नामक सिद्धान्त शास्त्रमें अशुद्ध जीवके १४ गुणस्थान, १४ मार्गणास्थान, और १४ जीवसमासस्थानोंका जो वर्णन है वही इस ग्रन्थका भी आधार है।

अतएव इसको भी जीवस्थान या जीवप्ररूपण कहते हैं। काण्ड नाम पर्वका है। जिस तरह ईख या बेंत आदिमें अनेक पर्व (पंगोली) होते हैं उसी तरह इस ग्रन्थमें वीस प्ररूपणारूपी पर्वोंका संकलन पाया जाता है। अतएव इसको "जीवकाण्ड" भी कहते हैं।

मंदप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीकाके कर्ताने भी[3] धवलाकारकी तरह—

> मंगलनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृश्च।
> व्याकृत्य षडपि पश्चाद् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः।

इस उक्तिके अनुसार मंगल आदि छहों विषयोंका प्रकृत पद्यके व्याख्यानमें स्पष्टीकरण किया है।

इस प्रकार नमस्कार और विवक्षित ग्रन्थकी प्रतिज्ञा करके इस जीवकाण्डमें मध्यमरुचि रखनेवाले शिष्योंकी अपेक्षासे जितने अधिकारोंके द्वारा जीवका वर्णन करेंगे उनके नाम और संख्या दिखाते हैं—

> **गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य।**
> **उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा[4] भणिदा ॥ २ ॥**

१—अनेन (गुणरयणभूसणुदयं, इति विशेषणेन) बंधक-वन्ध्यमान-बंधस्वामि-वन्धहेतु, वन्ध-भेदानां पंचानां सिद्धान्तार्थानां मध्ये वन्धकस्य जीवस्य प्रतिपादकमिदं शास्त्रं जोवस्थान-जीवकाण्डनामद्वयप्रख्यातम् ॥ जी. प्र. ॥

२—इसके लिये देखो वन्धस्वामित्वविचय (षट्खण्डागम) सूत्र नं० १ की धवला टीका। —कृति वेदनादि २४ अनुयोगद्वारोंमें छट्ठे वन्धन अनुयोगद्वारके ४ भेद हैं।—वन्ध, वन्धक, वन्धनीय, वन्ध-विधान। पाँचवाँ भेद वन्धस्वामित्व है। जो कि उत्तरप्रकृतिवन्धका वर्णन करनेवाले २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे १ है और मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगरूप जीवकर्मका प्रत्ययरूप एकत्वपरिणाम है।

३—एवं मंगलादि षडधिकारसूचनपुरःसरं जीवप्ररूपणप्रतिज्ञासूत्रंसंक्षेपेण व्याख्यातम् ॥ म. प्र ॥ छक्खंडागम—जीवट्ठाण—संतसुत्तविवरणकी आदिमें "णमो अरहंताणं" आदि मंगलपद्यकी धवलाटीका-में यह विषय अधिक विस्तृतरूपसे पाया जाता है।

४—छक्कं सं प गाथा नं० २१७।

परूपणं णाम किं उत्तं होदि ? ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु.......पज्जत्तापज्जत्तविसेसणेहि विसेसिऊण जा जीवपरिक्खा सा परूवणा णाम। उक्तं च—गुण-जीवा-पजत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवजोगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।

गुण-जीवाः[1] पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणाश्च ।
उपयोगोऽपि च क्रमशः विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ २ ॥

अर्थ—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोग इस प्रकार ये वीस प्ररूपणा पूर्वाचार्योंने कही हैं।

भावार्थ—इनको इसलिये प्ररूपणा कहा है कि इन्हींके द्वारा अथवा इन विषयोंका आश्रय लेकर इस ग्रन्थमें जीवद्रव्यका प्ररूपण किया जायगा। इनका लक्षण उस उस अधिकारमें स्वयं आचार्य यद्यपि करेंगे फिर भी संक्षेपमें इनका स्वरूप प्रारम्भमें यहाँ पर भी लिख देना उचित प्रतीत होता है। मोह और योगके निमित्तसे होनेवाली आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणकी अवस्थाओंको गुणस्थान[2] कहते हैं। जिन सदृश धर्मोंके द्वारा अनेक जीवोंका संग्रह किया जासके उन सदृश धर्मोंका नाम जीवसमास है। गृहीत आहारवर्गणाओंको खल रस भाग आदिके रूपमें परिणत करनेकी शक्ति विशेपकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। जिनका संयोग रहने पर "यह जीता है" और वियोग होनेपर "यह मर गया" इस तरहका जीवमें व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं। आहारादिकी वाञ्छाको संज्ञा कहते हैं। जिनके द्वारा विवक्षित अनेक अवस्थाओंमें स्थित जीवोंका ज्ञान हो उनको मार्गणा कहते हैं। बाह्य तथा अभ्यन्तर कारणोंके द्वारा होनेवाली आत्माके चेतनागुणकी सामान्य—निराकार अथवा विशेष—साकार परिणतिविशेपको उपयोग[3] कहते हैं।

भावार्थ—इस गाथामें तीन "च", एक "अपि" और एक "तु" का जो उल्लेख है—उनमेंसे संज्ञाके साथ आया हुआ पहला "च" शब्द अपने पूर्वकी गुणस्थानादि पाँचों ही प्ररूपणाओंका समुच्चय अर्थ सूचित करता है, क्योंकि ये समुच्चयरूप एक एक प्ररूपणा हैं। "मार्गणा" शब्द बहुवचनान्त है, और उसके साथ भी "च" का प्रयोग है। अतएव एक ही मार्गणामहाधिकारकी १४ गति आदि प्ररूपणा हैं। उनमें से प्रत्येकका अधिकाररूपसे यहाँ समुच्चयरूपमें प्ररूपण किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। उपयोग शब्दके साथ "अपि" और "च" का प्रयोग है। यह इस बातको सूचित करता है कि यह भी एक स्वतंत्र प्ररूपणाधिकार है। और अन्य गुणस्थानादि १९ अधिकारोंकी अपेक्षा जीव अथवा आत्माका लक्षण होनेसे अपनी असाधारणता रखता है, क्योंकि मुख्य जीवोंके मार्गयिता तत्वश्रद्धालु भव्य जीवके लिये मार्गण—अन्वेषणमें मार्गणाएँ करण या अधिकरण हैं। किंतु उपयोग सभी जीवोंमें पाया जानेवाला असाधारण लक्षण होनेसे मार्गणाका सामान्य एवं महान् उपाय है।

पेक्षासे उसके संक्षिप्त रुचिवालोंकी अपेक्षा दो भेद हैं और मध्यमरुचिवालोंकी अपेक्षासे ये बीस भेद हैं। दो भेदोंमें बीसका अन्तर्भाव किस तरह हो जाता है यह आगे बताया जायगा।

इस गाथामें कही गईं ये बीस प्ररूपणाएँ वे ही हैं जिनके कि आशयको गर्भित करके पुष्पदंताचार्यने षट्खण्डागमकी रचनाका प्रारम्भ किया था और जिनपालितको पहले दीक्षा देकर फिर अपने रचित "संतसुत्तविवरण" को पढ़ाकर अपने साध्यायी मुनिपुंगव भगवान् भूतबलिके पास भेजा था[1]। जिसपरसे कि श्री भूतबलिद्वारा पूर्ण षट्खण्डागमकी रचना हुई। जो कि इस जीवकाण्डका भी मूल आधार है।

संक्षेप रुचिवाले शिष्योंकी अपेक्षासे उक्त बीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्ररूपणाओंमें ही हो सकता है; अतएव संग्रहनयसे दो ही प्ररूपणा हैं। इस बातको ध्यानमें रखकर दोनों ही प्ररूपणाओंकी उत्पत्तिका निमित्त तथा उनके पर्यायवाचक शब्दोंको दिखाते हैं—

संखेओ ओघो त्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा।
वित्थारादेसो त्ति य, मग्गणसण्णा सकम्मभवा॥ ३॥

संक्षेप ओघ इति गुणसंज्ञा, सा च मोहयोगभवा।
विस्तार आदेश इति च, मार्गणसंज्ञा स्वकर्मभवा॥ ३॥

अर्थ—संक्षेप और ओघ यह गुणस्थानकी संज्ञा है और वह मोह तथा योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है। इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणाकी संज्ञा है और वह भी अपने-अपने योग्य कर्मोंके उदयादिसे उत्पन्न होती है। यहाँपर चकारका ग्रहण किया है इससे गुणस्थानकी सामान्य और मार्गणाकी विशेष यह भी संज्ञा समझनी[2] चाहिये।

यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि मोह तथा योगके निमित्तसे गुणस्थान उत्पन्न होते हैं, न कि "गुणस्थान" यह संज्ञा, फिर संज्ञाको मोहयोगभवा (मोह और योगसे उत्पन्न) क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थसे मोह और योगके द्वारा गुणस्थान ही उत्पन्न होते हैं न कि गुणस्थान संज्ञा तथापि यहाँ पर वाच्यवाचकमें कथंचित् अभेद मानकर उपचारसे संज्ञाको भी मोहयोगभवा कह दिया है।

१—तदो पुप्फयन्ताइरिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाऊण वीसदिसुत्ताणि करिय पढाविय पुणो सो भूदवलिभयवंतस्स पासं पेसिदो। भूदवलिभयवदा जिणवालिदपासे दिट्ठवीसदिसुत्तेण अप्पाउओ त्ति अवगयजिणवालिदेण महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदि त्ति समुप्पण्णबुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काऊण गंथरचणा कदा। धवला पृ. ७१।

वांछन् गुणजीवादिकविंशतिविधसूत्रसत्प्ररूपणया, युक्तं जीवस्थानाद्यधिकारं व्यरचयत्सम्यक्॥ १३५॥

—इन्द्रनन्दिश्रुतावतारकथा—

२—गुणस्थानोंका वोध "जीवसमास" शब्दसे भी होता है। देखो—संतसुत्तविवरणका सूत्र नं. २ और उसकी धवला टीका तथा "द्रव्यसंग्रह" की गा. नं. १३ की टीका। एवं गोम्मटसार जी. का. गाथा नं. १०। जीवसमास शब्दसे गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवसमासस्थान तीनोंका ग्रहण होता है। क्योंकि समासका अर्थ होता है सामान्य या संक्षेप। जो कि सभीमें घटित हो जाता है।

भावार्थ—यद्यपि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस तरह रत्नत्रयरूप है। किंतु गुणस्थानोंके निर्माणमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र दो प्रधान हैं जैसा कि "मोहयोग-भवा" इस लक्षणपदसे मालूम होता है।

उक्त वीस प्ररूपणाओंका अंतर्भाव दो प्ररूपणाओंमें किस अपेक्षासे हो सकता है और वे वीस प्ररूपणाएं किस अपेक्षासे कहीं हैं, यह दिखाते हैं—

आदेसे संलीणा, जीवा पज्जत्ति-पाण-सण्णाओ।
उवओगो वि य भेदे, वीसं तु परूपणा भणिदा ॥ ४ ॥

आदेसे संलीना जीवाः पर्याप्तिप्राणसंज्ञाश्च।
उपयोगोऽपि च भेदे, विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥४॥

अर्थ—जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन सब भेदोंका मार्गणाओंमें ही भले प्रकार अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये अभेदविवक्षासे गुणस्थान और मार्गणा ये प्ररूपणा ही माननी चाहिये। किन्तु वीस प्ररूपणा जो कहीं हैं वे भेद विवक्षासे हैं।

किस किस मार्गणामें कौन कौनसी प्ररूपणा अंतर्भूत हो सकती है यह बात तीन गाथाओंद्वारा दिखाते हैं।

इंदियकाये लीणा, जीवा पज्जत्ति-आण-भास-मणो।
जोगे काओ णाणे, अक्खा गदिमग्गणे आऊ ॥ ५ ॥

इन्द्रियकाययोर्लीना, जीवाः पर्याप्त्यानभाषामनांसि।
योगे कायः ज्ञाने अक्षीणि गतिमार्गणायामायुः ॥ ५ ॥

कारण हैं। इसी प्रकार गतिमार्गणामें आयुप्राणका अन्तर्भाव साहचर्य सम्वन्धकी अपेक्षा हो सकता है। क्योंकि इन दोनों ही कर्मोंका उदय सहचर है—साथ ही हुआ करता है। संज्ञाओंका अन्तर्भाव किस प्रकार किस मार्गणामें होता है सो दिखाते हैं।—

मायालोहे रदिपुव्वाहारं, कोहमाणगम्हि भयं।
वेदे मेहुणसण्णा, लोहम्हि परिग्गहे सण्णा॥ ६॥

मायालोभयो रतिपूर्वकमाहारं क्रोधमानकयोर्भयम्।
वेदे मैथुनसंज्ञा लोभे परिग्रहे संज्ञा॥ ६॥

अर्थ—रतिपूर्वक आहार अर्थात् आहार संज्ञा रागविशेष होनेसे रागका ही स्वरूप है और माया तथा लोभकषाय ये दोनों ही रागविशेष होनेसे स्वरूपवान् हैं। इसलिये स्वरूपस्वरूपवत्सम्वंधकी अपेक्षा माया और लोभ कषायमें आहारसंज्ञाका अंतर्भाव होता है। इसी प्रकार (स्वरूपस्वरूपवत्सम्वंधकी ही अपेक्षासे) क्रोध तथा मान कषायमें भयसंज्ञाका अंतर्भाव होता है। कार्यकारण सम्वंधकी अपेक्षा वेदकषायमें मैथुनसंज्ञाका और लोभकषायमें परिग्रह संज्ञाका अंतर्भाव होता है। क्योंकि वेदकषाय तथा लोभकषाय कारण हैं और मैथुन संज्ञा तथा परिग्रहसंज्ञा उनके क्रमसे कार्य हैं।

उपयोगका अंतर्भाव दिखानेकेलिये सूत्र कहते हैं—

सागारो उवजोगो, णाणे मग्गम्हि दंसणे मग्गे।
अणगारो उवजोगो, लीणो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ ७॥

साकार उपयोगो, ज्ञानमार्गणायां दर्शनमार्गणायाम्।
अनाकार उपयोगो, लीन इति जिनैर्निर्दिष्टम्[1]॥ ७॥

अर्थ—उपयोग दो प्रकारका होता है एक साकार दूसरा अनाकार। साकार उपयोग उसको कहते हैं जिसमें पदार्थ 'यह घट है, पट है; इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिभासित हों। इसीको ज्ञान कहते हैं। इसीलिये इसका ज्ञानमार्गणामें अन्तर्भाव होता है। जिसमें कोई भी विशेष पदार्थ प्रतिभासित न होकर केवल महासामान्यरूप ही विषय प्रतिभासित हो उसको अनाकार उपयोग अथवा दर्शन कहते हैं। इसका दर्शनमार्गणामें अन्तर्भाव होता है।

भावार्थ—उपयोग सामान्य है और ज्ञान दर्शन ये दो उसके विशेष भेद हैं। ज्ञानका स्वरूप ज्ञानमार्गणामें और दर्शनका स्वरूप दर्शनमार्गणामें स्वयं ग्रन्थकार आगे चलकर वतानेवाले हैं। तथा उपयोगाधिकारमें भी इनका स्वरूप कहा जायगा। अतएव यहाँ पर इनके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

१—यहां पर गाथा नं. ५, ६, ७ में जो अन्तर्भाव दिखाया गया है, वही षट्खण्डागम सत्प्ररूपणाके प्रारंभमें पृ. ४१४,४१५ में दिखाया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि वीस प्ररूपणाओंके द्वारा जो वर्णन है वह सूत्रोंके द्वारा सूचित अर्थका ही केवल स्पष्टीकरण है।

यद्यपि यहाँपर ऊपर सब जगह अभेद विवक्षासे दो ही प्ररूपणाओंमें शेष प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव दिखला दिया है तथापि आगे प्रत्येक प्ररूपणाका निरूपण भेद विवक्षासे ही किया जायगा।

प्रतिज्ञाके अनुसार क्रमप्राप्त सर्वप्रथम गुणस्थानका सामान्य लक्षण करते हैं :—

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं[1] ॥ ८ ॥

यैस्तु लक्ष्यन्ते उदयादिषु सम्भवैर्भावैः।
जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम, आदि अवस्थाके होने पर होनेवाले जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणस्थानवाला और उन परिणामोंको गुणस्थान कहा है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी जीवके दर्शनमोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीवको मिथ्यादृष्टि[2] और उस मिथ्यादर्शनरूप परिणामको मिथ्यात्व गुणस्थान कहा जायगा। गुणस्थान यह अन्वर्थ संज्ञा[3] है, क्योंकि विवक्षित कर्मोंके उदयादिसे होनेवाले पाँच प्रकार के जीवके भाव गुणशब्दसे अभिप्रेत हैं। उन्हींके स्थानोंको गुणस्थान कहते हैं। यहाँ पर मुख्यतया मोहनीय कर्मके उदय आदिकसे होनेवाले भाव ही लिये हैं। मोहनीयके दो भेद हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमेंसे किन-किन गुणस्थानोंमें दर्शनमोहनीयके उदयादिकी और किन-किनमें चारित्र मोहनीयके उपशमादिकी अपेक्षा है यह बात गाथा नं. ११ से १४ तक में बताई जायगी।

विवक्षित पाँच भावोंका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है—कर्मोंके उदयसे होनेवाले औदयिक, उपशमसे होनेवाले औपशमिक, क्षयसे होनेवाले क्षायिक, क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक और जिनमें उदयादिक चारों ही प्रकारकी कर्मकी अपेक्षा न हो वे पारिणामिक भाव हैं।[4] इन्हींको गुण कहते हैं। तत्वार्थसूत्रके दूसरे अध्यायमें इन्हींको जीवके स्वतत्त्व[5] नामसे बताया है।

गुणस्थानोंके १४ चौदह भेद हैं। उनके नाम दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं—

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ ९ ॥

१ मिथ्यात्वं २ सासनः ३ मिश्रः ४ अविरतसम्यक्त्वं च ५ देशविरतश्च।
६ विरताः ७ प्रमत्तः ८ इतरः ९ अपूर्वः ९ अनिवृत्तिः १० सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—१ मिथ्यात्व, २ सासन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्म साम्पराय।

इस सूत्रमें चौथे गुणस्थानके साथ जो अविरत शब्द है वह अन्त्यदीपक है। अतएव पहलेके तीनों गुणस्थानोंमें भी अविरतपना समझना चाहिये। इसी प्रकार छट्ठे प्रमत गुणस्थानके साथ जो विरत शब्द है वह आदि दीपक है। इसलिये यहाँसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं. ऐसा समझना चाहिये।

उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा[१] ॥ १० ॥

११ उपशान्तः, १२ क्षीणमोहः, १३ सयोगकेवलिजिनः, १४अयोगी च।
चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ १० ॥

अर्थ—११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण, १३ सयोगकेवलिजिन, और १४ अयोगकेवली जिन ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं। और सिद्ध इन जीवसमासों—गुणस्थानोंसे रहित हैं।

भावार्थ—इस सूत्रमें क्रमेण शब्द जो पड़ा है, उससे यह सूचित होता है कि जीवके सामान्यतया दो भेद हैं, एक संसारी दूसरा मुक्त। मुक्त अवस्था संसारपूर्वक ही हुआ करती है। संसारियोंके गुणस्थानोंकी अपेक्षा चौदह भेद हैं। इसके अनन्तर क्रमसे गुणस्थानोंसे रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार क्रमेण शब्दके द्वारा एक ही जीवकी क्रमसे होनेवाली दो—संसार और सिद्ध—मुक्त अवस्थाओंके कथनसे यह भी सूचित हो जाता है कि जो कोई ईश्वरको अनादि मुक्त वताते हैं, अथवा आत्माको सदा कर्मरहित या मुक्तस्वरूप मानते हैं, या मोक्षमें जीवका निरन्वय विनाश कहते हैं सो ठीक नहीं है।

इस गाथामें सयोग शब्द अन्त्यदीपक है, इसलिये पूर्वके मिथ्यादृष्ट्यादि सब ही गुणस्थान वर्त्ती जीव योग सहित होते हैं। जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं। केवली शब्द आदि दीपक है अतएव सयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है।

गुणस्थानोंके १४ चौदह भेद हैं। उनके नाम दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं—

मिच्छो सासण मिस्सो, अविरदसम्मो य देसविरदो य।
विरदा पमत्त इदरो, अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ ९ ॥

१ मिथ्यात्वं २ सासनः ३ मिश्रः ४ अविरतसम्यक्त्वं च ५ देशविरतश्च।
६ विरताः ७ प्रमत्तः ८ इतरः ९ अपूर्वः ९ अनिवृत्तिः १० सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—१ मिथ्यात्व, २ सासन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्म साम्पराय।

इस सूत्रमें चौथे गुणस्थानके साथ जो अविरत शब्द है वह अन्त्यदीपक है। अतएव पहलेके तीनों गुणस्थानोंमें भी अविरतपना समझना चाहिये। इसी प्रकार छट्ठे प्रमत गुणस्थानके साथ जो विरत शब्द है वह आदि दीपक है। इसलिये यहाँसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं. ऐसा समझना चाहिये।

उवसंत खीणमोहो, सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा[1] ॥ १० ॥

११ उपशान्तः, १२ क्षीणमोहः, १३ सयोगकेवलिजिनः, १४अयोगी च।
चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ १० ॥

अर्थ—११ उपशान्त मोह, १२ क्षीण, १३ सयोगकेवलिजिन, और १४ अयोगकेवली जिन ये चौदह जीवसमास (गुणस्थान) हैं। और सिद्ध इन जीवसमासों—गुणस्थानोंसे रहित हैं।

भावार्थ—इस सूत्रमें क्रमेण शब्द जो पड़ा है, उससे यह सूचित होता है कि जीवके सामान्यतया दो भेद हैं, एक संसारी दूसरा मुक्त। मुक्त अवस्था संसारपूर्वक ही हुआ करती है। संसारियोंके गुणस्थानोंकी अपेक्षा चौदह भेद हैं। इसके अनन्तर क्रमसे गुणस्थानोंसे रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार क्रमेण शब्दके द्वारा एक ही जीवकी क्रमसे होनेवाली दो—संसार और सिद्ध—मुक्त अवस्थाओंके कथनसे यह भी सूचित हो जाता है कि जो कोई ईश्वरको अनादि मुक्त बताते हैं, अथवा आत्माको सदा कर्मरहित या मुक्तस्वरूप मानते हैं, या मोक्षमें जीवका निरन्वय विनाश कहते हैं सो ठीक नहीं है।

इस गाथामें सयोग शब्द अन्त्यदीपक है, इसलिये पूर्वके मिथ्यादृष्ट्यादि सब ही गुणस्थान वर्ती जीव योग सहित होते हैं। जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं। केवली शब्द आदि दीपक है अतएव सयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है।

१–प्रकृत दोनों गाथाओंमें जो १४ गुणस्थानों और उनसे अतीत सिद्धस्थानका नाम निर्देश है। वह पद् षं. सं. सु. विवरणमें पृथक्-पृथक् सूत्रों द्वारा किया गया है। देखो सूत्र नम्बर ९ से २३ तक। वहाँ पर इन गुणस्थानोंके पूर्ण नाम दिये हैं। यहाँ पर जो नाम हैं वे प्रायः एकदेशरूप हैं।

पांचवें गुणस्थानका नाम देशविरत है। क्योंकि यहांपर जीव पूर्णतया विरत नहीं हुआ करता। इससे ऊपरके सभी जीव विरत ही हुआ करते हैं। अतएव छठे और सातवें गुणस्थानका विरतके साथ प्रमत्त और इतर अर्थात् अप्रमत्त शब्द विशेषण रूपसे जोड़कर क्रमसे प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत ऐसा नाम निर्देश किया गया है। इन विशेषणोंके कारण यह भी सूचित हो जाता है कि छट्ठे गुणस्थानतकके सभी जीव सामान्यतया प्रमाद सहित ही हुआ करते हैं। तथा सप्तम गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सभी जीव पूर्णतया विरत होनेके साथ-साथ प्रमादरहित ही हुआ करते हैं।

सभी गुणस्थानोंके नाम अन्वर्थ हैं। आगे जो लक्षण विधान है उसके अनुसार वह अर्थ और उन गुणस्थानोंके पूरे नामका बोध हो सकेगा। क्योंकि यहां दोनों गाथाओंमें गुणस्थानोंके जो नाम दिये हैं वे उनके पूर्ण नाम नहीं, प्रायः एकदेशरूप ही हैं।

दोनों गाथाओंमें पांच जगहपर "य" अर्थात् "च" शब्दका प्रयोग किया है। इससे कुछ-कुछ विशिष्ट अर्थोंका सूचन होता है। यथा—पहले च से प्रथम तीन गुणस्थानोंके साथ दृष्टि शब्द भी जोड़ना चाहिये; जैसे कि मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि। दूसरे च से पाँचवें गुणस्थानकी शुद्ध और मिश्र इस तरह दो अवस्थाएँ सूचित होती[1] हैं। तीसरे च से अप्रमत्त आदि सूक्ष्मसाम्परायान्त गुणस्थानोंकी दो-दो अवस्थायें सूचित होती हैं। अपूर्वकरणादिके तो उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीकी अपेक्षा दो-दो प्रकार हैं। तथा अप्रमत्तविरतके सातिशय और निरतिशय इस तरह दो भेद हैं। जो श्रेणीके सम्मुख है अधःप्रवृत्तकरणादि परिणामोंको धारण करनेवाला है वह सातिशय और जो ऐसा नहीं है वह निरतिशय है। चौथे च से सूचित होता है कि संसार और मोक्षमार्गका यही अंतिम स्थान है। यहींपर शैलेश्य अवस्था प्राप्त हुआ करती है और व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्ल-ध्यान-रूप वे परिणाम हुआ करते हैं जो कि संसारका पूर्णतया अन्त करनेमें सर्वथा[2] समर्थ हैं। जीवकी अन्तिम साध्य सिद्धावस्थाका उपाय या मार्गरूप रत्नत्रय यहींपर समर्थ कारण बनता है—करणरूपको प्राप्त किया करता है जिसके कि होते ही संसारातीत—गुणस्थानातीत सिद्धपर्यायको यह जीव प्राप्त हो जाता है। इससे सभी गुणस्थानोंमें से इसीकी महत्ता सर्वाधिक सूचित होती है।

पाँचवें 'च' से जीवका वास्तविक सर्वविशुद्ध स्वरूप प्रकट होता है जिससे कि मोक्षके स्वरूपके विषयमें जो अनेक अयुक्त मिथ्या मान्यताएँ हैं[3] उन सबका परिहार हो जाता है।

१—देखो संतसुत्तविवरण सूत्र नं. ३०, ३१।

२—तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम्। रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम् ॥ श्लो. वा. १-१-४७।

३—बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक, वेदान्त आदिके अभिमत "दीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणम्" प्रभृति मोक्षके लक्षणोंको ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये।

इस प्रकार सामान्यसे गुणस्थानोंका नाम निर्देश कर अब प्रत्येक गुणस्थानमें जो-जो भाव पाये जाते हैं जिनको कि यहाँपर गुणनामसे तथा मोक्षशास्त्रमें स्वतत्त्व नामसे कहा गया है उनका उल्लेख करते हैं।

मिच्छे खलु ओदइओ, विदिये पुण पारणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ, अविरदसम्मम्हि तिण्णेव[1] ॥ ११ ॥

मिथ्यात्वे खलु औदयिको, द्वितीये पुनः पारिणामिको भावः।
मिश्रे क्षायोपशमिकः, अविरतसम्यक्त्वे त्रय एव ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमें औदायिक भाव होते हैं, और द्वितीय गुणस्थानमें पारिणामिक भाव होते हैं। मिश्रमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं। और चतुर्थ गुणस्थानमें ओपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इस प्रकार तीनों ही भाव होते हैं।

भावार्थ—औदयिक आदि शब्दोंका अर्थ स्पष्ट है अर्थात् कर्मोंके उदयसे होनेवाले आत्माके परिणामोंको औदयिक भाव, प्रतिपक्षी कर्मके उपशमसे होनेवाले जीवके परिणामोंको औपशमिक भाव, कर्मके क्षयसे—प्रतिपक्षी कर्मका निर्मूल अभाव हो जानेपर प्रकट होनेवाले जीवके भावको क्षायिक भाव कहते हैं। प्रतिपक्षी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके वर्तमान निषेकोंके बिना फल दिये ही निर्जरा होनेपर और उन्हींके (सर्वघाति स्पर्धकोंके) आगामी निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम रहनेपर एवं देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिनमें कर्मोंके इन उदय आदि चारों ही प्रकारोंकी अपेक्षा नहीं है ऐसे जीवके परिणामोंको पारिणामिक भाव कहते हैं।

उक्त चारों ही गुणस्थानोंके भाव किस अपेक्षासे कहे हैं, उनको हेतुपूर्वक दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं।

एदे भावा णियमा, दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो, अविरदअंतेसु ठाणेसु[2] ॥ १२ ॥

एते भावा नियमा, दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिताः खलु।
चारित्रं नास्ति यतोऽविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें जो नियमरूपसे औदयिकादिक भाव कहे हैं वे दर्शन मोहनीय कर्मकी अपेक्षासे हैं। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नहीं पाया जाता।

भावार्थ—मिथ्यादृष्ट्यादि सभी गुणस्थानोंमें यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो केवल औदयिकादि भाव ही नहीं होते, किन्तु क्षायोपशमिकादि भाव भी होते हैं; तथापि यदि केवल दर्शन-

---

१—षट् खं. भावानु. सूत्र नं. २, ३, ४, ५।

२—देखो षट् खं. भावानु. सूत्र ३ की धवला।

मोहनीयकर्मकी अपेक्षासे देखा जाय तो औदयिकादि भाव ही हुआ करते हैं : क्योंकि प्रथम गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमात्रकी अपेक्षा है। इसलिये औदयिकभाव ही हैं। द्वितीय गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा ही नहीं है इसलिये पारिणामिक भाव ही हैं। तृतीय गुणस्थानमें जात्यन्तर सर्वघाति मिश्रप्रकृतिका उदय है इसलिये क्षायोपशमिक भाव कहे गये हैं। इसी प्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशम तीनोंका ही सद्भाव पाया जाता है इसलिये तीनों ही प्रकारके भाव बताये गये हैं।

विशेष यह कि यद्यपि यहाँ पर सासादन गुणस्थानमें पारिणामिक भाव कहा है। किन्तु ग्रन्थान्तरोंमें अन्य आचार्योंने इस गुणस्थानमें औदयिक भाव भी[1] बताया है। क्योंकि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धिचतुष्कका उपशम होजानेके बाद अनन्तानुबन्धी कषायोंमेंसे किसी भी एकके उदयमें आजाने पर सम्यक्त्वकी विराधना—आसादनासे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है। अतएव अनन्तानुबन्धीके उदयको दृष्टिमें मुख्यतया रखनेवाले आचार्य यहाँ पर औदयिक भाव बताते हैं। किन्तु दर्शनमोहनीयको दृष्टिमें रखनेवाले आचार्य पारिणामिक भाव कहते हैं। क्योंकि दर्शन मोहनीयको उदय आदि चार अवस्थाओंमेंसे किसीकी भी यहाँ अपेक्षा नहीं है।

यद्यपि तीसरा गुणस्थान मिश्र प्रकृतिके उदयसे होता है अतएव उसमें औदयिक भाव कहना चाहिये। और उसमें देशघाति कर्मप्रकृतिके न रहनेसे क्षायोपशमिक भाव कहा भी नहीं जा सकता; फिर भी प्रकारान्तरसे यहाँ क्षायोपशमिकपना बताया गया है। क्योंकि इस मिश्र प्रकृतिको अन्य सर्वघातियोंके समान न मानकर[2] जात्यन्तर सर्वघाति कहा गया है। टीकाकारोंने यहाँपर क्षायोपशमिकपना इस तरह बताया है कि मिथ्यात्व प्रकृतिके सर्वघाति स्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय, सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय, और अनुदयप्राप्त निषेकोंका उपशम होनेपर क्षायोपशमिक मिश्रभाव[3] होताहै। अथवा सर्वथा घात करनेवाले अनुभागयुक्त स्पर्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और हीन अनुभागरूपसे परिणत स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम एवं देशघातिस्पर्धकोंका उदय[4] रहनेपर जो मिश्र परिणाम होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव हैं। फिर भी यहाँ यह ज्ञातव्य[5] है कि किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने इस मिश्र गुणस्थानके भावको औदयिक भी कहा है और माना है।

१—अथ मतं द्वितीयगुणग्रहणमिह कर्तव्यम्। कोऽसौ द्वितीयगुणः ? सासादनसम्यग्दृष्टिः। सोऽपि जीवस्य साधारणः पारिणामिकः, एवं ह्यार्षे उक्तम् "सासादनसम्यग्दृष्टिरिति को भावः ? पारिणामिको भाव इति (भावानुगम. सू. ३ पृ. १९६) न कर्तव्यम्। कुतः तस्य नयापेक्षत्वात्। मिथ्यात्वकर्मण उदयं क्षयमुपशमं वा नापेक्षत इत्यार्षे पारिणामिकः। इह पुनरसावौदयिक इत्येवं गृह्यतेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयात्तस्य निर्वृतेः॥ त. राजवार्तिक अ. २ सू. ७ वार्तिक ११ का भाष्य।

२–देखो गाथा नं. २१। ३–जीवप्रबोधिनी टीका, गाथा नं. ११। ४–गाथा नं. ११ की मन्दप्रबोधिनी टीका। ५–तत्वार्थश्लोकवार्तिक अ. २ सूत्र ६ वार्तिक ८ यथा–सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कर्मोदयजन्मकं। मतमौदयिकं कैश्चित् क्षायोपशमिकं स्मृतम्॥

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें तीनों भाव बताये हैं। इससे प्रथम तीन गुणस्थानोंमें निर्दिष्ट औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक ये तीन भाव नहीं लेकर "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" के आधार पर सम्यक्त्वके विरोधी पाँच[1] अथवा सात कर्मोंके उपशमादिसे होनेवाले औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन भाव ही लेने चाहिये।

पंचमादि गुणस्थानोंमें जो जो भाव होते हैं उनको दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं,

देसविरदे पमत्ते, इदरे व खओवसमियभावो दु।
सो खलु चरित्तमोहं, पडुच्च भणियं तहा उवरिं[2]॥ १३॥

देशविरते प्रमत्ते, इतरे च क्षायोपशमिकभावस्तु।
स खलु चरित्रमोहं, प्रतीत्य भणितस्तथा उपरि॥ १३॥

अर्थ—देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, इन गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव होते हैं। तथा इनके आगे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंमें भी चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ही भावोंको कहेंगे।

विशेष यह कि गाथाके पूर्वार्धके अन्तमें जो तु शब्द दिया है, उसका अर्थ 'अपि' अर्थात् 'भी' ऐसा न करके अवधारणरूप "एव" अर्थात् 'ही' ऐसा करना चाहिये। क्योंकि यहाँ दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा ही नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे होनेवाले तीनों ही भाव यहाँ पर पाये जाते हैं। किन्तु चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे जिसकी कि यहाँपर विवक्षा है क्षायोपशमिक भाव ही पाया जाता है।

अप्रमत्तविरतसे ऊपरके गुणस्थान उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणीकी अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त हैं। अतएव उन दोनों भागोंको लक्ष्यमें रखकर उनमें पाये जानेवाले भावोंको बताते हैं।

तत्तो उवरिं उवसमभावो, उवसामगेसु खवगेसु।
खइओ भावो णियमा, अजोगिचरिमो त्ति सिद्धे य[3]॥ १४॥

तत उपरि उपशमभावः, उपशामकेषु क्षपकेषु।
क्षायिको भावो नियमात्, अयोगिचरिम इति सिद्धे च॥ १४॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानसे ऊपर उपशमश्रेणीवाले आठवें नौवें दशवें गुणस्थानमें तथा ग्यारहवें उपशांतमोहमें औपशमिक भाव ही होते हैं। इसी प्रकार क्षपकश्रेणीवाले उक्त तीनों ही गुणस्थानोंमें तथा क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली इन तीन गुणस्थानोंमें और गुणस्थानातीत

१—अनादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा पाँच और सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सात।
२—छक्खं. भावाणु, सूत्र ७।
३—छक्खं. भावाणु, सूत्र ८, ९।

सिद्धोंके नियमसे क्षायिक भाव ही पाया जाता है। क्योंकि उपशमश्रेणीवाला तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम करता है। और ग्यारहवेंमें सम्पूर्ण चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम कर चुकता है। इसलिये यहाँ पर औपशमिक भाव ही हुआ करते हैं। इसीतरह क्षपकश्रेणीवाला उन्हीं इक्कीस प्रकृतियोंका उन्हीं तीन गुणस्थानोंमें क्षपण करता है और क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली तथा सिद्धस्थानमें पूर्णतया क्षय होचुका है, इसलिये इन स्थानोंमें क्षायिकभाव ही होता है।

यहाँ इन सब भावोंका कथन चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ही है। शेप कर्मोंकी अपेक्षासे अन्य भाव भी पाया जाता है। परन्तु मुख्यतया सिद्धोंके केवल क्षायिकभाव ही रहा करता है।

इस प्रकार संक्षेपसे सम्पूर्ण गुणस्थानोंमें होनेवाले भाव और उनके निमित्तको दिखाकर गुणस्थानोंके लक्षणका कथन क्रमप्राप्त है, इसलिये प्रथम गुणस्थानका लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं।

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु[1] तच्च-अत्थाणं।
एयंतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं ॥१५॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानाम्।
एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥ १५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे होनेवाले तत्त्वार्थके अश्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं–एकान्त, विपरीत, विनय, संशयित और अज्ञान।

अनेक धर्मात्मक पदार्थको किसी एक धर्मात्मक मानना, इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही है, अथवा अवक्तव्य ही है।

धर्मादिकके स्वरूपको विपर्ययरूप मानना इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे यह मानना कि हिंसासे स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रोंमें समान बुद्धि रखने और उनका समान सत्कारादि करनेको विनय मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे जिन और बुद्ध तथा उनके धर्मको समान समझना तथा उनका समान सत्कारादि करना। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गकी अपेक्षा न रखकर केवल गुरुओंके विनयसे ही मोक्ष होती है, ऐसा मानना भी विनय मिथ्यात्व है।

समीचीन तथा असमीचीन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसी भी एक पक्षका निश्चय न होना इसको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। जैसे सग्रन्थ लिङ्ग मोक्षका साधन है या निर्ग्रन्थ लिङ्ग, अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इनकी एकता मोक्षका साधन है या यागादिकर्म, इसीतरह

१—गाथामें प्रयुक्त "तु" शब्दके कारण दो तरहसे अर्थ करना चाहिये। तत्त्वार्थका अश्रद्धान इसके सिवाय अतत्त्वार्थका श्रद्धान ऐसा भी एक अर्थ करना चाहिये।

कर्मोंके सर्वथा अभावसे प्रकट होनेवाली अनन्तगुणविशिष्ट आत्माकी शुद्धअवस्थाविशेषको मोक्ष कहते हैं, यद्वा बुद्धि-सुख-दुःखादि विशेष गुणोंके उच्छेदको मोक्ष कहते हैं।

जीवादि पदार्थोंको "यही है, इसी प्रकारसे है" इस तरह विशेषरूपसे न समझनेको अज्ञान-मिथ्यात्व कहते हैं।

इस तरह सामान्यसे मिथ्यात्वके ये पाँच भेद हैं। विस्तारसे असंख्यात लोकप्रमाणतक भेद हो सकते हैं।

उक्त मिथ्यात्वके पाँच भेदोंके दृष्टान्त बताते हैं।

एयंत बुद्धदरसी, विवरीओ बह्म तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइयो, मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥१६॥

एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः।
इन्द्रोऽपि संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ॥ १६ ॥

अर्थ--ये केवल दृष्टान्तमात्र हैं। इसलिये प्रत्येक दृष्टान्तवाचक शब्दके साथ आदि शब्द और लगा लेना चाहिये। अर्थात् बौद्धादि मतवाले एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं। याज्ञिक ब्राह्मणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं। तापसादि विनय मिथ्यादृष्टि हैं। इन्द्र नामक श्वेताम्बर[1] गुरु प्रभृति संशयमिथ्यादृष्टि हैं। और मस्करी (मंखलिगोशाल ?) आदिक अज्ञानमिथ्यादृष्टि हैं।

प्रकारान्तरसे मिथ्यात्वका लक्षण कहते हैं।

मिच्छत्तं वेदंतो, जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो[2] ॥ १७ ॥

मिथ्यात्वं विदन् जीवो विपरीतदर्शनो भवति।
न च धर्मं रोचते हि, मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः ॥ १७ ॥

अर्थ--मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्या परिणामोंका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानवाला हो जाता है। उसको जिस प्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मीठा रस भी अच्छा मालूम नहीं होता उसी प्रकार यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालुम होता—रुचिकर नहीं होता।

१—जी. प्र. तथा मं. प्र. दोनों ही टीकाओंमें इन्द्रका अर्थ श्वेताम्बर गुरु ही किया है। परन्तु हमारी समझसे यह भगवान् महावीरस्वामीके समकालीन अनेक दि. जैन लिंगसे भ्रष्ट होकर अपने अपने मतके प्रवर्तक कुतीर्थंकरोंमेंसे कोई एक होना चाहिये जिसका कि पक्ष एक सत्य पक्षका निश्चय न कर सकना रहा होगा।

२—मूलाराधना पृ. १४० में नं० ४१ पर भी यही गाथा है। तथा षट्खं. सं. सु., विवरण पृ. १६२ में नं. १०६ पर भी उक्तं च करके यही गाथा उद्धृत है।

भावार्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जो जीव देव, शास्त्र, गुरुके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यहाँपर जो "च" शब्द डाला है उससे यह अभिप्राय समझना चाहिये कि यदि कोई जीव बाहरसे सम्यग्दृष्टिके समान आचारण करे और अन्तरंगसे उसके विपरीत परिणाम हों तो वह यथार्थमें मिथ्यादृष्टि ही है।

इस अर्थको दृढ़ करने और अच्छी तरह समझानेके लिये मिथ्यादृष्टिके बाह्य चिन्होंको दिखाते हैं।

मिच्छाइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं[1] ॥ १८ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीवः उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्दधाति।
श्रद्दधाति असद्भावमुपदिष्टं वानुपदिष्टम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओं के पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित और हितके करनेवाले भी वचनोंका यथार्थ श्रद्धान नहीं करता। किन्तु इसके विपरीत आचार्याभासों के द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका इच्छानुसार श्रद्धान करता है।

विशेष मिथ्यात्वका वर्णन यहाँ चार गाथाओंमें किया गया है। संक्षेपमें यह समझ लेना चाहिये कि मिथ्यात्व यह सम्यग्दर्शनका ठीक विरोध भाव है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदिमें और इस जीवकाण्डमें सम्यग्दर्शनके जो लक्षण विषय कारण बताये गये हैं उनके ठीक विपरीत भावों और उनके कारणों आदिका मिथ्यात्वके सम्बन्धमें निर्देश किया गया है।

नं० १५ की गाथामें मिथ्यात्वका स्वरूप, कारण, विषय और भेद इस तरह चार बातें बताई गई हैं। भेदोंकी संख्या पाँच है, जिससे मालूम होता है कि मिथ्यात्वके सभी प्रकार इन पांच भेदोंमें गर्भित होजाते हैं। किन्तु धवलामें कहा गया है कि मिथ्यात्वके पाँच ही भेद हैं ऐसा नियम नहीं है, पाँच भेद जो कहे गये हैं, वह केवल उपलक्षणमात्र[2] हैं। नं० १६ की गाथामें दृष्टांतरूपसे जो पाँच नाम बताये गये हैं वे प्रायः उन व्यक्तियोंके हैं जो कि भगवान महावीरस्वामीसे समकालीनता रखते हैं और उनसे कुछ दिन पूर्व ही दि. जैन दीक्षा धारण कर चुके थे और पीछे जिन्होंने विभिन्न कारणोंसे भ्रष्ट एवं विरुद्ध होकर अपनेको तीर्थंकर बताते हुए महावीरस्वामी या जैनागमके विरुद्ध उपदेश देना शुरू किया था। वास्तवमें भावरूप मिथ्यात्वके सभी भेद अनादि हैं। जिन व्यक्तियोंके ये नाम हैं वे पर्यायार्थिक नयसे अपने समयके वर्णनके उपज्ञवक्ता हैं और अतत्त्वके प्रतिपादक होनेसे आप्ता-भास हैं।

१—मूलाराधना पृ. १३८ में नं. ४० पर यही गाथा है। केवल मिच्छाइट्ठीकी जगह "मोहोदयेण" पाठ पाया जाता है। तथा छक्खं. चूलियामें नं० १५ पर यही गाथा है परन्तु वहाँ "जीवो" की जगह "णियमा" पाठ है। ल. सा. गा. नं. १०९ में यही पाठ है।

२—इति वचनात् (जावदिया वयणवहा इत्यादि) न मिथ्यात्वपंचकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पंचविधं मिथ्यात्वमिति। सं. सु. पृ १६२

नं० १७ की गाथामें मिथ्यादृष्टिको जिस धर्मके न रुचनेकी बात कही गई है वह चार प्रकारका है–१—वस्तुस्वभाव एवं आत्माका शुद्धस्वभाव, २—उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप धर्म ३—रत्नत्रय और ४—दया। अतत्त्वश्रद्धानी या तत्त्वार्थके अश्रद्धानीको ये वास्तवमें नहीं रुचते।

नं० १८ में मिथ्यात्वके तीव्र, मंद, मध्यम, अथवा अनादि सादि आदि भेदोंका संकेत पाया जाता है।

इस तरह चार गाथाओंमें मिथ्यात्वके प्रायः सभी भागोंकी तरफ संक्षेपमें दृष्टि डाली गई है। मुख्य विषय भी चार ही हैं—स्वरूप, संख्या, विषय, और फल।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानका स्वरूप, उसके भेद, भेदोंके दृष्टांत तथा वाह्य चिन्होंको दिखाकर अब क्रमानुसार दूसरे सासादन गुणस्थानका स्वरूप बताते हैं।

आदिमसम्मत्तद्धा, समयादो छावलि त्ति वा सेसे।
अणअण्णदरुदयादो, णासियसम्मो त्ति सासणक्खो सो ॥ १९ ॥

आदिमसम्यक्त्वाद्धा, आसमयतः षडावलिरिति वा शेषे।
अनान्यतरोदयात्, नाशितसम्यक्त्व इति सासनाख्यः सः ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अथवा यहाँपर वा शब्दका ग्रहण किया है, इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्तमात्र कालमेंसे जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने कालमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसीके भी उदयमें आनेसे सम्यक्त्वकी विराधना होनेपर सम्यग्दर्शन गुणकी जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है, उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं।

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासियसम्मत्तो सो, सासणणामो मुणेयव्वो[1] ॥ २० ॥

सम्यक्त्वरत्नपर्वतशिखरात् मिथ्यात्वभूमिसमभिमुखः।
नाशितसम्यक्त्वः सः सासननामा मन्तव्यः ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके सम्मुख हो चुका है, अतएव जिसने सम्यक्त्वकी विराधना (नाश) करदी है, और मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं किया है, उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं। भावार्थ–जिस प्रकार पर्वतसे गिरनेपर और भूमिपर पहुँचनेके पहले मध्यका जो काल है वह न पर्वतपर ठहरनेका ही है, और न भूमिपर ही ठहरने का है; किन्तु अनुभय काल है। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायमेंसे किसी एकका उदय होनेसे

१—षट्खण्डागम संतसुत्त-जीवट्ठाण पृ. १६६ में उक्तं च करके नं० १०८ पर यह गाथा उद्धृत है।

सम्यक्त्वपरिणामोंके छूटनेपर, और मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय न होनेसे मिथ्यात्व परिणामोंके न होनेपर मध्यके अनुभयकालमें जो परिणाम होते हैं, उनको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं। यहाँपर जो सम्यक्त्वको रत्नपर्वतकी उपमा दी है, उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रत्नपर्वत अनेक रत्नोंका उत्पन्न करनेवाला और उन्नत स्थानपर पहुँचानेवाला है उस ही प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यग्ज्ञानादि अनेक गुणरत्नोंको उत्पन्न करनेवाला है, और सबसे उन्नत मोक्षस्थानपर पहुँचाने वाला है।

प्राय: सर्वत्र इस गुणस्थानका नाम निर्देश करते समय सासन शब्दका ही प्रयोग किया है। देखो गाथा नं० ९, १९ तथा २०। इसके सिवाय संतसुत्त विवरणके सूत्र नं० १० में भी सासनशब्द ही पढ़ा है। किन्तु अर्थ करते समय प्राय: सासादन शब्दको दृष्टिमें रक्खा है। दोनों ही शब्द निरुक्तिसिद्ध हैं। असनका अर्थ होता है नीचेको गिरना और आसादनाका अर्थ होता है विराधना। क्योंकि यह जीव मिथ्यात्वकी तरफ नीचेको गिरता है, और यह कार्य सम्यक्त्वकी विराधनासे होता है। अतएव दोनों ही अर्थ संगत हैं।

प्रश्न यह हो सकता है, कि अनन्तानुबन्धीके उदयसे यदि सम्यक्त्वका विनाश होता है, तो उसे दर्शनमोहनीयके भेदोंमें गिनना चाहिये। यदि वह चारित्रमोहनीयका भेद है, तो उससे सम्यक्त्वका विराधन नहीं हो सकता, और ऐसी अवस्थामें इस गुणस्थानका संभव ही नहीं रहता है। दूसरी बात यह है कि अनन्तानुबन्धीके उदयसे यदि सम्यक्त्वका नाश हो जाता है तो जिस जीवके ऐसा हो तो फिर उसको मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये? किन्तु इसका उत्तर यह है कि यहाँपर जो कथन किया गया है उसका फल अनन्तानुबन्धीकषायकी द्विस्वभावताको बताना[1] है। यद्यपि सूत्रमें कहींपर भी इस कषायको दोनों तरफ गिना नहीं है फिर भी प्रकृत कथनसे यह फलितार्थ निकलता है कि अनन्तानुबन्धीमें सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनोंके ही घात करनेका स्वभाव पाया जाता है। इसके सिवाय मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि दोनोंके विपरीतार्थवेदनमें बहुत बड़ा अन्तर है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें अतत्त्वार्थ श्रद्धान व्यक्त और सासादन गुणस्थानमें अव्यक्त हुआ करता है। अतएव इस गुणस्थानका पृथक् निर्देश उचित ही है। इस गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टि शब्दका जो प्रयोग किया गया है वह भूतपूर्वगतिकी अपेक्षासे समझना चाहिये।

क्रमप्राप्त तृतीय गुणस्थानका लक्षण करते हैं।

सम्मामिच्छुदयेण य, जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य, सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च, जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण।
न च सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च, सम्मिश्रो भवति परिणाम: ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्माके गुणको सर्वथा घातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोंसे

१—किमिति मिथ्यादृष्टिरिति न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। ....सूत्रे तथानुपदेशोऽप्यर्पितनयापेक्ष: ॥

—जीवट्ठाण संत सुत. पृ. १६५ धवला।

विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्रगुणस्थान कहते हैं। शङ्का—यह तीसरा गुणस्थान बन नहीं सकता, क्योंकि मिश्ररूप परिणाम ही नहीं हो सकते। यदि विरुद्ध दो प्रकारके परिणाम एक ही आत्मा और एक ही कालमें माने जाँय तो शीत उष्णकी तरह परस्पर सहानवस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा। यदि क्रमसे दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति मानी जाय, तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता। समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि मित्रामित्रन्यायसे एक काल और एक ही आत्मामें मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार देवदत्त नामक किसी मनुष्यमें यज्ञदत्तकी अपेक्षा मित्रपना और चैत्रकी अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एक ही कालमें रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है। उस ही प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थके स्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभासकथित अतत्त्व-श्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मामें घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष[1] नहीं हैं।

उक्त अर्थको ही दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सयभावो, सम्मामिच्छो त्ति णादव्वो[2] ॥ २२ ॥

दधिगुडमिव व्यामिश्रं, पृथग्भावं नैव कर्तुं शक्यम्।
एवं मिश्रकभावः, सम्यग्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दही और गुड़को परस्पर इस तरहसे मिलानेपर कि फिर उन दोनोंको पृथक्-पृथक् नहीं कर सकें, उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है। उस ही प्रकार मिश्रपरिणामोंमें भी एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

इस गुणस्थानमें होनेवाली विशेषताको दिखाते हैं।

सो संजमं ण गिण्हदि, देसजमं वा ण बंधदे आउं।
सम्मं वा मिच्छं वा, पडिवज्जिय मरदि णियमेण[3] ॥ २३ ॥

स संयमं न गृह्णाति, देशयमं वा न बध्नाति आयुः।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देशसंयमको ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थानमें आयुकर्मका वन्ध ही होता है। तथा इस गुणस्थानवाला जीव यदि मरण

१—न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवताऽपरित्यागेनार्हन्नपि देव इत्यभिप्रायवतः पुरुपस्योपलम्भात् ॥ —पट्खं० संतसु. धवला पृ. १६७। तथा देखो यशस्तिल. आ. ६. पृ. २८२ के पद्य, और गा. २२ की मंदप्रबोधिनी टीका।

२—धवला खण्ड १ पृ. १७० गाथा नं० १०९।

३—पट्खं० ४ गा. ३३ तथा खं. ५ पृ. ३।

करता है तो नियमसे[1] सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोंको प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता।

उक्त अर्थको और भी स्पष्ट करते हैं।

सम्मत्त-मिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्धं।
तहिं मरणं मरणंतसमुग्घादो वि य ण मिस्सम्मि[2] ॥ २४ ॥

सम्यक्त्व-मिथ्यात्वपरिणामेषु यत्रायुष्कं पुरा बद्धम्।
तत्र मरणं मारणान्तसमुद्घातोऽपि च न मिश्रे ॥ २४ ॥

अर्थ—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीवने तृतीय गुणस्थानको प्राप्त करनेसे पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूपके परिणामोंमेंसे जिस जातिके परिणाम कालमें आयुकर्मका बन्ध किया हो उस ही तरहके परिणामोंके होनेपर उसका मरण होता है, किन्तु मिश्र गुणस्थानमें मरण नहीं होता। और न इस गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात[3] ही होता है।

चतुर्थ गुणस्थानका लक्षण बतानेके पूर्व उसमें होनेवाले सम्यग्दर्शनके औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीन भेदोंमेंसे प्रथम क्षायोपशमिकका लक्षण करते हैं।

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलिनमगाढं तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥ २५ ॥

सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम्।
चलं मलिनमगाढं, तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ २५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनगुणको विपरीत करनेवाली प्रकृतियोंमेंसे देशघाति सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होने पर (तथा अनन्तानुबंधिचतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियोंके आगामी निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी विना फल दिये ही निर्जरा होने पर) जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। वे परिणाम, चल, मलिन, या अगाढ़ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट छयासठ सागरपर्यन्त कर्मोंकी निर्जराके कारण हैं।

जिस प्रकार एक ही जल अनेक कल्लोलरूपमें परिणत होता है, उस ही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हन्तोंमें समान अनन्त शक्तिके होनेपर भी 'श्रीशान्तिनाथजी शान्तिके लिये और श्रीपार्श्वनाथजी रक्षा करनेके लिये समर्थ हैं' इस तरह नाना विषयोंमें चलायमान होता

१—अन्य आचार्योंके मतानुसार यह नियम नहीं है। मं. प्र.।

२—षट् खं. ४ पृ. ३४९ खं. ५ पृ. ३१। ३—मूल शरीरको विना छोड़े ही आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना इसको समुद्घात कहते हैं। उसके सात भेद हैं–वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहार और केवल। मरणसे पूर्व होनेवाले समुद्घातको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

—बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १०।

है उसको चल सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मलके निमित्तसे मलिन कहा जाता है, उस ही तरह सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं। जिस तरह वृद्ध पुरुषके हाथमें ठहरी हुई भी लाठी काँपती है उस ही तरह जिस सम्यग्दर्शन के होते हुए भी अपने बनवाये हुए मन्दिरादिमें 'यह मेरा मन्दिर है' और दूसरेके बनवाये हुए मन्दिरादिमें 'यह दूसरेका है' ऐसा भाव हो उसको अगाढ़ सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—उपशमके प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह दो प्रकार हैं। विवक्षित प्रकृति यदि उदय योग्य न हो और स्थिति अनुभाग, उत्कर्षण अपकर्षण तथा संक्रमणके योग्य हों तो उस उपशमको अप्रशस्त कहते हैं। तथा जहाँ पर विवक्षित प्रकृति उदययोग्य भी न हो और उत्कर्षण अपकर्षण एवं संक्रमणयोग्य भी न हो तो वहाँ प्रशस्त उपशम कहा जाता है। अनन्तानुबन्धी कषायका प्रशस्तोपशम नहीं माना है, अतएव अनन्तानुबन्धी कषायका अप्रशस्तोपशम अथवा विसंयोजन होने पर एवं दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृतिका प्रशस्त या अप्रशस्त उपशम अथवा क्षयोन्मुखताके होनेपर और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर जो तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणाम होते हैं, उनको ही वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँपर जीव सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका वेदन—अनुभवन करता है, इसलिये इसको वेदक कहते हैं।

गाथामें आये हुए नित्य शब्दका अभिप्राय अविनश्वर नहीं किन्तु अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छ्यासठ सागर तकके कालके प्रमाणसे है जैसा कि ऊपर बताया गया है। अथवा इसका आशय ऐसा भी हो सकता है कि कर्मोंके क्षपणका यह करण—असाधारण कारण है। यह बात केवल इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके विषयमें ही नहीं किन्तु वक्ष्यमाण औपशमिक एवं क्षायिकके विषयमें भी समझनी चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनके साहचर्यके विना संवर निर्जरा नहीं हो सकती, यह ध्रुव नियम है। इस ध्रुव नियमको स्पष्ट करना ही नित्य शब्दका अभिप्राय है। इससे मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शनकी असाधारणता सूचित हो जाती है। तथा यह भी विशेषता व्यक्त होती है कि इस क्षायोपशमिक सम्यक्त्वके वेदक अथवा समल होते हुए भी वह कर्मक्षपणका कारण है। ध्यान रहे कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सभी गुणस्थानोंमें होनेवाली विशिष्ट निर्जराका मूल कारण सम्यग्दर्शन ही है।

चतुर्थ गुणस्थानमें उपदिष्ट सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंमेंसे एक भेद समल सम्यग्दर्शन-वेदकका स्वरूप बताकर अब शेष दो—मलदोषरहित औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शनोंका हेतुपूर्वक लक्षण और स्वरूप बताते हैं।

सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य।
विदियकसायुदयादो, असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

सप्तानामुपशमतः उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्तु क्षायिकं च।
द्वितीयकषायोदयादसंयतं भवति सम्यक्त्वं च ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक और सर्वथा क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दर्शनके साथ संयम बिलकुल नहीं होता। क्योंकि यहाँ पर

दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहा करता है। यही कारण है कि इस गुणस्थानवाले जीवको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन गुणकी विरोधिनी इन सात प्रकृतियोंके उपशम अथवा क्षय इन दोनों ही अवस्थाओंमें जो आत्माका सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है वह विशुद्धकी अपेक्षा समान है। फिर भी औपशमिक और क्षायिकमें प्रतिपक्षी कर्मोंके सद्भाव और असद्भावके कारण बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह कि क्षायिक सम्यग्दर्शन अन्त तक स्थिर रहता है। इस सम्यक्त्वसे युक्त जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, न आप्तागम पदार्थोंमें सन्देह करता है और न मिथ्यादृष्टियोंके अतिशय या चमत्कारको देखकर आश्चर्य ही करता[1] है। अर्थात् वेदक सम्यक्त्वमें पाये जानेवाले चल मलिन और अगाढ दोषोंसे वह रहित होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है। परन्तु उसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। उसके बाद वह प्रतिपक्षी कर्मोंमेंसे मिथ्यात्वके उदयमें आने पर मिथ्यादृष्टि, अनन्तानुवन्धी कषायमेंसे किसीके उदयमें आने पर सासादन सम्यग्दृष्टि, मिश्र प्रकृतिके उदयमें आने पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयमें आने पर समल वेदक सम्यक्त्वको जिसका कि स्वरूप ऊपरकी गाथामें बताया गया है प्राप्त करके असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानको प्राप्त होजाता है। अर्थात् इन चारमेंसे किसी भी एक अवस्थाको प्राप्त कर लेता है। कदाचित् ऊपरकी कषायों का क्षयोपशम भी यदि साथमें हो जाय तो वह पाँचवें, सातवें गुणस्थानोंको भी प्राप्त कर सकता है।

इस गुणस्थानके साथ असंयत शब्दका जो प्रयोग किया है वह अन्त्यदीपक है। अतएव असंयत भाव प्रथम गुणस्थानसे लेकर इस चतुर्थ गुणस्थानतक ही पाया जाता है। क्योंकि ऊपरके गुणस्थानोंमेंसे पाँचवेंके साथ देशसंयत या संयतासंयत और फिर उसके ऊपरके सभी गुणस्थानोंके साथ संयत विशेषण पाया जाता है।

इस गुणस्थानमें श्रद्धानकी अपेक्षा जो कुछ विशेषता है उसको दिखाते हैं।

सम्माइट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा[2] ॥ २७ ॥

सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं, प्रवचनं तु श्रद्दधाति।
श्रद्दधात्यसद्भावमज्ञायमानो गुरुनियोगात् ॥ २७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावश गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर लेता है। **भावार्थ**—स्वयंके अज्ञानवश "अरिहंतदेवका 'ऐसा ही उपदेश है" ऐसा समझकर यदि कदाचित् किसी पदार्थका विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहंतका उपदेश समझकर उस पदार्थका वैसा श्रद्धान किया है। परन्तु—

१—२—संतसु० धवला पृ. १७३ गाथा नं. ११०—१११।

सुत्तादो तं सम्मं, दरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदी ॥ २८ ॥

सूत्रात्तं सम्यक् दर्शयन्तं, यदा न श्रद्दधाति ।
स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्जीवस्तदा प्रभृति ॥ २८ ॥

अर्थ—गणधरादिकथित सूत्रके आश्रयसे आचार्यादिके द्वारा भले प्रकार समझाये जानेपर भी यदि वह जीव उस पदार्थका समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही कालसे मिथ्यादृष्टि होजाता है। **भावार्थ**—आगम दिखाकर समीचीन पदार्थके समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्वमें अज्ञानसे किये हुए अतत्त्वश्रद्धानको न छोड़े तो वह जीव उस ही कालसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

इसी चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवके असंयत विशेषणकी अपेक्षाको दृष्टिमें रखकर उसके आशय को स्पष्ट करनेके लिये विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

णो इंदियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि ।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो[1] सो ॥ २९ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो, नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि ।
यः श्रद्दधाति जिनोक्तं, सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—संयम दो प्रकारका होता है, एक इन्द्रियसंयम दूसरा प्राणसंयम। इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होनेको इन्द्रियसंयम, और अपने तथा परके प्राणोंकी रक्षाको प्राणसंयम कहते हैं। इस गुणस्थानमें दोनों संयमोंमें से कोई भी संयम नहीं होता, अतएव इसको अविरतसम्यग्दृष्टि कहते हैं। परन्तु इस गुणस्थानके लक्षणमें जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि वह विना प्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त भी नहीं होता[2]। क्योंकि यहाँ असंयम भावसे प्रयोजन अप्रत्याख्यानावरणादि कषायके क्षयोपशमसे पाँचवें आदि गुणस्थानोमें पाये जानेवाले देशसंयम तथा आगेके संयमभावके निषेधसे है। अतएव असंयत कहनेका अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टिकी प्रवृत्ति मिथ्यादृष्टिके समान अथवा अनर्गल हुआ करती है। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानमें ४१ कर्मप्रकृतियोंके बंधका व्युच्छित्तिके नियमानुसार[3] अभाव हो जाया करता है। अतएव ४१ कर्मोंके बन्धकी कारणभूत प्रवृत्तियाँ उसके न तो होती ही हैं और न उनका होना संभव ही है। अतएव उसकी अन्तरंग बहिरंग प्रवृत्तिमें नीचेके तीन गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा महान् अन्तर हो जाया करता है।

पंचम गुणस्थानका लक्षण कहते है।

१—अपि शब्देन संवेगादिसम्यक्त्वगुणाः सूच्यन्ते। जी. प्र.। २ अपिशब्देनानुकम्पादिगुणसद्भावान्निरपराधहिंसां न करोतीति सूच्यते। मन्दप.।

३—सोलस-पणवीस-णभं आदि कर्मकाण्ड, गाथा नं. ९४, ९५, ९६।

पच्चक्खाणुदयादो, संजमभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो, देववदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥

प्रत्याख्यानोदयात्, संयमभावो न भवति नवरि[1] तु ।
स्तोकव्रतो भवति ततो, देशव्रतो भवति पंचमः ॥ ३० ॥

अर्थ—यहाँपर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहनेसे पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यहाँ इतनी विशेपता होती है कि अप्रत्याख्यानावरण कपायका उदय न रहनेसे एकदेश व्रत होते हैं। अतएव इस गुणस्थानका नाम देशव्रत या देशसंयम है। इसीको पाँचवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ—प्रत्याख्यान शब्दका अर्थ त्याग-पूर्णत्याग सकलसंयम होता है। उसको आवृत करनेवाली कपायको प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। नामके एक देशका उच्चारण करनेपर पूरे नामका वोध हो जाता है। इसो न्यायसे यहाँ गाथामें प्रत्याख्यान शब्दका प्रयोग प्रत्याख्यानावरणके लिये किया गया है। यह हेतुवाक्य है। इससे एकदेश संयम और चारित्रकी अपेक्षा यहाँ पाया जानेवाला क्षायोपशमिक भाव ये दो बातें सूचित होती हैं। क्योंकि तृतीय कषायके उदयका मुख्यतया उल्लेख नीचेकी अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ कपायोंके उदयके अभावको व्यक्त करता है।

औदयिकादिक ५ भावोंमेंसे चारित्रकी अपेक्षा यहाँपर केवल क्षायोपशमिक भाव ही है। किन्तु सम्यक्त्वकी अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इन तीनमेंसे कोई भी एक भाव रह सकता है। किन्तु विना सम्यक्त्वके यह गुणस्थान नहीं हो सकता यह बात "पंचम" शब्दसे स्पष्ट होती है। क्योंकि मिथ्यात्वके उदयसे प्रथम अनन्तानुवन्धीके उदयसे द्वितीय, सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तीसरा और सम्यक्त्व प्रकृतिके साथ यद्वा उसके विना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे चतुर्थ गुणस्थान होता है। इसके अनन्तर ही अप्रत्याख्यानावरण कषायके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय एवं सदुपशमके साथ-साथ प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे क्षायोपशमिक देशचारित्र होकर यह पंचम गुणस्थान हुआ करता है।

कदाचित् यह शंका हो सकती है कि विना सम्यग्दर्शनके भी देशसंयमी देखे जाते हैं, अतएव इस गुणस्थानके लिये सम्यग्दर्शनकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है। विना सम्यक्त्वके संयम या देशसंयम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सं० अर्थात् सम्यक्-सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले यम-वाह्य विषयोंकी उपरतिको ही संयम कहा जाता है। यही वात जिनैकमति आदि शब्दोंके द्वारा आगेकी गाथामें स्पष्ट कर दी गई है।

विरत और अविरत दोनों धर्मोमें परस्पर विरोध है। अतएव इनका एक जगह सहवास नहीं रह सकता। किन्तु इस गुणस्थानको विरताविरत भी कहते हैं, सो किस तरह संभव हो सकता है? इसका उत्तर उपपत्ति पूर्वक देते हैं।

१—नवरि यह शब्द विशेपता अर्थका द्योतक एक अव्यय पद है।

जो तसवहाउ विरदो, अविरदओ तह य थावरवहादो ।
एक्कसमयम्हि जीवो, विरदाविरदो जिणेक्कमई[1] ॥ ३१ ॥

यस्त्रसवधाद्विरतः, अविरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एकसमये जीवो विरताविरतो जिनैकमतिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ त्रसकी हिंसासे विरत और उस ही समयमें स्थावरकी हिंसासे अविरत होता है, उस जीवको विरताविरत कहते हैं।

भावार्थ—यहाँपर जिन शब्द उपलक्षण है, इसलिये जिनशब्दसे जिनेन्द्रदेव, उनका उपदिष्ट आगम, और धर्म तथा उसके अनुसार चलनेवाले गुरुओंका भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् जिन-देव जिनागम, जिनधर्म और जिनगुरुओंका श्रद्धान करनेवाला जो जीव एक ही समयमें त्रसहिंसाकी अपेक्षा विरत और स्थावर हिंसाकी अपेक्षा अविरत होता है इसलिये उसको एक ही समयमें विरता-विरत कहते हैं। अर्थात् विरत और अविरत दोनों ही धर्म भिन्न-भिन्न कारणोंकी अपेक्षासे हैं अत-एव उनका सहावस्थान विरोध नहीं है।

जिस तरह गाथा नं. २९ में निर्दिष्ट अपि शब्दसे विशेष अर्थ सूचित किया गया है उसी तरह यहाँपर भी जो "तथा च" शब्द पड़ा है उसका अभिप्राय भी यह है कि विना प्रयोजन यह स्थावर हिंसाको भी नहीं करता।

क्रम प्राप्त छट्ठे गुणस्थानका लक्षण बताते हैं।

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य, तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

संज्वलननोकषायाणामुदयात् संयमो भवेद्यस्मात् ।
मलजननप्रमादोऽपि च तस्मात् खलु प्रमत्तविरतः सः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सकल संयमको रोकनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम होनेसे पूर्ण संयम तो हो चुका है, किन्तु उस संयमके साथ-साथ संज्वलन और नोकषायका उदय रहनेसे संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है। अतएव इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं।

भावार्थ—चौदह गुणस्थानोंमें यह छट्ठा गुणस्थान है। परन्तु पूर्ण संयम जिनमें पाया जाता है, उनमें यह सबसे पहला है। यहाँ पर पूर्ण संयमके साथ प्रमाद भी पाया जाता है। यह प्रमाद संज्वलन कषायके तीव्र उदय से हुआ करता है। आगेके गुणस्थानोंमें उसका मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय हुआ करता है। संज्वलनके तीव्र उदयमें भी प्रत्याख्यानावरणके अभावसे प्रकट हुए सकल संयमका घात करनेकी सामर्थ्य नहीं है, उससे प्रमादरूप मल ही उत्पन्न हो सकता है। इस गुणस्थानमें भी औदयिकादि पाँच भावोंमेंसे चारित्रकी अपेक्षा केवल क्षायोपशमिक भाव ही है; किन्तु सम्यक्त्वकी अपेक्षा पांचवें गुणस्थानके समान औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इन तीनमेंसे

१—संत सुत्त० पृ. १७५ गा. नं. ११२।

कोई भी एक भाव-सम्यग्दर्शन अवश्य पाया जाता है। क्योंकि यहाँ द्रव्यसंयमकी नहीं, अपितु भावसंयमकी ही अपेक्षा है। यद्यपि यहां संज्वलनका उदय पाया जाता है, फिर भी औदयिकभाव अभीष्ट-विवक्षित नहीं है। क्योंकि सकलसयम जो यहाँ हुआ है, वह संज्वलनके उदयसे नहीं किन्तु प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमसे हुआ है।

प्रमत्त गुणस्थानकी विशेषताओं को बताते हैं।

वत्तावत्तपमादे, जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुणसीलकलिओ, महव्वई चित्तलायरणो[1] ॥ ३३ ॥

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे, यो वसति प्रमत्तसंयतो भवति।
सकलगुणशीलकलितो महाव्रती चित्रलाचरणः[2] ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो महाव्रती सम्पूर्ण (२८) मूलगुण और शीलके भेदोंसे युक्त होता हुआ भी व्यक्त एवं अव्यक्त[3] दोनों प्रकारके प्रमादोंको करता है वह प्रमत्तसंयत गुणस्थानवाला है। अतएव वह चित्रल आचरणवाला माना गया है।

भावार्थ—इस छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिका आचरण संज्वलन कषायके तीव्र उदयसे युक्त रहनेके कारण चित्रल—चितकबरा—जहाँ पर दूसरे रंगका भी सद्भाव पाया जाय, हुआ करता है। और यह व्यक्त अव्यक्त दोनों ही प्रकारके प्रमादोंसे युक्त रहा करता है।

प्रकरणप्राप्त प्रमादोंका वर्णन करते हैं।

विकहा तहा कसाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरस[4] ॥ ३४ ॥

विकथास्तथा कषाया, इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च।
चतुः चतुः पञ्चैकैकं भवन्ति प्रमादाः खलु पञ्चदश ॥ ३४ ॥

अर्थ—चार विकथा—स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा, चार कषाय—क्रोध मान, माया, लोभ, पंच इन्द्रिय-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, एक निद्रा और एक प्रणय—स्नेह इस तरह कुल मिलाकर प्रमादोंके पन्द्रह भेद हैं।

१—वत्तावत्तपमाए जो वसइ पमत्तसंजदो होई। सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ११३ ॥ सं. तु.।

२—चित्तलाचरण इत्यपि पाठान्तरम्। चित्रं प्रमादमिश्रं लातीति चित्रलं अथवा चित्रलः सारंगस्तद्वत् शवलितं यद्वा चित्तं लातीति चित्तलम् आचरणं यस्यासौ ॥

३—जिसका स्वयं अनुभव हो सके अथवा कदाचित् जिसका दूसरेको भी परिज्ञान हो सके उसको व्यक्त और उससे विपरीतको अव्यक्त प्रमाद कहते हैं। "व्यक्ते-स्वसंवेद्ये"—जी प्र. तथा स्वसंवेद्यः परानुमेयश्च व्यक्तः—स्थूलः मं. प्र.।

४—पट्खं. सं. सुत्त उद्धृत गाथा नं. ११४। तत्र तु पण्णरसा इति पाठः।

भावार्थ—संयमके विरोधी कथा या वाक्यप्रबन्धको विकथा, इसी प्रकार जिससे संयम गुणका घात हो ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभरूप परिणामको कषाय, स्पर्शनादि इन्द्रियोंके द्वारा अपने अपने स्पर्शादि विषयमें रागभावके होनेको इन्द्रिय, स्त्यानगृद्धि आदि तीन कर्मोंके उदयसे अथवा निद्रा और प्रचलाके तीव्र उदयसे अपने विषयके सामान्य ग्रहणको रोकनेवाली जो जाड्यावस्था उत्पन्न होती है, उसको निद्रा, बाह्य पदार्थोंमें ममत्व परिणामको अथवा तीव्र हास्यादि नोकषायोंके उदयसे होनेवाले संक्लेश परिणामको प्रणय कहते हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर संज्वलन और तत्सम्बन्धी नोकषायके तीव्र उदयसे होनेवाले ही परिणाम प्रमाद शब्दसे विवक्षित हैं। इन पन्द्रह प्रमादोंके कारण सम्यग्दर्शन या गुण शील आदि कुशलानुष्ठानमें असावधानी अथवा अनादर आदि भाव हो जाया करते हैं। यही प्रमाद है जो कि संयतको प्रमत्त बना देता है। यह दशा अन्तर्मुहूर्तसे अधिक काल तक नहीं रहा करती, उसके बाद अप्रमत्त गुणस्थान[1] हो जाया करता है। और इन दोनों गुणस्थानोंमें इसी तरह हजारों वार परिवर्तन होता रहता है।

यहाँ पर प्रमादके मूलमें ५ प्रकार हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा, और प्रणय। इनके क्रमसे ४—४—५—१—१ भेद हैं, और सब मिलाकर १५ भेद होते हैं। सब संयोगी भंग ८० हैं जैसा कि आगे बताया गया है। विस्तारपूर्वक भेद करके भंग निकालने पर उनकी संख्या साढ़े सेंतीस हजार होती है। यथा विकथा[1] २५, कषाय २५, इन्द्रिय और अनिन्द्रिय मिलकर ६ और निद्रा ५ तथा मोह और प्रणयका युगल २। इन सबका परस्परमें गुणा करने पर ३७५०० भेद होते हैं।

अब प्रमादोंका विशेष वर्णन करनेके लिये उनके पाँच प्रकारोंका वर्णन करते हैं।

संखा तह पत्थारो, परियट्टण णट्ठ तह समुद्दिट्ठं।
एदे पंच पयारा, पमदसमुक्कित्तणे णेया॥ ३५॥

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्त्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम्।
एते पञ्च प्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेयाः॥ ३५॥

अर्थ—प्रमादके विशेष वर्णनके विषयमें इन पाँच प्रकारोंको समझना चाहिये। संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट और समुद्दिष्ट। आलापोंके भेदोंकी गणनाको संख्या, संख्याके रखने या निकालनेके क्रमको प्रस्तार, एक भेदसे दूसरे भेद पर पहुँचनेके क्रमको परिवर्तन, संख्याके द्वारा भेदके निकालनेको नष्ट और भेदको रखकर संख्या निकालनेको समुद्दिष्ट कहते हैं।

१—कारणवश नीचेकी कषायका उदय हो आने पर नीचेके भी गुणस्थान हो जाया करते हैं। क्योंकि छट्ठे गुणस्थानवालेके छह मार्ग हैं—एक ऊपरका सातवां और नीचेके पांचों गुणस्थान। देखो चरचाशतक पद्य ४४।

क्रमानुसार सबसे प्रथम संख्याकी उत्पत्तिका क्रम बताते हैं।

सव्वे पि पुव्वभंगा, उवरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु।
मेलंति त्ति य कमसो, गुणिदे उप्पज्जदे संखा॥ ३६॥

सर्वेऽपि पूर्वभङ्गा, उपरिमभङ्गेषु एकैकेषु।
मिलन्ति इति च क्रमशो, गुणिते उत्पद्यते संख्या॥ ३६॥

अर्थ—पूर्वके सब ही भङ्ग आगेके प्रत्येक भङ्गमें मिलते हैं, इसलिये क्रमसे गुणा करने पर संख्या उत्पन्न होती है।

भावार्थ—पूर्वके विकथाओंके प्रमाण चारको आगेकी कषायोंके प्रमाण चारसे गुणा करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक विकथा प्रत्येक कषायके साथ पाई जाती है। इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे १६) उसको पूर्व समझकर उसके आगेके इन्द्रियोंके प्रमाण पाँचसे गुणा करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक विकथा या कषाय प्रत्येक इन्द्रियके साथ पाई जाती है। इसके अनुसार सोलहको पाँचसे गुणने-पर अस्सी प्रमादोंकी संख्या निकलती है। निद्रा और प्रणय ये एक ही एक हैं, इसलिये इनके साथ गुणा करने पर संख्यामें वृद्धि नहीं हो सकती। अतएव इनसे गुणा करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब प्रस्तारक्रमको दिखाते हैं।

पढमं पमदपमाणं, कमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च।
पिंडं पडि एक्केक्कं, णिक्खित्ते होदि पत्थारो॥ ३७॥

प्रथमं प्रमादप्रमाणं, क्रमेण निक्षिप्य उपरिमाणं च।
पिण्डं प्रति एकैकं, निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः॥ ३७॥

अर्थ—प्रथम प्रमादके प्रमाणका विरलन कर क्रमसे निक्षेपण करके उसके एक एक रूपके प्रति आगेके पिण्डरूप प्रमादके प्रमाणका निक्षेपण करनेपर प्रस्तार होता है।

भावार्थ—प्रथम विकथा प्रमादका प्रमाण ४, उसका विरलन कर क्रमसे १११९ इस तरह निक्षेपण करना। इसके ऊपर कषायप्रमादके प्रमाण चारको प्रत्येक एकके ऊपर $\frac{4}{1}\frac{4}{1}\frac{4}{1}\frac{4}{1}$ इस तरह निक्षेपण करना, ऐसा करनेके अनंतर परस्पर (कषायको) जोड़ देनेपर १६ सोलह होते हैं। इन सोलहका भी पूर्वकी तरह विरलन कर एक एक करके सोलह जगह रखना तथा प्रत्येक एकके ऊपर आगेके इन्द्रियप्रमादका प्रमाण पाँच पाँच रखना। ऐसा करनेसे पूर्वकी तरह परस्पर जोड़नेपर अस्सी प्रमाद होते हैं। इसको प्रस्तार कहते हैं। इससे यह मालूम हो जाता है कि पूर्वके समस्त प्रमाद, आगेके प्रमादके प्रत्येक भेदके साथ पाये जाते हैं।

प्रस्तारका दूसरा क्रम बताते हैं।

णिक्खित्तु विदियमेत्तं, पढमं तस्सुवरि विदियमेक्केक्कं।
पिंडं पडि णिक्खेओ, एवं सव्वत्थ कायव्वो॥ ३८॥

निक्षिप्त्वा द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेकैकम्।
पिण्डं प्रति निक्षेप, एवं सर्वत्र कर्तव्यः॥ ३८॥

अर्थ—दूसरे प्रमादका जितना प्रमाण है उतनी जगहपर प्रथम प्रमादके पिण्डको रखकर, उसके ऊपर एक एक पिण्डके प्रति आगेके प्रमादमेंसे एक एकका निक्षेपण करना, और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना।

भावार्थ—दूसरे कषाय प्रमादका प्रमाण चार है, इसलिये चार जगह पर प्रथम विकथा-प्रमादके पिण्डका स्थापन करके उसके ऊपर अर्थात् प्रत्येक पिण्डके प्रति एक एक कषायका (१/४ १/४ १/४ १/४) इस तरह से स्थापन करना। इनको परस्पर जोड़नेसे सोलह होते हैं। पुनः इन सोलहको भी प्रथम समझकर, इनसे आगेके इन्द्रिय प्रमादका प्रमाण पाँच है, इसलिये सोलहके पिण्डको पाँच जगह रखकर पीछे प्रत्येक पिण्ड पर क्रमसे एक एक इन्द्रियका स्थापन करना (५/१६ १/१६ १/१६ १/१६ १/१६)। इन सोलहको इन्द्रियप्रमादके प्रमाण पाँचसे गुणा करने पर या पाँच जगह पर रक्खे हुए सोलहको परस्पर जोड़नेसे प्रमादोंकी संख्या अस्सी निकलती है।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तनको[1] कहते हैं।

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो[2] ॥ ३९ ॥

तृतीयाक्ष अन्तगत आदिगते, संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते, संक्रामति प्रथमाक्षः ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्रमादका तृतीय स्थान अन्तको प्राप्त होकर जब फिरसे आदिस्थानको प्राप्त होजाय तब प्रमादका दूसरा स्थान भी बदल जाता है। इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदिको प्राप्त हो जाय तब प्रथम प्रमादका स्थान बदलता है। निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है, इसलिये इनमें अक्षसंचार नहीं होता।

भावार्थ—तीसरा इन्द्रियस्थान जब स्पर्शनादिके क्रमसे क्रोध और प्रथम विकथा पर घूमकर अन्तको प्राप्त हो जाय तब दूसरे कषायस्थानमें क्रोधका स्थान छूटकर मानका स्थान होता है। इसी प्रकार क्रमसे जब कषायका स्थान भी पूर्ण हो जाय तब विकथामें स्त्रीकथाका स्थान छूटकर राष्ट्र-कथाका स्थान होता है। इस क्रमसे १ स्त्रीकथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान्, २ स्त्रीकथालापी, क्रोधी, रसनेन्द्रियवशंगतः नि. स्ने. ३ स्त्री. क्रो. घ्राणेन्द्रियवशंगतः नि. स्ने. ४ स्त्री. क्रोधी चक्षुरिन्द्रियवशंगतः नि. स्ने. ५ स्त्री. क्रो. श्रोत्रेन्द्रियवशंगतः नि. स्ने.। इस तरह इन्द्रिय स्थान अन्ततक होकर जब पुनः स्पर्शन पर आता है तब क्रोधकी जगह मान हो जाता है। मानके भी पाँच संचार पूरे हो जाने पर मायाके साथ और मायाके भी पूरे हो जाने पर लोभके साथ ५–५ संचार होते हैं। इस प्रकार स्त्रीकथाके साथ २० भंग होने पर भक्तकथा राष्ट्रकथा और अवनिपालकथाके साथ भी क्रमसे २०–२० भंग होकर प्रमादके कुल ८० भंग होते हैं।

आगेकी गाथामें दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा जो अक्षसंचार बताया है, उसका भी यही क्रम है। अन्तर इतना ही है कि इन्द्रियोंके स्थान पर विकथाओंको और विकथाओंकी जगह इन्द्रियोंको रखकर संचार हुआ करता है।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचारको कहते हैं।

पढमक्खो अन्तगदो, आदिगदे संकमेदि विदियक्खो।
दोण्णि वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ ४० ॥

प्रथमाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते, संक्रामति तृतीयाक्षः ॥ ४० ॥

अर्थ—प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमादस्थान वह घूमता हुआ जब क्रमसे अंततक पहुँचकर फिर स्त्रीकथारूप आदि स्थानपर आता है, तब दूसरा कषायका स्थान क्रोधको छोड़कर मानपर आता है। इसी प्रकार जब दूसरा कषायस्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थानपर आता है, तब तीसरा इन्द्रियस्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शनको छोड़कर रसनापर आता है।

आगे नष्टके लानेकी विधि बताते हैं।

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं।
लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेवो ॥ ४१ ॥

स्वकमानैर्विभक्ते शेषं, लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदम्।
लब्धे रूपं प्रक्षिप्य, शुद्धे अन्ते न रूपप्रक्षेपः ॥ ४१ ॥

अर्थ—किसीने जितनेवाँ प्रमादका भङ्ग पूछा हो उतनी संख्याको रखकर उसमें क्रमसे प्रमादप्रमाणका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो शेष रहे, उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर, दूसरे प्रमादके प्रमाणका भाग देना चाहिये, और भाग देनेसे जो शेष रहे, उसको अक्षस्थान समझना चाहिये। किन्तु शेष स्थानमें यदि शून्य हो तो अन्तका अक्षस्थान समझना चाहिये, और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिये। जैसे किसीने पूछा कि प्रमादका बीसवाँ भङ्ग कौनसा है ? तो वीसकी संख्याको रखकर उसमें प्रथम विकथाप्रमादके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध पाँच आये, और शून्य शेषस्थानमें है, इसलिये पाँचमें एक नहीं मिलाना, और अन्तकी विकथा (अवनिपालकथा) समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी कषायके प्रमाण चारका पाँचमें भाग देनेसे लब्ध और शेष एक एक ही रहा, इसलिये प्रथम क्रोधकषाय, और लब्ध एकमें एक और मिलानेसे दो होते हैं, इसलिये दूसरी रसनेन्द्रिय समझनी चाहिये। अर्थात् २०वाँ भङ्ग अवनिपालकथालापी क्रोधी रसनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् यह हुआ। इसी रीतिसे प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा २० वां भंग स्त्रीकथालापी लोभी श्रोत्रेन्द्रियवशंगतः होगा।

अब उद्दिष्टका स्वरूप कहते हैं।

संठाविदूण रूवं, उवरीदो संगुणित्तु सगमाणे।
अवणिज्ज अणंकिदयं, कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥ ४२ ॥

संस्थाप्य रूपमुपरितः संगुणित्वा स्वकमानम्।
अपनीयानङ्कितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र ॥ ४२ ॥

अर्थ—एकका स्थापन करके आगेके प्रमादका जितना प्रमाण है, उसके साथ गुणाकार करना चाहिये। और उसमें जो अनङ्कित हो उसका त्याग करे। इसी प्रकार आगे भी करनेसे उद्दिष्टका प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—प्रमादके भङ्गको रखकर उसकी संख्याके निकालनेको उद्दिष्ट कहते हैं। उसके निकालनेका क्रम यह है कि किसीने पूछा कि राष्ट्रकथालापी मायी घ्राणेन्द्रियवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान् यह प्रमादका भङ्ग कितनेवां है ? तो (१) संख्याको रखकर उसको प्रमादके प्रमाणसे गुणा करना चाहिये और जो अनंकित हो उसको उसमेंसे घटा देना चाहिये। जैसे एकका स्थापन-कर उसको इन्द्रियोंके प्रमाण पाँचसे गुणा करनेपर पाँच हुए, उसमेंसे अनंकित चक्षुः श्रोत्र दो हैं; क्योंकि भंग पूछनेमें घ्राणेन्द्रियका ग्रहण किया है इसलिये दोको घटाया तो शेष रहे तीन, उनको कषायके प्रमाण चारसे गुणा करनेपर बारह होते हैं, उनमें अनंकित एक लोभकषाय है, इसलिये एक घटा दिया तो शेष रहे ग्यारह। उनकी विकथाओंके प्रमाण चारसे गुणनेपर चवालीस होते हैं, उसमेंसे एक अवनिपालकथाको घटा दिया तो शेष रहे तेतालीस, इसलिये उक्त भंग तेतालीसवां हुआ। किन्तु प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा यह ५३ नं. का भंग होगा।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा जो अक्षपरिवर्तन बताया था उसके आश्रयसे नष्ट और उद्दिष्टके गूढ़यंत्रको दिखाते हैं।

इगिवितिचपणखपणदशपण्णरसं खवीसतालसट्ठी य।
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४३ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचखपंचदशपंचदश खविंशच्चत्वारिंशत् षष्ठीश्च।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने, नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४३ ॥

अर्थ—तीन प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम पांच इन्द्रियोंके स्थानपर एक, दो, तीन, चार, पांचको क्रमसे स्थापन करना। चार कषायोंके स्थानपर शून्य पांच, दश, पन्द्रह स्थापन करना। तथा विकथाओंके स्थानपर क्रमसे शून्य वीस, चालीस, साठ, स्थापन करना। ऐसा करनेसे नष्ट उद्दिष्ट अच्छी तरह समझमें आ सकते हैं। क्योंकि जो भंग विवक्षित हो उसके स्थानोंपर रक्खी हुई संख्याको परस्पर जोड़नेसे, यह कितनेवां भंग है अथवा इस संख्यावाले भंगमें कौन कौनसा प्रमाद आता है, यह [illegible] आ सकता है।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गूढयन्त्रको कहते हैं।

इगिवितिचखचडवारम् खसोलरागट्ठदालचउसट्ठिं।
संठविय पमदठाणे, णट्ठुद्दिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४४ ॥

एकद्वित्रिचतुःखचतुरष्टद्वादश, खषोडशरागाष्टचत्वारिंशिच्चतुः[1] षष्टिम्।
संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४४ ॥

अर्थ—दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा तीनों प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम विकथाओंके स्थानपर १।२।३।४ स्थापन करना और कषायोंके स्थानपर ०।४।८।१२ स्थापन करना और इन्द्रियोंकी जगहपर ०।१६।३२।४८।६४ स्थापन करना ऐसा करनेसे दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा भी पूर्वकी तरह नष्टोद्दिष्ट समझमें आ सकते हैं।

ऊपरके गाथा नं० ४३ में बताये गये प्रस्तारकी अपेक्षा गूढ यन्त्र—

स्प. १	र. २	घ्रा. ३	च. ४	श्रो. ५
क्रो. ०	मा ५	मा. १०	लो. १५	
स्त्री. ०	भ. २०	रा. ४०	अ ६०	

गाथा नं. ४४ में बताये गये द्वितीय प्रस्तारकी अपेक्षा गूढ यन्त्र—

स्त्री १	भ. २	रा. ३	अ. ४	
क्रो. ०	मा. ४	मा. ८	लो. १२	
स्प. ०	र. १६	घ्रा. ३२	च. ४८	श्रो. ६४

इसी प्रकार साढ़े सैंतीस हजारका भी गूढ यन्त्र बनता है।

१—रागशब्दसे ३२ लिये जाते हैं, क्योंकि "कटपयपुरःस्थवर्णः" इत्यादि नियमसूत्रके अनुसार गका अर्थ ३ और रका अर्थ २ होता है और यह नियम है कि "अंकोंकी विपरीत गति होती है"।

सप्तम गुणस्थानका स्वरूप बताते हैं।

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि।
अपमत्तगुणो तेण य, अपमत्तो संजदो होदि॥ ४५

संज्वलननोकषायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति।
अप्रमत्तगुणस्तेन च, अप्रमत्तः संयतो भवति॥ ४५॥

अर्थ—जब संज्वलन और नोकषायका मन्द उदय होता है तब सकल संयमसे युक्त मुनिके प्रमादका अभाव हो जाता है। इस ही लिये इस गुणस्थानको अप्रमत्तसंयत कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त।

छट्ठे गुणस्थानमें संयतका प्रमत्त विशेषण अन्त्यदीपक है। अतएव यहाँतकके सभी गुणस्थानवाले जीव प्रमादसहित हुआ करते हैं। और इससे ऊपरके गुणस्थानवाले सभी जीव प्रमादरहित ही होते हैं। यही कारण है कि सातवें गुणस्थानका नाम अप्रमत्तसंयत है।

प्रश्न हो सकता है कि जब ऊपरके यहाँसे आगेके सभी गुणस्थान संयत और अप्रमत्त हैं तब अप्रमत्तसंयत इस नामसे सभी गुणस्थानोंका ग्रहण हो जायगा, अतएव आठवें आदि गुणस्थानोंके भिन्न भिन्न नाम निर्देशकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—यद्यपि संज्वलनके तीव्र उदयके अभावकी अपेक्षा ऊपरके सभी गुणस्थान सामान्यरूपसे अप्रमत्त हैं, फिर भी उन गुणस्थानोंमें होनेवाले या पाये जानेवाले अन्य कार्योंका विशेषण रूपसे उल्लेख करके उन उनका भिन्न भिन्न नाम निर्देश किया गया है।

इस गुणस्थानमें जब तक चारित्रमोहनीयकी २१ प्रकृतियोंके उपशमन तथा क्षपणके कार्यका प्रारम्भ नहीं होता, किन्तु संज्वलनके मन्दोदयके कारण प्रमाद भी नहीं होता, केवल सामान्य ध्यानावस्था रहती है, तब तक यह अवस्था निरतिशय अप्रमत्त कही जाती है। और जब इसी गुणस्थानवाला जीव उक्त प्रकृतियोंका उपशमन या क्षपण करनेके लिये उद्यत होता है तब उसकी सातिशय अप्रमत्त अवस्था हुआ करती है। इस तरह एक ही गुणस्थानकी दो अवस्थाएँ हैं और ये दो अवस्थाएँ ही आगेकी दोनों गाथाओं में स्पष्ट की गई हैं।

अर्थ - जिस संयतके सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, शरीर और आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्षके कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त मुनि जब तक उपशमक या क्षपक श्रेणिका आरोहण नहीं करता तबतक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं।

सातिशय अप्रमत्तका स्वरूप बताते हैं।

इगवीसमोहखवणुवसमणणिमित्ताणि तिकरणाणि तहिं।
पढमं अधापवत्तं, करणं तु करेदि अपमत्तो ॥ ४७ ॥

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमननिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु।
प्रथममधःप्रवृत्तं, करणं तु करोति अप्रमत्तः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इस तरह बारह और नव हास्यादिक नोकषाय कुल मिलकर मोहनीय कर्मकी इन इक्कीस प्रकृतियोंके उपशम या क्षय करनेको आत्माके ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकारके विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं,—अधःकरण, अपूर्वकरण. और अनिवृत्तिकरण। उनमेंसे सातिशय अप्रमत अर्थात् जो श्रेणि चढ़नेके लिये सम्मुख या उद्यत हुआ है वह नियमसे पहले अधःप्रवृत्तकरणको करता है।

अधःप्रवृत्त करणका लक्षण कहते हैं।

जह्मा उवरिमभावा, हेट्ठिमभावेहिं सरिसगा होंति।
तह्मा पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिद्दिट्ठं ॥ ४८ ॥

यस्मादुपरितनभावा, अधस्तनभावैः सदृशका भवन्ति।
तस्मात्प्रथमं करणमधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्त करणके कालमें से ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम नीचेके समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके सदृश-अर्थात् संख्या और विशुद्धिकी अपेक्षा समान होते हैं, इसलिये प्रथम करणको अधःप्रवृत्त करण कहा है।

अधःप्रवृत्तकरणके काल और उसमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण बताते हुए उनकी सदृश वृद्धिका निर्देश करते हैं।

अन्तोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा।
लोगाणमसंखमिदा, उवरुवरिं सरिसवड्ढिगया ॥ ४९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रस्तत्कालो भवति तत्र परिणामाः।
लोकानामसंख्यमिता, उपर्युपरिसदृशवृद्धिगताः ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर ऊपर सदृश वृद्धिको प्राप्त होते गये हैं। अर्थात् यह जीव

चारित्रमोहनीयकी शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेके लिये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणोंको करता है। प्रत्येक भेदके परिणामोंका प्रमाण असंख्यातलोक प्रमाण है। और उनमें जो उत्तरोत्तर वृद्धि होती है वह समानताको लिये हुए होती है। इनमेंसे अधःकरण श्रेणी चढ़नेके सम्मुख सातिशय अप्रमत्तके होता है, और अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तिकरण नववें गुणस्थानमें होता है।

भावार्थ—करण नाम आत्माके परिणामोंका है। इन परिणामोंमें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है। जिसके बलसे कर्मोंका उपशम तथा क्षय और स्थितिखण्डन तथा अनुभागखण्डन होते हैं। इन तीनों करणोंका काल यद्यपि सामान्यालापसे अन्तर्मुहूर्तमात्र है, तथापि अधःकरणके कालके संख्यातवें भाग अपूर्वकरणका काल है, और अपूर्वकरणके कालसे संख्यातवें भाग अनिवृत्तकरणका काल है। अधःप्रवृत्तकरणके परिणाम असंख्याततलोक प्रमाण हैं। अपूर्वकरणके परिणाम अधःकरणके परिणामोंसे असंख्याततलोकगुणित हैं। और अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या उसके कालके समयोंके समान है। अर्थात् अनिवृत्तकरणके कालके जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं। पूर्वोक्त कथनका खुलासा बिना दृष्टान्तके नहीं हो सकता इसलिये इसका दृष्टान्त इस प्रकार समझना चाहिये। कल्पना करो कि अधःकरणके कालके समयोंका प्रमाण १६; अपूर्व-करणके कालके समयोंका प्रमाण ८; और अनिवृत्तकरणके कालके समयोंका प्रमाण ४ है। अधः-करणके परिणामोंकी संख्या ३०७२; अपूर्वकरणके परिणामोंकी संख्या ४०९६; और अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या ४ है। एक समयमें एक जीवके एक ही परिणाम होता है; इसलिये एक जीव अधःकरणके १६ समयोंमें १६ परिणामोंको ही धारण कर सकता है। अधःकरणके और अपूर्व-करणके परिणाम जो १६ और ८ से अधिक कहे हैं; वे नाना जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं। यहाँ इतना विशेष है कि अधःकरणके १६ समयोंमेंसे प्रथम समयमें यदि कोई भी जीव अधःकरण माँड़ेगा तो उसके अधःकरणके समस्त परिणामोंमेंसे पहले १६२ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन कालमें जब कभी चाहे जब चाहे जो अधःकरण माँड़ेगा तो उसके पहले समयमें नम्बर १ से लगाकर नम्बर १६२ तकके परिणामोंमेंसे उसकी योग्यताके अनुसार कोई एक परिणाम होगा। इस ही प्रकार किसी भी जीवके उसके अधःकरण माँड़नेके दूसरे समयमें नम्बर ४० से लगाकर नम्बर २०५ तक १६६ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इस ही प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें भी क्रमसे नम्बर ८० से लगाकर २४९ तक १७० परिणामोंमेंसे कोई एक और १२१ से लगाकर २९४ तकके १७४ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इसी तरह आगेके समयोंमें होनेवाले परिणाम गोम्मटसारकी बड़ी टीका और सुशीला उपन्यासमेंसे यहाँ[1] दिये हुए यन्त्रद्वारा समझ लेने चाहिये। अधःकरणके अपुनरुक्त परिणाम केवल ९१२ हैं। और समस्त समयोंमें होने-वाले पुनरुक्त और अपुनरुक्त परिणामोंका जोड़ ३०७२ है। इस अधःकरणके परिणाम समान वृद्धि को लिये हुए हैं—अर्थात् पहले समयके परिणामसे द्वितीय समयके परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयोंके परिणामोंमेंसे तृतीयादिक समयोंके परिणाम अधिक हैं। इस समान वृद्धिको ही चय कहते हैं। इस दृष्टान्तमें चयका प्रमाण ४ है; स्थान का प्रमाण १६ और सर्वधनका ३०७२ है। प्रथमस्थानमें वृद्धिका अभाव है, इसलिये अन्तिमस्थानमें एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण

१—यह यंत्र यहां आगे पृ. नं. ३६ पर दिया है।

चय वर्द्धित हैं। अतएव एक घाटि पदके आधेको चय और पदसे गुणा करनेपर $\frac{१५}{२} \times ४ \times १६ =$ ४८० चयनका प्रमाण होता है।

भावार्थ—प्रथम समयके समान समस्त समयोंमें परिणामोंको भिन्न समझकर वर्द्धित प्रमाणके जोड़को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। सर्वधनमें से चयधनको घटाकर शेषमें पदका भाग देने से प्रथम समयसम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण $\frac{३०७२}{१} - \frac{४८०}{६}$ १६२ होता है। इसमें क्रमसे एकएक चय जोड़नेपर द्वितीयादिक समयोंके परिणामपुञ्जका प्रमाण होता है। एक घाटि पद प्रमाण चय मिलानेसे अन्तसमय सम्बन्धी परिणामपुञ्जका प्रमाण १६२ + १५ + ४=२२२ होता है। एक समयमें अनेक परिणामोंकी संभावना है, इसलिये एक समयमें अनेक जीव अनेक किन्तु भिन्न भिन्न परिणामोंको ग्रहण कर सकते हैं। अतएव एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है। एकसययमें अनेक जीव एक परिणामको ग्रहण कर सकते हैं, इसलिये एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें सदृशता भी है। भिन्न समयोंमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको ग्रहण कर सकते हैं, इसलिये भिन्न समयोंमें नाना जोवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है। जो परिणाम किसी एक जीवके प्रथम समयमें हो सकता है, वही परिणाम किसो दूसरे जीवके दूसरे समयमें, और तीसरे जीवके तीसरे समयमें, तथा चौथे जीवके चौथे समयमें हो सकता है; इसलिये भिन्न भिन्न समयवर्ती अनेक जीवोंके परिणामोंमें सदृशता भी होती है। जैसे १६२ नम्बरका परिणाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ समयमें भी हो सकता है। प्रथम समय सम्बन्धी परिणामपुंजके भी ३९, ४०, ४१, और ४२ इस तरह चार खण्ड किये गये हैं। अर्थात् नंबर १ से लेकर ३९ नम्बर तकके ३९ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम समयमें ही पाये जाते हैं, द्वितीयादिक समयोंमें नहीं; इन्हीं ३९ परिणामोंके पुंजको प्रथम खण्ड कहते हैं। दूसरे खण्डमें नम्बर ४० से ७९ तक ४० परिणाम ऐसे हैं जो कि प्रथम और द्वितीय सययमें पाये जाते हैं। इन चालीस परिणामोंके समूहको ही द्वितीय खण्ड कहते हैं। तीसरे खण्डमें नम्बर ८० से १२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं जो कि द्वितीय तृतीय समयोंमें पाये जाते हैं। चतुर्थ खण्डमें नं. १२१ से १६२ तक ४२ परिणाम ऐसे हैं जो आदिके चारों ही समयोंमें पाये जा सकते हैं। इसी प्रकार अन्य समयोंमें भी समझना चाहिये। अधःकरणके ऊपरके समस्त परिणाम पूर्ववर्ती परिणामकी अपेक्षा अनन्तगुणी विशुद्धता लिये हुए हैं।

इस प्रकरणमें प्रयुक्त कुछ आवश्यक शब्दोंकी परिभाषा, उसके निकालनेकी विधि, और करण सूत्रोंको समझ लेना अधिक उपयोगी होगा अतएव उनका संक्षेपमें यहाँ परिचय दिया जाता है।

सर्वधन—इसका आशय ऊपर बताया जा चुका है। सम्पूर्ण समयोंमें पाये जानेवाले समस्त परिणामोंके समूहको सर्वधन कहते हैं। इसीका दूसरा नाम पदधन भी है। यह "मुहभूमीजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि।" इस करणसूत्रके अनुसार निकाला जा सकता है। अर्थात् मुख—आदिस्थानका प्रमाण और भूमि—अन्तिम स्थानका प्रमाण दोनोंको जोड़कर जो संख्या हो उसके आधेका पदप्रमाणसे गुणा करने पर सर्वधन निष्पन्न होता है। यथा—

$$१६२ + २२२ = \frac{३८४}{२} \times १६ = ३०७२।$$

पद—इसको गच्छ या स्थान शब्दसे भी कहते हैं। यह सम्पूर्ण समयोंके प्रमाणका बोधक

अधःकरणकी अनुकृष्टिकी रचना का यंत्र.

समय नं.	परिणामों-की संख्या	कहांसे कहां तक	अनुकृष्टि रचना.			
१६	२२२	६९१—९१२	५४ ६९१—७४४	५५ ७४५—७९९	५६ ८००—८५५	५७ ८५६—९१२
१५	२१८	६३८—८५५	५३ ६३८—६९०	५४ ६९१—७४४	५५ ७४५—७९९	५६ ८००—८५५
१४	२१४	५८६—७९९	५२ ५८६—६३७	५३ ६३८—६९०	५४ ६९१—७४४	५५ ७४५—७९९
१३	२१०	५३५—७४४	५१ ५३५—५८५	५२ ५८६—६३७	५३ ६३८—६९०	५४ ६९१—७४४
१२	२०६	४८५—६९०	५० ४८५—५३४	५१ ५३५—५८५	५२ ५८६—६३७	५३ ६३८—६९०
११	२०२	४३६—६३७	४९ ४३६—४८४	५० ४८५—५३४	५१ ५३५—५८५	५२ ५८६—६३७
१०	१९८	३८८—५८५	४८ ३८८—४३५	४९ ४३६—४८५	५० ४८५—५३४	५१ ५३५—५८५
९	१९४	३४१—५३४	४७ ३४१—३८७	४८ ३८८—४३५	४९ ४३६—४८४	५० ४८५—५३४
८	१९०	२९५—४८५	४६ २९५—३४०	४७ ३४१—३८७	४८ ३८८—४३५	४९ ४३६—४८४
७	१८६	२५०—४३५	४५ २५०—२९४	४६ २९५—३४०	४७ ३४१—३८७	४८ ३८८—४३५
६	१८२	२०६—३८७	४४ २०६—२४९	४५ २५०—२९४	४६ २९५—३४०	४७ ३४१—३८७
५	१७८	१६३—३४०	४३ १६३—२०५	४४ २०६—२४९	४५ २५०—२९४	४६ २९५—३४०
४	१७४	१२१—२९४	४२ १२१—१६२	४३ १६३—२०५	४४ २०६—२४९	४५ २५०—२९४
३	१७०	८०—२४९	४१ ८०—१२०	४२ १२१—१६२	४३ १६३—२०५	४४ २०६—२४९
२	१६६	४०—२०५	४० ४०—७९	४१ ८०—१२०	४२ १२१—१६२	४३ १६३—२०५
१	१६२	१—१६२	३९ १—३९	४० ४०—७९	४१ ८०—१२०	४२ १२१—१६२

है तथा "आदी अन्ते शुद्धे, वड्ढिहिदे रूवसंजुदे ठाणा" इस करणसूत्र—नियमके अनुसार इसका प्रमाण निकाला जा सकता है। अर्थात् आदिको अन्तमेंसे घटाने पर जो बाकी रहे, उसमें वृद्धि—चय प्रमाणका भाग देना चाहिये। इससे जो लब्ध प्रमाण हो उसमें एक जोड़ देना चाहिये। ऐसा करनेसे २२२—१६२ = $\frac{६०}{४}$ + १ = १६ पदका प्रमाण आता है।

चय—इसका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। उत्तर और विशेष भी इसीके पर्याय वाचक शब्द हैं। इसका प्रमाण "पदकदिसंखेणभाजियं पचयं[1]" इस नियमके अनुसार निकाला जा सकता है। अर्थात् सर्वधनमें पदके वर्गका भाग देने पर जो लब्ध आवे उसमें पुनः संख्यातका भाग देने पर चयका प्रमाण निकलता है। $\frac{३०७२}{२५६}$ = $\frac{१२}{३}$ = ४।

मुख, आदि, प्रथम, ये पर्यायवाचक—समानार्थक शब्द हैं। प्रथम समयके द्रव्यका प्रमाण निकालनेकी विधि ऊपर बताई जा चुकी[2] है।

आदिधन—"पदहतमुखमादिधणं" इस नियमके अनुसार आदि द्रव्यको पदसे गुणा करने पर आदिधनका प्रमाण निकलता है। यथा—१६२ × १६ = २५९२।

अन्तधन—इसको भूमि भी कहते हैं। इसका प्रमाण "व्येकं पदं चयाभ्यस्तं तदादिसहितं धनम्" इसके अनुसार निकलता है। अर्थात् एक कम पदका चयसे गुणा करना और उसमें प्रथम समयका प्रमाण जोड़ देना। यथा १५ × ४ = ६० + १६२ = २२२।

मध्यधन—आदिधन और अन्तधनको जोड़कर आधा करनेसे मध्यधन निकलता है। यदि स्थानोंकी संख्या सम हो तो बीचके दो स्थानोंके प्रमाणको जोड़कर आधा करनेसे निकलता है।

उत्तरधन—"व्येकपदार्धघ्नचयगुणो गच्छ उत्तरधनम्" इस नियमके अनुसार एक कम पदके आधेका चयसे और गच्छसे गुणा करनेपर उत्तरधनका प्रमाण होता है। यथा—$\frac{१५}{२}$ × ४ × १६ = ४८०।

अनुकृष्टि रचना—ऊपरके और नीचेके परिणामोंमें अनुकर्षणको दिखानेवाली रचनाको कहते हैं। इसके यंत्रसे मालूम हो जाता है कि ऊपर नीचेके समयवर्ती परिणामोंमें किस तरहसे सदृशताका अनुकर्षण पाया जाता है। ऊपर जो करणसूत्र बताये गये हैं उन्हींके अनुसार अनुकृष्टि रचनाका हिसाब भी समझमें आ सकता है। किसी भी विवक्षित समयके परिणामोंके समूहको सर्वधन मान-कर और वहांके योग्य चय गच्छ उत्तरधन आदिको ध्यानमें लेकर प्रमाण निकाल लेना चाहिये। जैसे कि प्रथम समयमें सर्वधन १६२ चय १ गच्छ ४ और उत्तरधनका प्रमाण ६ है। इसीलिये अनु-कृष्टिगत प्रथम द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ खण्डके द्रव्यका प्रमाण क्रमसे ३९, ४०, ४१, और ४२ निकल आता है। क्योंकि ऊर्ध्वगच्छके प्रमाण १६ में संख्यात ४ (क्योंकि ४ समयतक सादृश्य पाया जाता है) का भाग देनेसे लब्ध ४ आते हैं, यही अनुकृष्टिमें गच्छका प्रमाण है। ऊर्ध्वरचनाके चय प्रमाण ४ में अनुकृष्टिगच्छ ४ का भाग देनेसे लब्ध १ आता है वही अनुकृष्टिमें चयका प्रमाण

१—चयका प्रमाण निकालनेके और भी कई करणसूत्र हैं।

२—यथा—३०७२–४८० = $\frac{२५९२}{१६}$ = १६२।

है। गच्छ ४ में एक कम करने पर लब्ध ३ के आधे (१।।) को चय १ से गुणाकर और फिर गच्छ ४ से गुणा करने पर लब्ध ६ को सर्वधन १६२ में घटाकर लब्ध १५६ में गच्छ ४ का भाग देनेसे ३९ प्रथम खण्डका द्रव्य प्रमाण निकलता है। उसीमें गच्छके शेष स्थान ३ तक चय १ को जोड़नेसे क्रमसे द्वितीयादि खण्डका प्रमाण ४०, ४१, ४२ आता है। इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

अब अपूर्वकरण गुणस्थानको कहते हैं।

अंतोमुहुत्तकालं, गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो, अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

अन्तर्मुहूर्तकालं गमयित्वा, अधःप्रवृत्तकरणं तत्।
प्रतिसमयं शुद्धयन्, अपूर्वकरणं समाश्रयति ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसका अन्तर्मुहूर्तमात्र काल है, ऐसे अधःप्रवृत्तकरणको विताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिए हुए अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको करता है, तब उसको अपूर्वकरणनामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं।

भावार्थ—यहाँ विशुद्धि शब्द उपलक्षण मात्र होने से प्रशस्तप्रकृतियोंके चतुःस्थानी अनुभाग की अनन्तगुणी वृद्धि, अप्रशस्त प्रकृतियोंके द्विस्थानी अनुभागकी अनन्तगुणी हानि, तथा वध्यमान कर्मोंके संख्यात हजार स्थितिबंधापसरण भी सूचित होते हैं। क्योंकि यहाँ पर अनंतगुणी विशुद्धि के साथ ४ आवश्यक माने गए हैं।

अपूर्वकरणका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं।

एदह्मि गुणट्ठाणे, विसरिससमयट्ठियेहिं जीवेहिं।
पुव्वमपत्ता जह्मा, होंति अपुव्वा हु परिणामा[1] ॥ ५१ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने, विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः।
पूर्वमप्राप्ता यस्मात्, भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानमें भिन्नसमयवर्ती जीव, जो पूर्व समयमें कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं, इसलिए इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है।

भावार्थ—जिस प्रकार अधःकरणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश दोनों ही प्रकारके होते हैं, वैसा अपूर्वकरणमें नहीं है; किन्तु यहाँ पर भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते।

इस गुणस्थानका दो गाथाओंद्वारा विशेष स्वरूप दिखाते हैं।

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु, जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो।
करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ ५२ ॥

१—संतगुत्त पृ. १८३ गाथा ११७।

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न, भवति सर्वदा सादृश्यम् ।
करणैरेकसमयस्थितैः, सादृश्यं वैसादृश्यं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ--यहाँपर (अपूर्वकरणमें) भिन्न समयवर्ती जीवोंमें विशुद्ध परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें सादृश्य और वैसादृश्य दोनों ही पाये जाते हैं।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।
कमउड्ढा पुव्वगुणे, अणुकट्टी णत्थि णियमेण ॥ ५३ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रे, प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः ।
क्रमवृद्धा अपूर्वगुणे, अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है और इसमें परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण होते हैं, ओर वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धिको लिये हुए हैं। तथा इस गुणस्थानमें नियमसे अनुकृष्टिरचना नहीं होती है।

भावार्थ—अधःप्रवृत्तकरणके कालसे अपूर्वकरणका काल यद्यपि संख्यातगुणा हीन है; तथापि सामान्यसे अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। इसमें परिणामोंकी संख्या अधःप्रवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्यासे असंख्यातलोकगुणी है। और इन परिणामोंमें उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है। अर्थात् प्रथम समयके परिणामोंसे जितने अधिक द्वितीय समयके परिणाम हैं उतने उतने ही अधिक द्वितीयादि समयोंके परिणामोंसे तृतीयादि समयोंके परिणाम हैं। तथा जिस प्रकार अधः-प्रवृत्तकरणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सादृश्य पाया जाता है इसलिए वहाँपर अनुकृष्टि रचना की है, उस प्रकार अपूर्वकरणमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती; क्योंकि भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें यहाँपर सादृश्य नहीं पाया जाता। इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है—सर्वधनका प्रमाण ४०९६ है, संख्यातका प्रमाण ४, चयका प्रमाण १६ और स्थानका प्रमाण ८ है। एक घाटिपदके आधेको चय और पदसे गुणा करनेपर चयधनका प्रमाण $\frac{७}{२}$ × १६ × ८ = ४४८ होता है। सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर पदका भाग देनेसे प्रथमसमयसम्बन्धी परिणामपुंजका प्रमाण $\frac{४०९६ - ४४८}{८}$ = ४५६ होता है। इसमें एक एक चय जोड़नेपर द्वितीयादिक समयमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण निकलता है। इसमें एक घाटि पदप्रमाण चय जोड़नेसे अंतसमयसम्बन्धी परिणामोंका प्रमाण ४५६+७ × १६=५६८ होता है।

इन अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा क्या कार्य होता है? यह दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते है।

तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहि ।
मोहस्सपुव्वकरणा, खवणुवसमणुज्जया भणिया[२] ॥ ५४ ॥

१—संतसुत पृ. १८३ गा. ११६। यास्थाने इति पाठः
२—संतसुत्त पृ. १८३ गा ११८।

तादृशपरिणामस्थितजीवा, हि जिनैर्गलिततिमिरैः ।
मोहस्यापूर्वकरणाः क्षपणोपशमनोद्यताः भणिताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारसे सर्वथा रहित[1] जिनेन्द्रदेवने कहा है कि उक्त परिणामोंको धारण करनेवाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीयकर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षपण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं ।

भावार्थ—इस गुणस्थानमें चार आवश्यक कार्य हुआ करते हैं । १ गुणश्रेणी निर्जरा, २ गुण संक्रमण, ३ स्थितिखण्डन, ४ अनुभागखण्डन । ये चारों ही कार्य पूर्वबद्ध कर्मोंमें हुआ करते हैं । इनमें अनुभाग खण्डन पूर्वबद्ध सत्तारूप अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागका हुआ करता है । क्योंकि इनके विना चारित्र मोहकी २१ प्रकृतियोंका उपशम या क्षय नहीं हो सकता । अतएव अपूर्व परिणामोंके द्वारा इन कार्योंको करके उपशम क्षपणके लिये यहींसे वह उद्यत हो जाया करता है ।

णिद्दापयले णट्ठे सदि आऊ उवसमंति उवसमया ।
खवयं ढुक्के खवया, णियमेण खवंति मोहं तु ॥ ५५ ॥

निद्राप्रचले नष्टे, सति आयुषि उपशमयन्ति उपशमकाः ।
क्षपकं ढौकमानाः क्षपका, नियमेन क्षपयन्ति मोहं तु ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिनके निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति हो चुकी है, तथा जिनका आयुकर्म कभी विद्यमान है, ऐसे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाले जीव शेष मोहनीयका उपशमन करते हैं और जो क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवाले हैं, वे नियमसे मोहनीयका क्षपण करते हैं ।

भावार्थ—जिसके अपूर्वकरणके छह भागोंमें से प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छित्ति[2] हो गई है, और जिसका आयुकर्म विद्यमान है (जो मरणके सम्मुख नहीं हैं, अर्थात् जो श्रेणिको चढ़नेवाला है, क्योंकि श्रेणिसे उतरते समय यहाँपर मरणकी सम्भावना है[3]; इस प्रकारके उपशमश्रेणिको चढ़नेवाले जीवके अपूर्वकरण परिणामोंके निमित्तसे मोहनीयका उपशम और क्षपकश्रेणिवालेके क्षय होता है[4] ।

नवमें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं ।

एकह्मि कालसमये, संठाणादीहिं जह णिवट्टंति ।
ण णिवट्टंति तहावि य, परिणामेहिं मिहो जेहिं[5] ॥ ५६ ॥

१—इस विशेषणसे उनके कहे हुए वचनमें प्रामाण्य दिखलाया है, क्योंकि यह नियम है कि जो परिपूर्ण ज्ञानका धारक है वह मिथ्या भाषण नहीं करता ।

२—इन दोनों कर्मोंकी बन्धव्युच्छित्ति यहीं पर होती है । इस कथनसे अष्टमगुणस्थानका प्रथम भाग लेना चाहिये, क्योंकि उपशम या क्षयका प्रारम्भ यहींसे हो जाता है ।

३—मरणके समयसे पूर्व समयमें होनेवाले गुणस्थानको भी उपचारसे मरणका गुणस्थान कहते हैं ।

४—इस गाथामें तु, शब्द पड़ा है, इससे सूचित होता है कि क्षपकश्रेणिमें मरण नहीं होता ।

५—पटखं-चूलिया पृ. १२२ ।

होंति अणियट्टिणो ते, पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा[1] ॥ ५७ ॥(जुम्मम्)

एकस्मिन् कालसमये, संस्थानादिभिर्यथा निवर्त्तन्ते।
न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः ॥ ५६ ॥

भवन्ति अनिर्वतिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ॥ ५७ ॥ (युग्मम्)

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि या मध्य या अन्त के एक समयवर्त्ती अनेक जीवोंमें जिसप्रकार शरीरकी अवगाहना आदि वाह्य करणोंसे तथा ज्ञानावरणादिक कर्मके क्षयोपशमादि अन्तरङ्ग करणोंसे परस्परमें भेद पाया जाता है, उसप्रकार जिन परिणामोंके निमित्तसे परस्परमें भेद नहीं पाया जाता उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानका जितना काल है, उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिये उसके कालके प्रत्येक समयमें अनिवृत्तिकरणका एक ही परिणाम होता है। तथा ये परिणाम अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निकी शिखाओंकी सहायतासे कर्मवनको भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—यहाँपर एक समयवर्ती नाना जीवोंके परिणामोंमें पाई जानेवाली विशुद्धिमें परस्पर निवृत्ति—भेद नहीं पाया जाता, अतएव इन परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण-का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं। इसलिये प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है। यही कारण है कि यहाँपर भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा विसदृशता और एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा सदृशता ही पाई जाती है। इन परिणामोंसे ही आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणि निर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, होता है और मोहनीय कर्मकी वादर कृष्टि सूक्ष्म कृष्टि आदि हुआ करती है।

दशवें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं।

धुदकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुत्तं।
एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥ ५८ ॥

धौतकौसुम्भवस्त्रं, भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तम्।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति ज्ञातव्यः ॥ ५८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्रमें लालिमा—सुर्खी सूक्ष्म रह जाती है, उसी प्रकार जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म राग—लोभ कषाय से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थान-वर्ती कहते हैं।

भावार्थ—जहाँ पर पूर्वोक्त तीन करणके परिणामोंसे क्रमसे लोभ, कषायके विना चारित्र

१—पट् खं. सं. सु. पृ. १८६ गाथा नं. ११९, १२० किन्तु तत्र "तहाविय" स्थाने "तहच्चिय" इति पाठः।

मोहनीय कर्मकी बीस प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय होजाने पर सूक्ष्म कृष्टिको प्राप्त केवल लोभ कषायका ही उदय पाया जाय उसको सूक्ष्म साम्पराय नामका दशवाँ गुणस्थान कहते हैं। किन्तु यह सूक्ष्मकृष्टि कब कहाँ और किस तरह होती है, और यहाँ पर उसका किस तरह वेदन होता है, यह दो गाथाओं द्वारा बताते हैं।

पुव्वापुव्वप्फड्ढय, बादरसुहमगयकिट्टिअणुभागा।
हीणकमाणंतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स[1] ॥ ५९ ॥

पूर्वापूर्वस्पर्धकबादरसूक्ष्मगतकृष्ट्यनुभागाः।
हीनक्रमा अनन्तगुणेन, अवरातु वरं चाधस्तनस्य ॥ ५९ ॥

अर्थ—पूर्वस्पर्धकसे अपूर्व स्पर्धकके और अपूर्वस्पर्धकसे बादर कृष्टिके तथा बादरकृष्टिसे सूक्ष्म-कृष्टिके अनुभाग क्रमसे अनन्तगुणे अनन्तगुणे हीन हैं। और ऊपरके (पूर्व पूर्वके) जघन्यसे नीचेका (उत्तरोत्तर का) उत्कृष्ट और अपने अपने उत्कृष्टसे अपना अपना जघन्य अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन है।

भावार्थ—अनेक प्रकारकी अनुभाग शक्तिसे युक्त कार्मणवर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पूर्वमें पाये जाँय, उनको पूर्वस्पर्धक और जिनका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण होजाता है उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। तथा जिनका अनुभाग अपूर्व-स्पर्धकसे भी क्षीण होजाय उनको बादरकृष्टि और जिनका अनुभाग बादरकृष्टिकी अपेक्षा भी क्षीण हो जाय, उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं। पूर्वस्पर्धकके जघन्य अनुभागसे अपूर्वस्पर्धकका उत्कृष्ट अनु-भाग भी अनन्तगुणा हीन है। इसी प्रकार अपूर्वस्पर्धकके जघन्यसे बादरकृष्टिका उत्कृष्ट और बादर-कृष्टिके जघन्यसे सूक्ष्मकृष्टिका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन है। और जिस प्रकार पूर्वस्पर्धकके उत्कृष्टसे पूर्वस्पर्धकका जघन्य अनन्तगुणा हीन है उसी प्रकार अपूर्वस्पर्धक आदिमें भी अपने अपने उत्कृष्टसे अपना अपना जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन है।

इस गाथामें जिन कार्योंका वर्णन किया गया है, वे सब नौवें गुणस्थानमें हुआ करते[2] हैं। यहाँ पर प्रयुक्त शब्दोंका अर्थ संक्षेप में इस प्रकार है।

कर्मोंके फल देनेकी शक्तिको अनुभाग और उस शक्तिके सबसे छोटे अंशको जिसका कि फिर दूसरा भाग नहीं हो सकता अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। कृष्टि शब्दका अर्थ कृश करना होता है। यहाँ पर इसका आशय अनुभाग शक्तिको कृश करने से है। जहां तक स्थूल खण्ड होते हैं, वहाँ तक

१—पुव्वापुव्वफड्ढय अणुभागादो अणंतगुणहीणे। लोहाणुम्हिय ट्ठियओ होदि सुहमसांपराओ सो ॥१२१॥ पद् सं. सं. सु. पृ. ॥ १८८॥

२—मुद्रित तथा हस्तलिखित प्रतियोंमें यह गाथा दशवें गुणस्थानके नं० ५९ पर ही पाई जाती है। और पहलेकी इस मुद्रित प्रतिकी गाथा नं, ५९, नं० ५८ पर पाई जाती है। तदनुसार यहाँ पर नंबर आगे पीछे कर दिया गया है। विचार करने पर अर्थकी संगति भी बैठ जाती है। क्योंकि यद्यपि सूक्ष्मकृष्टि नौवें गुणस्थानमें ही होती हैं परन्तु उन स्कन्धोंका उदय दशवेंमें हुआ करता है।

बादरकृष्टि और जहाँ सूक्ष्म खण्ड होते हैं वहाँ सूक्ष्मकृष्टि कही जाती है। ये सब कार्य नौवें गुणस्थानमें उसके संख्यात बहुभाग बीत जाने पर एक भागमें अनिवृत्तकरण परिणामोंके द्वारा सत्तामें बैठे हुए कर्मोंमें हुआ करते हैं। किन्तु सूक्ष्मकृष्टिगत लोभ कषायके इन कर्मस्कन्धोंका दशवें गुणस्थानके प्रथम समय में उदय होकर वेदन हुआ करता है। जैसा कि आगेकी गाथामें बताया गया है।

संसारावस्थामें प्रतिसमय बंधनेवाले कर्मोंके समूहको समयप्रबद्ध कहते हैं। यह बंध चार प्रकार का है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश। अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा इन्हींमें जो चार आवश्यक कार्य होते हैं, वे इस प्रकार हैं—प्रदेशोंकी गुणश्रेणी निर्जरा, प्रकृतिका गुणसंक्रमण, स्थिति और अनुभागका खण्डन। नौवें गुणस्थानमें अनिवृत्तिकरण परिणामोंके द्वारा बंधे हुए कर्मोंके स्पर्धकोंमें अपूर्वता आती है और अनुभागशक्तिकी प्रतिसमय अनन्तगुणी अनन्तगुणी हीनता होकर बादरकृष्टि और सूक्ष्मकृष्टि बनती है। पूर्व स्पर्धकोंकी रचना किस तरहसे हुआ करती है, यह जान लेने पर स्पर्धकोंमें होनेवाली अपूर्वता भी अच्छी तरह समझमें आसकती है। अतएव उसका स्वरूप बड़ी टीका अथवा संक्षेपमें जैन सिद्धान्त प्रवेशिकाके प्रश्नोत्तर नं० ३८८ से ३९९ तकको देखकर समझ लेना चाहिये। उन्हींके आधारपर उपयोगी शब्दोंकी परिभाषा और अनुकृष्टिका परिचय यहाँ भी नीचे दिया जाता है।

प्रतिसमय बंधनेवाले कर्म या नोकर्मकी समस्त परमाणुओंके समूहको समयप्रबद्ध कहते हैं। विवक्षित समयप्रबद्धमें सबसे कम अनुभागशक्तिके अंश—अविभागप्रतिच्छेद जिस परमाणुमें पाये जाँय उसको वर्ग, तथा समान संख्या वाले अविभागप्रतिच्छेद जिनमें पाये जाँय उन सब वर्गोंके समूहको वर्गणा, और जिनमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी समान वृद्धि पाई जाँय उन वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं। गुणाकार रूपसे हीन हीन द्रव्य जिसमें पाया जाय उसको गुणहानि, गुणहानिके समयसमूहको गुणहानि आयाम, गुणहानियोंके समूहको नानागुणहानि, दो गुणहानिआयामके प्रमाणको निषेकहार, नानागुणहानिप्रमाण दोके अंक रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसको अन्योन्याभ्यस्तराशि और समान हानि या वृद्धिके प्रमाणको चय कहते हैं।

समयप्रबद्धके द्रव्यका प्रमाण अनन्त, स्थिति और उसके अनुसार गुणहानि आदिके समयोंका प्रमाण असंख्यात रहा करता है। समयप्रबद्धके द्रव्यका बटवारा स्थितिके सम्पूर्ण समयोंमें किस क्रमसे और किस प्रमाणोंमें हुआ करता है यह अंकसंदृष्टिद्वारा समझाया गया है, जो कि इस प्रकार है—

कल्पना कीजिये कि समयप्रबद्धका प्रमाण ६३०० और उसकी स्थितिका प्रमाण ४८ है। इस स्थितिके आठ आठके छह भाग होजाते हैं। अतएव गुणहानि आयामका प्रमाण ८ समय और नानागुणहानिका प्रमाण ६ होगा। इनमें गुणाकार रूपसे हीन हीन द्रव्य पाया जाता है, इसीलिये इनको गुणहानि कहते हैं। फलतः छहों गुणहानियोंके द्रव्यका प्रमाण क्रमसे ३२००, १६००, ८००, ४००, २०० और १०० होता है। प्रत्येक गुणहानिका द्रव्य अपने अपने चयके अनुसार घटता घटता आठ आठ समयोंमें बँट जाता है। इन गुणहानियोंमें चयका प्रमाण क्रमसे ३२, १६, ८, ४, २ और १ है। क्योंकि निषेकहार १६ में एक अधिक गुणहानिआयाम ९ को जोड़कर उसके आधे १२॥ का गुणहानिआयाम ८ से गुणा करने पर लब्ध १०० का भाग विवक्षित द्रव्योंमें क्रमसे देने पर यही प्रमाण आता है।

निषेकहार १६ का अपने अपने चयके साथ गुणा करने पर विवक्षित गुणहानिके प्रथम समय सम्बन्धी द्रव्यका प्रमाण आता है और आगे एक एक चय प्रमाण कम कम होता जाता है। तदनुसार छहों गुणहानियोंके ४८ समयोंमें ६३०० द्रव्यका बंटवारा इस प्रकार होगा।

प्र. गु. द्र.	द्वि. गु. द्र.	तृ. गु. द्र.	च. गु. द्र.	पं. गु. द्र.	ष. गु. द्र.
२८८	१४४	७२	३६	१८	९
३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
३५२	१७६	८८	४४	२२	११
३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
३२००	१६००	८००	४००	२००	१००

यहाँ पर प्रथम गुणहानिकी प्रथम वर्गणामें जो ५१२ वर्ग हैं, उनकी अनुभाग शक्तिके अविभाग प्रतिच्छेद समान किन्तु अन्य समस्त वर्गणाओंके वर्गोंके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे कम है। ऊपर ऊपर वे बढ़ते गये हैं। जहाँ तक उनमें एक एककी या समान वृद्धि पाई जाती है वहाँतककी वर्गणाओंके समूहका एक स्पर्धक होता है। अनिवृत्तिकरण परिणामोंके द्वारा इन स्पर्धकोंमें अपूर्वता आ जाती है। क्योंकि निर्जराका द्रव्य प्रमाण अधिकाधिक और अनुभाग अनन्तगुणा अनन्तगुणा हीन हीन होता जाता है। यह हीन क्रम बादर कृष्टि और सूक्ष्म कृष्टिमें भी पाया जाता है।

दशम गुणस्थानमें सूक्ष्मलोभके उदयसे होने वाले फलको दिखाते हैं।—

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहमसांपराओ, जहखादेणूणओ किं चि ॥ ६० ॥

अणुलोभं विदन् जीव उपशमको व क्षपको वा।
स सूक्ष्मसाम्परायो, यथाख्यातेनोनः किञ्चित् ॥ ६० ॥

अर्थ—चाहे उपशम श्रेणिका आरोहण करने वाला हो अथवा क्षपकश्रेणिका आरोहण करने वाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्मलोभके उदयका अनुभव कर रहा है, ऐसा दशवें गुणस्थानवाला जीव यथाख्यात चारित्रसे कुछ ही न्यून रहता है।

भावार्थ—यहाँ पर केवल सूक्ष्मकृष्टिगत लोभके उदयका ही वेदन होता है। इसीलिए यथाख्यात चारित्रके प्रकट होनेमें कुछ ही कमी रहती है।

ग्यारहवें गुणस्थान का स्वरूप दिखाते हैं—

कदक[1]फलजुदजलं वा, सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

कतक-फल—युतजलं वा, शरदि सरःपानीयं व निर्मलम् ।
सकलोपशान्तमोह, उपशान्तकपायको भवति ॥ ६१ ॥

अर्थ—निर्मली फलसे युक्त जलकी तरह, अथवा शरद् ऋतुमें ऊपरसे स्वच्छ होजाने वाले सरोवरके जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होने वाले निर्मल, परिणामोंको उपशान्तकपाय ग्यारहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ—इस गुणस्थानका पूरा नाम "उपशान्तकपाय वीतराग छद्मस्थ" है। छद्म शब्दका अर्थ है ज्ञानावरण दर्शनावरण। जो जीव इनके उदयकी अवस्थामें पाये जाते हैं, वे सव छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ भी दो तरह के हुआ करते हैं। एक सराग दूसरे वीतराग। ग्यारहवें वारहवें गुणस्थानवर्ती जीव वीतराग और इनसे नीचेके सव सराग छद्मस्थ हैं। कर्दम सहित जलमें निर्मली डालनेसे कर्दम नीचे वैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ जल रह जाता है। इसी प्रकार इस गुणस्थानमें मोहकर्मके उदयरूप कीचड़का सर्वथा उपशम होजाता है और ज्ञानावरणका उदय रहता है। इसीलिए इस गुणस्थानका यथार्थ नाम उपशान्तकपाय वीतराग छद्मस्थ है।

यहाँ पर चारित्रकी अपेक्षा केवल औपशमिक भाव और सम्यक्त्वकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक इस तरहसे दो भाव पाये जाते हैं।

वारहवें गुणस्थानका स्वरूप वताते हैं।

णिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि, णिग्गंथो वीयरायेहिं[2] ॥ ६२ ॥

निःशेषक्षीणमोहः, स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः ।
क्षीणकषायो भण्यते, निर्ग्रन्थो[3] वीतरागैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस निर्ग्रन्थका चित्त मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षीण हो जानेसे स्फटिकके निर्मल पात्र में रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो गया है उसको वीतराग देवने क्षीणकषाय नामका वारहवें गुणस्थानवर्ती कहा है।

१—संत सुत्त पृ. १८९ गाथा १२२। किन्तु तत्र "कदकफलजुदजलं वा" इति स्थाने "सकयाहलं जलं वा" इति पाठः।

२—षट्खं. संतसुत्त पृ. १९०, गाथा नं. १२३।

३—सम्पूर्ण २४ परिग्रहोंका अभाव यहीं पर होता है। क्योंकि वाह्यक्षेत्र आदि दशविध परिग्रहका त्याग तो पहलेसे ही पूर्ण था। परन्तु मोहनीयका सर्वथा अभाव यहीं होनेसे "मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः"। पु. सि. ये १४ अंतरंग परिग्रह यहीं सर्वथा निवृत्त होती हैं।

भावार्थ—जिस छद्मस्थकी वीतरागताके विरोधी मोहनीयकर्मके द्रव्य एवं भाव दोनोंही प्रकारोंका, अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चारोंही भेदोंका सर्वथा-बंध उदय, उदीरणा एवं सत्त्वकी अपेक्षा क्षय होजाता है वह बारहवें गुणस्थानवाला माना जाता है। इसलिए आगममें इसका नाम क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ ऐसा बताया है। यहाँ छद्मस्थ शब्द अन्त्यदीपक है। और वीतराग शब्द नाम स्थापना और द्रव्यरूप वीतरागताकी निवृत्तिके लिए है। तथा यहाँ पर पाँच भावोंमेंसे मोहनीयके सर्वथा अभावकी अपेक्षासे एक क्षायिक भाव ही माना गया है।

दो गाथाओं द्वारा तेरहवें गुणस्थानका वर्णन करते हैं।

केवलणाणदिवायरकिरण-कलावप्पणासियण्णाणो।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो[1] ॥ ६३ ॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण।
जुत्तो ति सजोगजिणो, अणाइणिहणारिसे उत्तो[2] ॥ ६४ ॥

केवलज्ञानदिवाकर,-किरणकलापप्रणाशिताज्ञानः।
नवकेवललब्ध्युद्गमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः ॥ ६३ ॥
असहायज्ञानदर्शनसहित इति केवली हि योगेन—
युक्त इति सयोगजिनः अनादिनिधनार्षे उक्तः ॥ ६४ ॥

अर्थ—जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणोंके समूह (उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया हो, और जिसको नव केवललब्धियोंके (क्षायिक-सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य) प्रकट होनेसे परमात्मा यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त होगया है, वह इन्द्रिय आलोक आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान-दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली और योग से युक्त रहनेके कारण सयोग, तथा घाति कर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगममें कहा है।

भावार्थ—बारहवें गुणस्थानका विनाश होते ही 'जिसके तीन[3] घाति कर्म और अघाति कर्मोंकी १६ प्रकृति, इस तरह कुल मिलकर ६३ कर्मप्रकृतियोंके[4] नष्ट होनेसे अनन्त चतुष्टय—अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, और अनन्त वीर्य तथा नव केवललब्धि प्रकट हो चुकी हैं किन्तु साथ ही जो योगसे भी युक्त है, उस अरिहन्त परमात्माको तेरहवें गुणस्थानवर्ती कहते हैं।

१-२—षट्खं. संत सुत्त. पृ. १९१, १९२ गाथा नं १२४, १२५। परन्तु तत्र "सजोगजिणो" इति स्थाने "सजोगो इदि" इति पाठः ॥

३—यद्यपि घातिकर्मके चार भेद हैं। किन्तु उनमेंसे मोहनीय कर्मका विनाश पहले ही हो चुका है अतएव शेष तीन कर्मोंका विनाश होकर यहां आर्हन्त्य अवस्था उत्पन्न होती है। ४—चारों घातिकर्मोकी मिलाकर ४७ और अघाति कर्मोंमेंसे तीन आयुकर्म जिनका यहाँपर अस्तित्व ही नहीं पाया जाता, नामकर्मकी नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकल त्रय, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, और स्थावर ये तेरह इस तरह कुल मिलकर ६३ प्रकृतियां हैं, जिसका विनाश—क्षय होनेपर तेरहवाँ गुणस्थान प्रकट हुआ करता है।

सामान्यतया जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—१ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा और ३ परमात्मा। सम्यग्दर्शनसे रहित बहिरात्मा, सम्यक्त्वसहित छद्मस्थ जीव सब अन्तरात्मा, तथा सर्वज्ञ हो जानेपर सभी जीव परमात्मा माने गये हैं। अतएव चतुर्थ गुणस्थानसे १२ वें गुणस्थान तकके सभी जीवोंकी अन्तरात्मा और इससे ऊपरके जीवोंकी परमात्मा संज्ञा है। किन्तु अन्तरात्मा और परमात्मा दोनों हीकी सामान्यतया जिन संज्ञा है। फिर भी उक्त ६३ कर्मोका घात करके उनपर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लेनेके कारण परमात्माकी मुख्यता—विशेषरूपसे यह जिन संज्ञा मानी गई है। यहाँपर गाथा नं ६३ में इसी जिनका सामान्य स्वरूप बताते हुए पूर्वार्धके द्वारा उसकी परोपकार सम्पत्ति और उत्तरार्धमें स्वार्थ सम्पत्तिका प्रदर्शन किया गया है।

इस जिनके दो भेद हैं—सयोग और अयोग। इस गाथा नं ६४ में सयोगका और आगेकी गाथा नं. ६५ में अयोग जिनका विशेष स्वरूप बताया गया है। एकत्व वितर्कशुक्ल ध्यानके प्रभावसे तेरहवें गुणस्थानके पहले ही समयमें छद्मस्थताका व्यय और केवलित्व-सर्वज्ञताका उत्पाद एक साथ ही हो जाया करता है। *क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है।* यहाँपर "सयोग" यह जिनका विशेषण है और वह अन्त्य दीपक है।

चौदहवें अयोग केवली गुणस्थानका वर्णन करते हैं।

सीलेसिं संपत्तो, णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को, गयजोगो केवली होदि[1] ॥ ६५ ॥

शीलैश्यं संप्राप्तो, निरुद्धनिःशेषास्रवो जीवः।
कर्मरजोविप्रमुक्तो, गतयोगः केवली भवति ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो अठारह हजार शीलके भेदोंका स्वामी हो चुका है, और जिसके कर्मोंके आनेका द्वाररूप आस्रव सर्वथा बन्द हो गया है। तथा सत्त्व और उदयरूप अवस्थाको प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वथा निर्जरा होनेसे जो उस कर्मसे सर्वथा मुक्त होनेके सम्मुख है, उस योगरहित केवलीको चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ—आगममें शीलके जितने भेद या विकल्प कहे हैं उन सबकी पूर्णता यहीं पर होती है। इसीलिये वह शीलका स्वामी है, और पूर्ण संवर तथा निर्जराका सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम पात्र होनेसे मुक्तावस्थाके सम्मुख है। काययोगसे भी वह रहित हो चुका है। इस तरहके जीवको ही चौदहवें गुणस्थानवाला अयोग केवली कहते हैं।

भावार्थ—आगममें शीलके १८ हजार भेदोंको अनेक प्रकारसे बताया है: किन्तु उनमेंसे एक प्रकार जो कि श्री कुन्दकुन्द भगवान्ने अपने मूलाचारके शीलगुणाधिकारमें बताया है, हम यहाँ लिख रहे हैं और उसका यन्त्र भी (आगेके पृष्ठ ४९ पर) दे रहे हैं—

जोए करणे सण्णा, इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहि अभत्था, अट्ठारससील सहस्साइं ॥ २ ॥

मतलब यह है कि तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दश पृथ्वीकायिक आदि

१—पद् खं. सं. सु. पृ. १९९ गाथा नं० १२६।

जीवभेद और दश उत्तम क्षमा आदि श्रमण धर्म, इनको परस्पर गुणा करनेसे शीलके १८ हज़ार भेद होते हैं।

योग संज्ञा इन्द्रिय और श्रमण धर्मका अर्थ प्रसिद्ध है। अशुभकर्मके ग्रहणमें कारणभूत क्रियाओंके निग्रह करनेको—अर्थात् अशुभयोगरूप प्रवृत्तिके परिहारको करण कहते हैं। निमित्त भेदसे इसके भी तीन भेद हैं—मन, वचन, और काय। रक्षणीय जीवोंके दश भेद हैं : यथा—पुढ़विद-गागणिमारुद पत्तेयाणंतकायियाचेव। विगतिगचउपंचिंदियभोम्मादि हवंति दस एदे ॥४॥ अर्थात्—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक, साधारण वनस्पति, और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय।[1]

शील के १८ हजार भेदोंका गूढ़यन्त्र

(प्रमादके भेदोंकी तरह इसके भी संख्या प्रस्तारादि निकाले जा सकते हैं।)

<table>
<tr><td colspan="2">म. यो.
१</td><td colspan="2">व. यो.
२</td><td colspan="2">काय यो.
३</td></tr>
<tr><td colspan="2">म. करण.
०</td><td colspan="2">व. करण.
३</td><td colspan="2">काय क.
६</td></tr>
<tr><td colspan="2">आ. स.
०</td><td colspan="2">भ. सं.
९</td><td colspan="2">मै. सं.
१८</td><td colspan="2">प. सं.
२७</td></tr>
<tr><td colspan="2">स्पर्शन
०</td><td colspan="2">रसना
३६</td><td colspan="2">घ्राण.
७२</td><td colspan="2">चक्षु.
१०८</td><td colspan="2">श्रोत्र
१४४</td></tr>
<tr><td>पृ.
०</td><td>ज.
१८०</td><td>अ.
३६०</td><td>वा.
५४०</td><td>प्र.
७२०</td><td>सा.
९००</td><td>द्वी.
१०८०</td><td>त्री
१२६०</td><td>च.
१४४०</td><td>पं.
१६२०</td></tr>
<tr><td>उ.क्ष.
०</td><td>मा.
१८००</td><td>आ.
३६००</td><td>शौ.
५४००</td><td>स.
७२००</td><td>सं.
९०००</td><td>त.
१०८००</td><td>त्या.
१२६००</td><td>आ.
१४४००</td><td>ब्र.
१६२००</td></tr>
</table>

१—इनके सिवाय शीलके १८ हजार भेद निकालनेके ये भी प्रकार प्रसिद्ध हैं। यथा—

१—विषयाभिलाषा आदि १० (विषयाभिलाषा, वस्तिमोक्ष, प्रणीतरससेवन, संसक्तद्रव्यसेवन, शरीरांगोपाङ्गावलोकन, प्रेमीका सत्कारपुरस्कार, शरीरसंस्कार, अतीतभोगस्मरण, अनागत भोगाकांक्षा, इष्टविषयसेवन।

चिन्ता आदि १० (चिन्ता दर्शनेच्छा, दीर्घनिःश्वास, ज्वर, दाह, अहाराशचि, मूर्छा, उन्माद, जीवनसन्देह, मरण)। इन्द्रिय ५ योग ३ कृतकारित अनुमोदना ये ३, जागृत, स्वप्न ये २, और चेतन अचेतन ये २। सबका १० × १० × ५ × ३ × ३ × २ × २ का गुणा करना।

२—स्त्री ३ (देवी मानुषी, तिरश्ची) को योग ३ कृतकारित अनुमोदना ३ चार संज्ञाएँ और इन्द्रिय १० (द्रव्येन्द्रिय ५, भावेन्द्रिय ५) तथा १६ कषायसे गुणने पर १७२८० भेद होते हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी ७२० भेद जोड़ना। यथा अचेतन स्त्री के ३ भेद (काष्ठ पाषाण, चित्र) योग २ (मन और काय) कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय भेद १० से गुणा करने पर ७२० भेद होते हैं।

३—स्त्री ४, योग ३, कृतादि ३, इन्द्रिय ५, शृंगाररसके भेद १०, कायचेष्टा भेद १० से गुणा करना।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंका स्वरूप बताकर अब उसमें होनेवाली आयुकर्मके बिना शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणि निर्जरा और उसके द्रव्यप्रमाण तथा कालप्रमाणको दो गाथाओं द्वारा बताते हैं।

सम्मत्तुप्पत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मंसे ।
दंसणमोहक्खवगे, कसायउवसामगे य उवसंते ॥६६॥
खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा ।
तव्विवरीया काला, संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥६७॥ जुम्मं ।

सम्यक्त्वोत्पत्तौ श्रावकविरते अनन्तकर्मांशे ।
दर्शनमोहक्षपके कषायोपशामके चोपशान्ते ॥ ६६ ॥
क्षपके च क्षीणमोहे, जिनेषु द्रव्याण्यसंख्यगुणितक्रमाणि ।
तद्विपरीताः कालाः संख्यातगुणक्रमा भवन्ति ॥६७॥ युग्मं ।

अर्थ—सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुवन्धी कर्मका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय करनेवाला, कषायोंका उपशम करनेवाले ८-९-१०वें गुणस्थानवर्त्ती जीव, उपशान्तकषाय, कषायोंका क्षपण करनेवाले ८-९-१० वें गुणस्थानवर्त्ती जीव, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी दोनों प्रकारके जिन, इन ग्यारह[1] स्थानोंमें द्रव्यकी अपेक्षा कर्मोंकी निर्जरा क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक होती जाती है। और उसका काल इससे विपरीत है। क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन है।

भावार्थ—सादि अथवा अनादि दोनों ही प्रकारका मिथ्यादृष्टि जीव जब करणलब्धिको प्राप्त करके उसके अधःप्रवृत्तकरण परिणामोंको भी बिताकर अपूर्वकरण परिणामोंको ग्रहण करता है, तब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टिके जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, वह पूर्वकी निर्जरासे अर्थात् सदा ही संसारावस्था या मिथ्यात्वदशामें होनेवाली या पाईजानेवाली निर्जरासे असंख्यातगुणी अधिक हुआ करती है। इससे असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा सम्यग्दर्शन उत्पन्न होजाने पर हुआ करती है। श्रावक अवस्था प्राप्त होनेपर जो कर्मोंकी निर्जरा होती है, वह असंयतसम्यग्दृष्टि की निर्जरासे असंख्यातगुणी अधिक होती है। इसी प्रकार विरतादि स्थानोंमें भी उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक कर्मोंकी निर्जरा हुआ करती है। तथा इस निर्जराका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा हीन हीन होता गया है। अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टिकी निर्जरामें जितना काल लगता है उससे संख्यातगुणा कम काल असंयतसम्यग्दृष्टिकी

१—निर्जराके स्थान वास्तवमें दश ही हैं। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र नं० ४५ में और उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि आदिमें स्पष्टतया दश संख्याका ही उल्लेख पाया जाता है। तथा इन दो गाथाओंमें भी इस दश स्थानोंके ही नाम गिनाये हैं। परन्तु यहाँ टीकाकारने ११ स्थान बताये हैं। सो प्रथम अथवा अन्तिम स्थानके दो भेद करनेसे घटित हो सकते हैं। जैसा कि आगे यहीं पर भावार्थमें स्पष्ट किया गया है।

निर्जरामें लगता है। और उससे भी संख्यातगुणा कम काल श्रावककी निर्जरामें लगा करता है। इसी प्रकार आगेके विरत आदि स्थानोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हीन हीन समयमें ही उत्तरोत्तर परिणाम विशुद्धिकी अधिकता होते जानेके कारण कर्मोंकी निर्जरा असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी अधिक अधिक होती जाती है। तात्पर्य यह कि जैसे जैसे मोहकर्म निःशेष होता जाता है वैसे वैसे निर्जरा भी बढ़ती जाती है और उसका द्रव्यप्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा अधिकाधिक होता जाता है। फलतः वह जीव भी निर्वाणके अधिक अधिक निकट पहुँचता जाता है। जहां गुणाकार रूपसे गुणित निर्जराका द्रव्य अधिकाधिक पाया जाता है उन स्थानों में गुणश्रेणी निर्जरा कही जाती है।

टीकाकारने यहां पर गुणश्रेणी निर्जराके ११ स्थान[१] बताये हैं। परन्तु प्रकृत दोनों गाथाओंमें १० स्थानोंके ही नामका उल्लेख किया गया है। अतएव या तो सम्यक्त्वोत्पत्ति इस एक ही नामसे सातिशय मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इस तरह दो भेदोंका ग्रहण करके ११ स्थानों की पूर्ति की जा सकती है। अथवा ऐसा न करके सम्यक्त्वोत्पत्ति शब्दसे तो एक ही स्थान लेना, परन्तु अन्तिम जिन शब्दसे दो भेदों का ग्रहण कर लेना चाहिये। टीकाकारने इस जिन शब्दसे स्वस्थानस्थित केवली और समुद्घातगत केवली इस प्रकार दो विभाग किये हैं। और स्वस्थान केवलीकी अपेक्षा समुद्घात केवलीके निर्जरा द्रव्यका प्रमाण असंख्यातगुणा[२] बताया है।

इस प्रकार चौदह गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंका वर्णन करके अब गुणस्थानोंका अतिक्रमण करनेवाले सिद्धोंका वर्णन करते हैं।

अट्ठविहकम्मवियला, सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा, लोयग्गणिवासिणो सिद्धा[३] ॥ ६८ ॥

अष्ट[४]विधकर्मविकलाः शीतीभूता निरंजना नित्याः।
अष्टगुणा कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृतके अनुभव करनेवाले शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबन्धको कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जनसे रहित हैं,

१, २—ततः (क्षीणकषायात्) स्वस्थानकेवलिजिनस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणं। ततः समुद्घातकेवलिजिनस्य गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यमसंख्यातगुणमित्येकादशस्थानेषु गुणश्रेणिनिर्जराद्रव्यस्य प्रतिस्थानमसंख्यातगुणित्वमुक्तम्।

"त एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः स. सि, "अध्यवसायविशुद्धिप्रकर्षादसंख्येयगुणनिर्जरात्वं दशानां""तत्त्वार्थराजवार्तिके च।

३—संतसुत्त पृ० २०० सूत्र नं० २३ गाथा नं० १२७। ४—कर्म ८ हैं। वे आत्माके आठ गुणोंका घात करते हैं। इन कर्मोंका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाने पर आत्माके वे गुण प्रकट हो जाते हैं, जैसा कि गाथामें 'अट्ठगुणा' विशेषणके द्वारा बताया गया है। कौनसा कर्म किस गुणका घात करता है, यह इन दो गाथाओं द्वारा बताया गया है।—

मोहो खाइयसम्मं केवलणाणं च केवलालोयं। हणदि हु आवरणदुगं अणंतविरियं हणेदि विग्घं तु।
सुहुमं च णामकम्मं हणेदि आऊ हणेदि अवगहणं। अगुरुलहुगं गोदं अव्वाबाहं हणेदि वेयणियं॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु, ये आठ मुख्य गुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य हैं—जिनको कोई कार्य करना वाकी नहीं रहा है, लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

भावार्थ—संसारावस्थाका विनाश हो जाने पर भी आत्मद्रव्यका विनाश नहीं होता उसका अस्तित्व रहता है। किन्तु वह अस्तित्व किसरूपमें रहता है यह इस गाथाके द्वारा बताया गया है।

ऊपरकी गाथामें दिये गये सिद्धोंके सात विशेषणोंका प्रयोजन दिखाते हैं।

सदसिव संखो मक्कडि, बुद्धो णेयाइयो य वेसेसी।
ईसरमंडलिदंसण,-विदूसणट्ठं कयं एदं ॥ ६९ ॥

सदाशिवः सांख्यः बुद्धो नैयायिकश्च वैशेषिकः।
ईश्वरमण्डलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक और वैशेषिक, कर्तृवादी (ईश्वरको कर्त्ता माननेवाले), मण्डली इनके मतोंका निराकरण करनेके लिये ये विशेषण दिये हैं।

भावार्थ—सदाशिव[1] मतवाला जीवको सदा कर्मसे रहित ही मानता है, उसके निराकरणके लिये ही ऐसा कहा है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेपर ही जीव कर्मोंसे रहित होता है—सदा नहीं। सिद्ध अवस्थासे पूर्व संसार अवस्थामें कर्मो से सहित रहता है[2]। सांख्यमतवाले मानते हैं कि "वन्ध मोक्ष, सुख, दुःख, प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं"। इसके निराकरणके लिए "सुखस्वरूप" ऐसा विशेषण दिया है। मस्करीमतवाला मुक्त जीवोंका लौटना मानता है। उसको दूषित करनेके लिये ही कहा है कि "सिद्ध निरंजन हैं" अर्थात् मिथ्यादर्शन क्रोध मानादि भावकर्मोंसे रहित हैं। क्योंकि विना भावकर्मके नवीन कर्मका ग्रहण नहीं हो सकता और विना कर्मग्रहणके जीव निर्हेतुक संसारमें लौट नहीं सकता। बौद्धोंका मत है कि "सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक अर्थात् क्षणध्वंसी हैं" उसको दूषित करनेके लिए कहा है कि वे "नित्य" हैं। नैयायिक तथा वैशेषिकमतवाले मानते हैं कि "मुक्तिमें बुद्ध्यादि गुणोंका विनाश होजाता है," उसको दूर करनेके लिए "ज्ञानादि आठ गुणोंसे सहित हैं" ऐसा कहा है। ईश्वरको कर्त्ता माननेवालोंके मतके लिये "कृतकृत्य" विशेषण दिया है। अर्थात् अब (मुक्त होनेपर) जीवको सृष्टि आदि बनानेका कार्य शेष नहीं रहा है। मण्डली मतवाला मानता है कि "मुक्त जीव सदा ऊपरको गमन ही करता जाता है, कभी ठहरता नहीं" उसके निराकरणके लिये "लोकके अग्रभागमें स्थित हैं" ऐसा कहा है।

इति गुणस्थानप्ररूपणानामा प्रथमोऽधिकारः।

२—जीवसमास

क्रमप्राप्त जीवसमासप्ररूपणाका निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं।

१—सदाशिवः सदाऽकर्मा सांख्यो मुक्तं सुखोज्झितं। मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥ १ ॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यते। कृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगामिनम् ॥ २ ॥

२—इससे उस याज्ञिक मतका भी निराकरण हो जाता है जिसके अनुसार मुक्ति कभी होती ही नहीं। सदा कर्म सहित संसारावस्था ही रहती है।

जेहिं अणेया जीवा, णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।
ते पुण संगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥ ७० ॥

यैरनेके[1] जीवा नयन्ते, बहुविधा अपि तज्जातयः ।
ते पुनः संगृहीतार्था, जीवसमासा इति विज्ञेयाः ॥ ७० ॥

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जाँय उन धर्मोंको अनेक पदार्थों का संग्रह करनेवाले होनेसे जीवसमास कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं कि जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीवकी अनेक जातियोंका संग्रह किया जासके । क्योंकि केवलज्ञानके विना जीवोंका स्वरूप और भेद प्रत्यक्ष नहीं जाना जासकता । अतएव छद्मस्थोंको उनका बोध कराना ही इस प्ररूपणाका प्रयोजन है । संग्रहनयसे जिन पर्यायाश्रित अनेक जीवोंमें पाये जानेवाले समान धर्मोंके द्वारा उनका संक्षेपमें ज्ञान कराया जा सके उनको ही जीवसमास कहते हैं । टीकाकारोंने जीवसमास शब्दसे एकेन्द्रियत्व आदि जातिधर्म अथवा उससे युक्त त्रस आदि अविरुद्ध धर्म तथा तद्वान् जीव इस तरह तीन अर्थ बताये हैं ।

इसका कारण उन धर्मोंमें पाई जाने वाली सदृशता है जैसा कि आगेकी गाथामें बताया गया है ।

इस गाथामें प्रयुक्त "अणेया" शब्दका अर्थ "अज्ञेया" ऐसा भी होता है । जिससे अभिप्राय यह बताया गया है कि यद्यपि संसारी प्राणियोंको जीव द्रव्य अज्ञेय है, फिर भी जिन सदृश धर्मोंके द्वारा उनका बोध हो सकता है, उनको ही जीवसमास कहते हैं । इस शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार होती है कि जीवाः समस्यन्ते—संक्षिप्यन्ते—संगृह्यन्ते यैः धर्मैस्ते जीवसमासाः" । अर्थात् अज्ञेया होनेपर भी जिन एकेन्द्रियत्व बादरत्व आदि धर्मोंके द्वारा संग्रहरूपमें अनेकों जीवों और उनकी विविध जातियोंका निश्चय होसके उनको ही जीवसमास कहते हैं ।

उत्पत्तिके कारणकी अपेक्षाको लेकर जीवसमासका लक्षण कहते हैं ।

तसचदुजुगाण मज्झे, अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये ।
जीवसमासा होंति हु, तब्भवसारिच्छसामण्णा ॥ ७१ ॥

त्रसचतुर्युगलानां मध्ये, अविरुद्धैर्युतजातिकर्मोदये ।
जीवसमासा भवन्ति हि, तद्भवसादृश्यसामान्याः ॥ ७१ ॥

अर्थ—त्रस स्थावर, बादर सूक्ष्म, पर्याप्त अपर्याप्त और प्रत्येक साधारण, इन चार युगलोंमें से अविरुद्ध त्रसादि कर्मोंसे युक्त जाति नामकर्मका उदय होनेपर जीवोंमें होनेवाले ऊर्ध्वतासामान्य-रूप या तिर्यक्सामान्यरूप धर्मोंको जीवसमास कहते हैं ।

१—अज्ञेया इति वाऽनूद्यम् ।

भावार्थ—एक पदार्थकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले समान धर्मको ऊर्ध्वतासामान्य अथवा तद्भवसामान्य[1] कहते हैं।

एक समयमें अनेक पदार्थगत सदृश धर्मको तिर्यक्सामान्य अथवा सादृश्यसामान्य कहते हैं। यह ऊर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक्सामान्यरूप धर्म, त्रसादि युगलोंमेंसे अविरुद्ध कर्मोंसे युक्त एकेन्द्रियादि जाति नामकर्मका उदय होने पर उत्पन्न होता है। इसीको जीवसमास कहते हैं।

जीवसमाससे सम्बन्धित कर्मोंमेंसे किस किसके उदयके साथ किस किस कर्मके उदयका विरोधाविरोध है, यह नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।—

क्रमांक	किसके साथ	विरुद्ध	अविरुद्ध
१	एकेन्द्रिय	त्रस	शेप सभी कर्मोंका उदय
२	द्वीन्द्रियादि	स्थावर. सूक्ष्म. साधारण.	,,
३	त्रस	,,　,,　,,	,,
४	स्थावर	त्रसनामकर्म	,,
५	वादर	सूक्ष्मनामकर्म	,,
६	सूक्ष्म	त्रस, वादर, प्रत्येक,	,,
७	पर्याप्त	अपर्याप्त	,,
८	अपर्याप्त	पर्याप्त	,,
९	प्रत्येक	साधारण	,,
१०	साधारण	प्रत्येक, त्रस	,,

संक्षेपसे जीवसमासके चौदह भेदोंको गिनाते हैं।

वादरसुहुमेइंदिय, वितिचउरिंदिय असण्णिसण्णी य।
पज्जत्तापज्जत्ता, एवं ते चोद्दसा होंति[2] ॥ ७२ ॥

वादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च।
पर्याप्तापर्याप्ता एवं ते चतुर्दश भवन्ति ॥ ७२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियके दो भेद हैं, वादर और सूक्ष्म। तथा विकलत्रय-द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय। पंचेन्द्रियके दो भेद हैं—संज्ञिपंचेन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रिय। इस तरह ये सातों ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही तरहके हुआ करते हैं। इसलिये जीवसमासके सामान्यतया सव मिलकर चौदह भेद होते हैं।

१—इस शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार वताई गई है कि—तेपु भवं-विद्यमानं तद्भवं, तद्भवं सादृश्य-सामान्यं येषां ते। अथवा तद्भवानि च तानि सादृश्यसामान्यानि च। तद्भवसहचरितानि तद्भवानि इत्युपचारशब्दोऽयम्। म० प्र०।

२—इससे मिलती हुई गाथा द्रव्यसंग्रह में भी पाई जाती है।

भावार्थ—यहाँ पर जो ये जीवसमासके चौदह भेद गिनाये हैं वे संक्षेपमें और सामान्यरूपसे ही बताये हैं। तथा इन भेदोंको बतानेका यह एक प्रकार है। किन्तु जीवसमासका जो लक्षण बताया गया है, उसके अनुसार प्रकारान्तरोंसे भी जीवसमासके भेद होसकते हैं। जैसा कि इस जीवकाण्डके कर्त्ता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त[1] चक्रवर्त्तीके उक्त लक्षणनुसार द्रव्यसंग्रह ग्रंथमें गुणस्थानोंको जिनका कि यहाँपर पहले वर्णन किया जा चुका है, तथा मार्गणाओंको भी जिनका कि यहाँ आगे वर्णन किया जायगा. जीवसमासके ही भेद बताया है। इसके सिवाय स्थावरके पाँच भेद और त्रसके चार भेद इस तरह मिलाकर जीवसमासके नौ भेद भी बताये हैं।[2] षट्खण्डागममें भी गुणस्थानोंके लिये जीवसमास शब्दका प्रयोग किया गया है।[3]

विस्तारपूर्वक जीवसमासके भेदोंका वर्णन करते हैं—

भूआउतेउवाऊ, णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा।
पत्तेयपदिट्ठिदरा, तस पण पुण्णा अपुण्णदुगा ॥७३॥

भ्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदस्थूलेतराः।
प्रत्येकप्रतिष्ठेतराः, त्रसपंच पूर्णा अपूर्णद्विकाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद। इन छहके बादर सूक्ष्मके भेदसे बारह भेद होते हैं। तथा प्रत्येकके दो भेद–एक प्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित। और त्रसके पाँच भेद-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, और संज्ञी पंचेद्रिय। इस तरह सब मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं। ये सभी भेद पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे तीन तीन प्रकारके होते हैं। इसलिये उन्नीसका तीनके साथ गुणा करने पर जीवसमासके ५७ भेद होते हैं।

भावार्थ—इन १९ भेदोंमें प्रत्येक शरीरसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रियतकके ७ भेद तो बादर ही हैं। बाकी एकेन्द्रियके भेद बादर-सूक्ष्म दोनों तरहके होते हैं, अतएव उसके बारह भेद होजाते हैं। निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थामें यद्यपि पर्याप्त नामकर्मका उदय रहता है फिर भी अवस्थाके पूर्ण-पर्याप्त न होने तक उसको भी अपर्याप्तमें ही गिन लिया गया है।

जीवसमासके उपर्युक्त ५७ भेदोंके भी अवान्तर भेदोंको दिखानेके लिये उनमें स्थानादि चार अधिकारोंको बताते हैं।

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि, देहोग्गाहणकुलाण भेदेहिं।
जीवसमासा सव्वे, परूविदव्वा जहाकमसो ॥७४॥

स्थानैरपि योनिभिरपि, देहावगाहनकुलानां भेदैः ॥
जीवसमासाः सर्वे, प्ररूपितव्या यथाक्रमशः ॥ ७४ ॥

१—द्रव्यसंग्रह और जीवकाण्डके कर्त्ता भिन्न भिन्न हैं, ऐसी ऐतिहासिकोंकी आजकल मान्यता है।
२—देखो द्रव्यसंग्रह गाथा नं० ११, १२, १३।
३—ष०, खं, सं०, सु, सूत्र नं० २।

अर्थ—स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, और कुलोंके भेद इन चार अधिकारोंके द्वारा सम्पूर्ण जीवसमासोंका[1] क्रमसे निरूपण करना चाहिये।

भावार्थ—गाथामें दो वार अपि शब्दका प्रयोग किया है। इनमेंसे प्रथम अपि शब्द स्थानादिकमेंसे प्रत्येकके समुच्चयको और दूसरा अपि शब्द पूर्वोक्त भेदोंके भी समुच्चयको सूचित करता है।

एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जातिभेदको अथवा एक, दो, तीन, चार आदि विकल्पोंको स्थान कहते हैं। कन्द, मूल, अण्डा, गर्भ, रस, स्वेद, आदि उत्पत्तिके आधारको योनि कहते हैं। शरीरके छोटे-वड़े भेदोंको देहावगाहना कहते हैं। भिन्न भिन्न शरीरकी उत्पत्तिको कारणीभूत नोकर्मवर्गणाके भेदोंको कुल कहते हैं।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे।
इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ॥७५॥

सामान्यजीवः त्रसस्थावरयोः, एकविकलसकलचरिमद्विके।
इन्द्रियकाययोः चरमस्य च, द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७५ ॥

अर्थ—सामान्यसे (द्रव्यार्थिकनयसे) जीवका एक ही भेद है, क्योंकि 'जीव' कहनेसे जीवमात्रका ग्रहण हो जाता है। इसलिये सामान्यसे जीवसमासका एक भेद, त्रस और स्थावर अपेक्षासे दो भेद, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय), त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद, यदि पंचेन्द्रियके दो भेद कर दिये जाँय तो जीवसमासके एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षा पाँच भेद हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये पाँच स्थावर और एक त्रस इस प्रकार कायकी अपेक्षा छह भेद हैं। यदि पाँच स्थावरोंमें त्रसके विकल और सकल इस तरह दो भेद करके मिला दिये जाँय तो सात भेद होते हैं। और विकल, असंज्ञी, संज्ञी इस प्रकार तीन भेद करके मिलानेसे आठ भेद होते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, इस तरह चार भेद करके मिलानेसे[2] नव भेद होते हैं। और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इस तरह पाँच भेद मिलानेसे दश भेद होते हैं।

पणजुगले तससहिये, तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे।
छद्दुगपत्तेयम्हि य, तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ॥ ७६ ॥

पंचयुगले त्रससहिते त्रसस्य द्वित्रिचतुःपंचकभेदयुते।
षड्द्विकप्रत्येके च, त्रसस्य त्रिचतुःपंचभेदयुते ॥ ७६ ॥

अर्थ—पाँच स्थावरोंके वादर सूक्ष्मकी अपेक्षा पाँच युगल होते हैं। इनमें त्रस सामान्यका एक भेद मिलानेसे ग्यारह भेद जीवसमासके होते हैं। तथा इन्हीं पाँच युगलोंमें त्रसके विकलेन्द्रिय,

१—"प्रवचनपरिपाट्यनतिक्रमेण" जी. प्र.।

२—देखो द्रव्यसंग्रह गाथा नं० ११।

सकलेन्द्रिय, दो भेद मिलानेसे बारह और त्रसके विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी, इस प्रकार तीन भेद मिलानेसे तेरह और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलानेसे चौदह, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी ये पाँच भेद मिलानेसे पन्द्रह भेद जीवसमासके होते हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इनके बादर सूक्ष्मको अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक वनस्पति, इनमें त्रसके उक्त विकलेन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी, ये तीन भेद मिलानेसे सोलह और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे सत्रह, तथा पाँच भेद मिलानेसे अठारह भेद होते हैं।

सगजुगलम्हि तसस्स य, पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा।
एयादुणवीसो त्ति य, इगिबितिगुणिदे हवे ठाणा॥ ७७॥

सप्तयुगले त्रसस्य च-पंचभंगयुतेषु भवन्ति एकोनविंशतिः।
एकादेकोनविंशतिरिति च, एकद्वित्रिगुणिते भवेयुः स्थानानि॥ ७७॥

अर्थ—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोदके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येकका प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठितकी अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलोंमें त्रसके उक्त पाँच भेद मिलानेसे जीवसमासके उन्नीस भेद होते हैं। इस प्रकार एकसे लेकर उन्नीस तक जो जीवसमासके भेद गिनाये हैं, इनका एक, दो, तीनके साथ गुणा करनेपर क्रमसे उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन, जीवसमासके अवान्तर भेद होते हैं।

उक्त भेदोंका एक दो तीनसे गुणा करनेका कारण क्या है सो बताते हैं।

सामण्णेण तिपंती, पढमा विदिया अपुण्णगे इदरे।
पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती॥ ७८॥

सामान्येन त्रिपंक्तयः, प्रथमा द्वितीया अपूर्णके इतरस्मिन्।
पर्याप्ते लब्ध्यपर्याप्तेऽप्रथमा भवेत् पंक्तिः॥ ७८॥

अर्थ—उक्त उन्नीस भेदोंकी तीन पंक्ति करनी चाहिये। उसमें प्रथम पंक्ति सामान्यकी अपेक्षासे है। और दूसरी पंक्ति अपर्याप्त तथा पर्याप्तकी अपेक्षासे है। और तीसरी पंक्ति पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षासे है।

भावार्थ—उन्नीसका जब एकसे गुणा करते हैं तब सामान्यकी अपेक्षा है। पर्याप्त, अपर्याप्त भेदकी विवक्षा नहीं है। जब दोके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त अपर्याप्तकी अपेक्षा है। और जब तीनके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा है[1]। गाथामें केवल

१—"मुहभूमिजोगदले पदगुणिदे पदधणं होदि" इस नियमके अनुसार तीनों पंक्तिगत जीवसमासोंकी संख्या इस प्रकार होगी—

(१) पंक्ति (सामान्य) १ + १९ = २० ÷ २ = १० × १९ = १९०।
(२) पंक्ति (प. नि.) २ + ३८ = ४० ÷ २ = २० × १९ = ३८०।
(३) पंक्ति (प. नि. ल.) ३ + ५७ = ६० ÷ २ = ३० × १९ = ५७०।

लब्धि शब्द है, उसका अर्थ लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा होता है; क्योंकि नामका एक देश भी पूरे नामका बोधक होता है। अप्रथमा शब्दसे यद्यपि द्वितीया तृतीया दोनों पंक्तियोंका ग्रहण हो सकता है, परन्तु द्वितीया-शब्द गाथामें कण्ठोक्त है; अतएव उसका तृतीया पंक्ति अर्थ करना ही उचित है।

जीवसमासके और भी उत्तर भेदोंको गिनानेके लिये दो गाथायें कहते हैं।

इगिवण्णं इगिविगले, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे, दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो ॥ ७९ ॥

एकपञ्चाशत् एकविकले, असंज्ञिसंज्ञिगतजलस्थलखगानाम्।
गर्भभवे सम्मूर्छे द्वित्रिकं भोगस्थलखेचरे द्वौ द्वौ ॥ ७९ ॥

अर्थ—जीवसमासके उक्त ५७ भेदोंमेंसे पंचेन्द्रियके छह भेद निकालनेसे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय-सम्बन्धी ५१ भेद शेष रहते हैं। कर्मभूमिमें होनेवाले पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके तीन भेद हैं, जलचर, स्थलचर, नभश्चर। ये तीनों ही तिर्यंच संज्ञी और असंज्ञी होते हैं। तथा गर्भज और सम्मूर्छन होते हैं; परन्तु गर्भजोंमें पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं, इसलिये गर्भजके बारह भेद, और सम्मूर्छनोंमें पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त, तीनों ही भेद होते हैं, इसलिये सम्मूर्छनोंके अठारह भेद, सब मिला कर पंचेन्द्रिय कर्मभूमिज तिर्यंचोंके तीस भेद होते हैं। भोगभूमिमें पंचेन्द्रिय-तिर्यंचोंके स्थलचर नभश्चर दो ही भेद होते हैं। और ये दोनों ही पर्याप्त तथा निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं। इसलिये भोगभूमिज तिर्यञ्चोंके चार भेद, और उक्त कर्मभूमिजसम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदोंमें मिलानेसे तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवसमासके ८५ भेद होते हैं। भोगभूमिमें जलचर, सम्मूर्छन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते।

मनुष्य, देव, नारक सम्बन्धी भेदोंको गिनाते हैं।

अज्जवमलेच्छमणुए, तिदु भोगकुभोगभूमिजे दो दो।
सुरणिरये दो दो इदि, जीवसमासा हु अडणउदी ॥ ८० ॥

आर्यम्लेच्छमनुष्ययोस्त्रयो द्वौ भोगकुभोगभूमिजयोर्द्वौ द्वौ।
सुरनिरययोर्द्वौ द्वौ इति, जीवसमासा हि अष्टानवतिः ॥ ८० ॥

अर्थ—आर्यखण्डमें पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त, तीनों ही प्रकारके मनुष्य होते हैं। म्लेच्छखण्डमें लब्ध्यपर्याप्तको छोड़कर दो प्रकारके ही मनुष्य होते हैं। इसीप्रकार भोगभूमि, कुभोग-भूमि, देव, नारकियोंमें भी दो दो ही भेद होते हैं। इसलिये सब मिलाकर जीवसमासके ९८ भेद हुए।

भावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यंचोंके ८५ भेद, और ९ भेद मनुष्योंके तथा दो भेद देवोंके; दो भेद नारकियोंके, इसप्रकार सब मिलाकर जीवसमासके अवान्तर भेद ९८ होते हैं।[1]

१—इसके सिवाय जीवप्रबोधिनी टीकामें दूसरे आचार्योंके मतसे क्षेपक ३ गाथाओंद्वारा जीवसमासके ४०६ भेद भी बताये हैं। यथा—

इस प्रकार स्थानाधिकारकी अपेक्षा जीवसमासोंका वर्णन हुआ। अब दूसरा योनि अधिकार क्रमसे प्राप्त है। योनिके दो भेद हैं—एक आकृतियोनि, दूसरी गुणयोनि। इनमेंसे पहले आकृतियोनिके भेद और स्वरूप बताते हैं।

संखावत्तयजोणी, कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य।
तत्थ य संखावत्ते, णियमा दु विवज्जदे[1] गब्भो॥ ८१॥

शंखावर्तकयोनिः, कूर्मोन्नतवंशपत्रयोनी च।
तत्र च शंखावर्ते, नियमात्तु विवर्ज्यते गर्भः॥ ८१॥

अर्थ—आकृति योनिके तीन भेद हैं। १ शंखावर्त्त, २ कूर्मोन्नत, ३ वंशपत्र। इनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ नियमसे वर्जित[2] है।

भावार्थ—जिसके भीतर शंखके समान चक्कर पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं। जो

सुद्ध-खरकु-जल-ते-वा; णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा।
पदिट्ठिदरपंच पत्तिय, वियलति पुण्णा अपुण्णदुगा॥ १॥
इगिविगले इगिसीदो, असण्णिसण्णिगयजलथलखगाणं।
गब्भभवे सम्मुच्छे, दुतिगतिभोगथलखेचरे दो दो॥ २॥
अज्जसमुच्छिगिगब्भे मलेच्छभोगतियकुणरछपणतीससये।
सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा, छहिय चारिसयं॥ ३॥

अर्थात्—शुद्ध पृथिवी, खरपृथिवी, जल, अग्नि, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इनके बादर सूक्ष्मके भेदसे १४ भेद, तृण, वल्ली, गुल्म, वृक्ष और मूल इस तरह प्रत्येक वनस्पतिके ५ भेदोंके सप्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठितके भेदसे १० भेद। विकलेन्द्रियोंके द्वीन्द्रियादिक ३ भेद, इस तरह २७ भेदोंका पर्याप्त, निर्वृत्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्तसे गुणा करनेपर ८१ भेद।

कर्मभूमिज पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें गर्भजोंके १२ सम्मूर्छनोंके १८, उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग-भूमिजोंके १२ इस तरह ४२ भेद।

मनुष्योंमे आर्यखण्डोद्भव सम्मूर्छन मनुष्यका १ लब्धपर्याप्तक भंग, तथा कर्मभूमिका गर्भज और म्लेच्छखण्ड; उत्तम, मध्यम, जघन्य, भोगभूमि एवं कुभोगभूमिके गर्भज मनुष्योंमें प्रत्येकका एक २ भेद।

देवोंमें भवनवासी १०, व्यन्तर ८, ज्योतिष्क ५, वैमानिक ६३ और नारकियोंके ४९। इस तरह १४१ के पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्तिकी अपेक्षा २८२ भेद हैं। इस तरह कुल मिलाकर ८१ + ४२ + १ + २८२ = ४०६ जीवसमासके भेद होते हैं।

१—विपद्यते इत्यप्यर्थः।

२—यौति-मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्मवर्गणापुद्गलैः सह सम्बध्यते जीवो यस्यां सा योनिः—जीवोत्पत्तिस्थानम्।........देवीनां चक्रवर्तिस्त्रीरत्नादीनां कासांचित् तथाविध (शंखावर्त) योनिसम्भवात्।

कछुआकी पीठकी तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं। जो बाँसके पत्तेके समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं। ये तीन तरहकी आकार योनि हैं। इनमेंसे पहली शंखावर्त योनिमें नियमसे गर्भ नहीं रहता।

कुम्मुण्णयजोणीये, तित्थयरा दुविहचक्कवट्टी य।
रामा वि य जायंते, सेसाए सेसगजणो दु॥ ८२॥

कूर्मोन्नतयोनौ, तीर्थंकरा द्विविधचक्रवर्तिनश्च।
रामा अपि च जायन्ते, शेषायां शेषकजनस्तु॥ ८२॥

अर्थ—कूर्मोन्नत योनिमें तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री तथा बलभद्र तथा अपि शब्दकी सामर्थ्यसे अन्य भी महान् पुरुष उत्पन्न होते[1] है। तीसरी वंशपत्र योनिमें साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं।

जन्म तथा उनकी आधारभूत गुणयोनिके भेदोंको गिनाते हैं।

जम्मं[2] खलु सम्मुच्छण, गब्भुववादा दु होदि तज्जोणी।
सच्चित्तसीदसंउडसेदर मिस्सा य[3] पत्तेयं॥ ८३॥

जन्म खलु सम्मूर्छनगर्भोपपादास्तु भवति तद्योनयः।
सचित्तशीतसंवृतसेतरमिश्राश्च प्रत्येकम्॥ ८३॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकारका होता है, सम्मूर्छन, गर्भ और उपपाद। तथा सचित्त, शीत, संवृत, और इनसे उल्टी अचित्त, उष्ण, विवृत तथा तीनोंकी मिश्र, इस तरह तीनों ही जन्मोंकी आधारभूत नौ गुणयोनि हैं। इनमेंसे यथासम्भव प्रत्येक योनिको सम्मूर्छनादि जन्मके साथ लगा लेना चाहिये।

भावार्थ—सामान्यतया गुणयोनिके ये नौ भेद हैं। सचित, अचित्त, मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त। शीत, उष्ण, मिश्र। और संवृत, विवृत, मिश्र।

आत्मप्रदेशोंसे युक्त पुद्गलपिंडको सचित्त और उनसे रहित पुद्गलको अचित्त कहते हैं। जन्मके आधारभूत स्थानके कुछ पुद्गल सचित्त और कुछ अचित्त हों तो उसको सचित्त, अचित्तकी मिश्र योनि समझना चाहिये। शीत, उष्ण और उसकी मिश्रका अर्थ स्पष्ट है। संवृतका अर्थ ढका हुआ और विवृतका अर्थ खुला हुआ तथा कुछ ढका हुआ कुछ खुला हुआ हो तो उसको संवृत, विवृतका मिश्र समझना चाहिये।

१—जी. प्र. टीकामें लिखा है कि "अपि शब्दान्नेतरजनाः।" परन्तु स्व. पं. गोपालदासजीके कथनानुसार मालूम होता है कि यहाँपर 'अपि शब्दादितरजना अपि" ऐसा पाठ होना चाहिये। क्योंकि प्रथम चक्रवर्ती भरत जिस योनिसे उत्पन्न हुआ था। उसीसे उसके ९९ भाई भी उत्पन्न हुए थे।

२, ३—सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म॥ ३१॥ सचित्तशीतसंवृताः सेतराः मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः॥ ३२॥ त. सू. अ. २।

किन जीवोंके कौनसा जन्म होता है सो बताते हैं।

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणं।
उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं[1] ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजाण्डजजीवानां गर्भो देवनारकाणाम्।
उपपादः शेषाणां सम्मूर्छनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत—प्रावरणरहित और उत्पन्न होते ही जिनमें चलने फिरने आदिकी सामर्थ्य हो, जैसे सिंह, बिल्ली, हिरण आदि। जरायुज जो जेरके साथ उत्पन्न होते हों। अण्डज—जो अण्डेसे उत्पन्न हों। इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियोंका उपपाद[2] जन्म ही होता है, शेष जीवोंका सम्मूर्छन[3] जन्म ही होता है।

भावार्थ—आगममें इन तीन प्रकारके जन्म और उनके स्वामियोंके सम्बन्धमें दो तरहसे नियम बताया गया है। जीवप्रबोधिनी टीकामें "एषां जीवानां (जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव जन्म, चतुर्णिकायदेवानां नारकाणां च········उपपाद एव जन्म, शेषाणां·······सम्मूर्च्छनमेव जन्म।" इस तरह इकतर्फा नियम बताया गया है। किन्तु मन्दप्रबोधनीमें "तेषामेव गर्भः, तेषा गर्भ एव" इस प्रकार तीनोंका दुतर्फा नियम बताया है। सर्वार्थसिद्धिमें भी दोनों तरफसे ही अवधारण किया[4] गया है। राजवार्तिक[5] श्लोकवार्तिक[6] और धवलामें एकतरफा ही अवधारण बताया गया है।

१—त सू. अ. २। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३६ ॥ देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

२—देवोंके उत्पन्न होनेकी शय्या-स्थान और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उष्ट्रकादि स्थान। उपपादका अर्थ उत्पन्न होना भी है।

३—चारों तरफसे पुद्गलोंका इकट्ठा होकर शरीर बनना। उपपादमें स्थान नियत हैं। सम्मूर्छन जन्म अनियत स्थानोंमें होता है। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीवोंके शरीर सम्मूर्छन ही होते हैं।

४—"उभयतो नियमश्च द्रष्टव्यः जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एव जरायुजाण्डजपोतानाम्" इत्यादि। स. सि. २—३५"

५—"जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एवेति नियमः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात्" (रा. वा. २-३३-१२) इसकी विशेष जानकारीके लिये देखो अ. २ सू. ३५ वा. १ का भाष्य।

६—युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोऽवधारणात्। देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥१॥ श्लो. अ. २ सू. ३३। "यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु वा प्रसज्येत। यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओं द्वारा बताते हैं।

उववादे अच्चित्तं, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।
सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणी हु॥ ८५॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्मूर्च्छे।
सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि॥ ८५॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्मकी मिश्र[1] योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्मकी सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरहकी योनि होती है।

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि।
उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु॥ ८६॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति।
उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु॥ ८६॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छन जन्मोंमें शीत, उष्ण, मिश्र तीनों[2] ही योनि होती हैं। उपपाद जन्मवालोंको तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत[3] ही होती है। और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।
सम्मुच्छणपंचक्खे, वियलं वा[4] विउलजोणी हु॥ ८७॥

गर्भजजीवानां पुनः, मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि।
सम्मूर्छनपंचाक्षेषु विकलं वा विवृतयोनिर्हि॥ ८७॥

अर्थ—गर्भज जीवोंकी योनि नियमसे मिश्र-संवृत विवृतकी अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृतयोनि ही होती है।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेष संख्याको बताते हैं।

सामण्णेण य एवं, णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण॥ ८८॥

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे।
लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन॥ ८८॥

१—माताके सचित्तरज और पिताके अचित्त वीर्यके मिलनेसे सचित्ताचित्तरूप मिश्र योनि होती है।

२—'तेजस्कायिकेषु उष्णैव योनिः स्यात्' इत्यपि पाठः।

३—"संपुटशय्योष्ट्रकाद्युपपादस्थानानां विवक्षितजीवोत्पत्त्यनन्तरं पुनरपरजीवोत्पत्तेः प्राक् नियमेन संवृतत्वात् मं. प्र.।

४—वियलं वेति छन्दःपूरणार्थं विकलेन्द्रियसादृश्यार्थं वा। मं. प्र.।

किन जीवोंके कौनसा जन्म होता है सो बताते हैं।

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणं।
उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं[1] ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजाण्डजजीवानां गर्भो देवनारकाणाम्।
उपपादः शेषाणां सम्मूर्छनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत—प्रावरणरहित और उत्पन्न होते ही जिनमें चलने फिरने आदिकी सामर्थ्य हो, जैसे सिंह, बिल्ली, हिरण आदि। जरायुज जो जेरके साथ उत्पन्न होते हों। अण्डज—जो अण्डेसे उत्पन्न हों। इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियोंका उपपाद[2] जन्म ही होता है, शेष जीवोंका सम्मूर्छन[3] जन्म ही होता है।

भावार्थ—आगममें इन तीन प्रकारके जन्म और उनके स्वामियोंके सम्बन्धमें दो तरहसे नियम बताया गया है। जीवप्रबोधिनी टीकामें "एषां जीवानां (जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव जन्म, चतुर्णिकायदेवानां नारकाणां च·······उपपाद एव जन्म, शेषाणां·······सम्मूर्च्छनमेव जन्म।" इस तरह इकतर्फा नियम बताया गया है। किन्तु मन्दप्रबोधनीमें "तेषामेव गर्भः, तेषा गर्भ एव" इस प्रकार तीनोंका दुतर्फा नियम बताया है। सर्वार्थसिद्धिमें भी दोनों तरफसे ही अवधारण किया[4] गया है। राजवार्तिक[5] श्लोकवार्तिक[6] और धवलामें एकतरफा ही अवधारण बताया गया है।

१—त सू. अ. २। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३६ ॥ देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

२—देवोंके उत्पन्न होनेकी शय्या-स्थान और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उष्ट्रकादि स्थान। उपपादका अर्थ उत्पन्न होना भी है।

३—चारों तरफसे पुद्गलोंका इकट्ठा होकर शरीर बनना। उपपादमें स्थान नियत हैं। सम्मूर्छन जन्म अनियत स्थानोंमें होता है। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीवोंके शरीर सम्मूर्छन ही होते हैं।

४—"उभयतो नियमश्च द्रष्टव्यः जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एव जरायुजाण्डजपोतानाम्" इत्यादि। स. सि. २—३५"

५—"जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एवेति नियमः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात्" (रा. वा. २-३३-१२) इसकी विशेष जानकारीके लिये देखो अ. २ सू. ३५ वा. १ का भाष्य।

६—युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोऽवधारणात्। देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥१॥ श्लो. अ. २ सू. ३३। "यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु वा प्रसज्येत। यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओं द्वारा बताते हैं।

उववादे अच्चित्तं, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।
सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणी हु॥ ८५॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्मूर्च्छे।
सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि॥ ८५॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्मकी मिश्र[1] योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्मकी सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरहकी योनि होती है।

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि।
उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु॥ ८६॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति।
उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु॥ ८६॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छन जन्मोंमें शीत, उष्ण, मिश्र तीनों[2] ही योनि होती हैं। उपपाद जन्मवालोंकी तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत[3] ही होती है। और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।
संम्मुच्छणपंचक्खे, वियलं वा[4] विउलजोणी हु॥ ८७॥

गर्भजजीवानां पुनः, मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि।
सम्मूर्छनपंचाक्षेषु विकलं वा विवृतयोनिर्हि॥ ८७॥

अर्थ—गर्भज जीवोंकी योनि नियमसे मिश्र-संवृत विवृतकी अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृतयोनि ही होती है।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेष संख्याको बताते हैं।

सामण्णेण य एवं, णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण॥ ८८॥

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे।
लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन॥ ८८॥

१—माताके सचित्तरज और पिताके अचित्त वीर्यके मिलनेसे सचित्ताचितरूप मिश्र योनि होती है।

२—'तेजस्कायिकेषु उष्णैव योनिः स्यात्' इत्यपि पाठः।

३—"संपुटशय्योष्ट्रकाद्युपपादस्थानानां विवक्षितजीवोत्पत्त्यनन्तरं पुनरपरजीवोत्पत्तेः प्राक् नियमेन संवृतत्वात् मं. प्र.।

४—*वियलं वेति छन्दःपूरणार्थं विकलेन्द्रियसादृश्यार्थं वा। मं. प्र.।*

किन जीवोंके कौनसा जन्म होता है सो बताते हैं ।

पोतजरायुजअंडज, जीवाणं गब्भ देवणिरयाणं ।
उववाद सेसाणं, सम्मुच्छणयं तु णिद्दिट्ठं[1] ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजाण्डजजीवानां गर्भो देवनारकाणाम् ।
उपपादः शेषाणां सम्मूर्छनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत—प्रावरणरहित और उत्पन्न होते ही जिनमें चलने फिरने आदिकी सामर्थ्य हो, जैसे सिंह, बिल्ली, हिरण आदि। जरायुज जो जेरके साथ उत्पन्न होते हों। अण्डज—जो अण्डेसे उत्पन्न हों। इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है। देव नारकियोंका उपपाद[2] जन्म ही होता है, शेष जीवोंका सम्मूर्छन[3] जन्म ही होता है।

भावार्थ—आगममें इन तीन प्रकारके जन्म और उनके स्वामियोंके सम्बन्धमें दो तरहसे नियम बताया गया है। जीवप्रबोधिनी टीकामें "एषां जीवानां (जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ एव जन्म, चतुर्णिकायदेवानां नारकाणां च·······उपपाद एव जन्म, शेषाणां·······सम्मूर्च्छनमेव जन्म।" इस तरह इकतर्फा नियम बताया गया है। किन्तु मन्दप्रबोधनीमें "तेषामेव गर्भः, तेषा गर्भ एव" इस प्रकार तीनोंका दुतर्फा नियम बताया है। सर्वार्थसिद्धिमें भी दोनों तरफसे ही अवधारण किया[4] गया है। राजवार्तिक[5] श्लोकवार्तिक[6] और धवलामें एकतरफा ही अवधारण बताया गया है।

१—त सू. अ. २। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३६ ॥ देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

२—देवोंके उत्पन्न होनेकी शय्या-स्थान और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उष्ट्रकादि स्थान। उपपादका अर्थ उत्पन्न होना भी है।

३—चारों तरफसे पुद्गलोंका इकट्ठा होकर शरीर बनना। उपपादमें स्थान नियत हैं। सम्मूर्छन जन्म अनियत स्थानोंमें होता है। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीवोंके शरीर सम्मूर्छन ही होते हैं।

४—"उभयतो नियमश्च द्रष्टव्यः जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एव जरायुजाण्डजपोतानाम्" इत्यादि। स. सि. २—३५"

५—"जरायुजाण्डजपोतानामेव गर्भः। गर्भ एवेति नियमः कस्मान्न भवति ? उत्तरत्र शेषाणामिति वचनात्" (रा. वा. २-३३-१२) इसकी विशेष जानकारीके लिये देखो अ. २ सू. ३५ वा. १ का भाष्य।

६—युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोऽवधारणात्। देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥१॥ श्लो. अ. २ सू. ३३। "यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु वा प्रसज्येत। यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओं द्वारा बताते हैं।

उववादे अच्चित्तं, गब्भे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छे।
सच्चित्तं अच्चित्तं, मिस्सं च य होदि जोणी हु॥ ८५॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्मूर्च्छे।
सचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि॥ ८५॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अचित्त ही योनि होती है। गर्भ जन्मकी मिश्र[1] योनि ही होती है। तथा सम्मूर्छन जन्मकी सचित्त, अचित्त, मिश्र तीनों तरहको योनि होती है।

उववादे सीदुसणं, सेसे सीदुसणमिस्सयं होदि।
उववादेयक्खेसु य, संउड वियलेसु विउलं तु॥ ८६॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति।
उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु॥ ८६॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती है। शेष गर्भ और सम्मूर्छन जन्मोंमें शीत, उष्ण, मिश्र तीनों[2] ही योनि होती हैं। उपपाद जन्मवालोंकी तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत[3] ही होती है। और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है।

गब्भजजीवाणं पुण, मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु।
संमुच्छणपंचक्खे, वियलं वा[4] विउलजोणी हु॥ ८७॥

गर्भजजीवानां पुनः, मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि।
सम्मूर्छनपंचाक्षेषु विकलं वा विवृतयोनिर्हि॥ ८७॥

अर्थ—गर्भज जीवोंकी योनि नियमसे मिश्र-संवृत विवृतकी अपेक्षा मिश्रित ही होती है। पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृतयोनि ही होती है।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेष संख्याको बताते हैं।

सामण्णेण य एवं, णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी, जोणीओ होंति णियमेण॥ ८८॥

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे।
लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन॥ ८८॥

१—माताके सचित्तरज और पिताके अचित्त वीर्यके मिलनेसे सचित्ताचितरूप मिश्र योनि होती है।

२—'तेजस्कायिकेषु उष्णैव योनिः स्यात्' इत्यपि पाठः।

३—"संपुटशय्योष्ट्रकाद्युपपादस्थानानां विवक्षितजीवोत्पत्त्यनन्तरं पुनरपरजीवोत्पत्तेः प्राक् नियमेन संवृतत्वात् मं. प्र.।

४—वियलं वेति छन्दःपूरणार्थं विकलेन्द्रियसादृश्यार्थं वा। मं. प्र.।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्यसे योनियोंके नियमसे नव ही भेद होते हैं। विस्तारकी अपेक्षा इनके चौरासी लाख भेद होते हैं।

योनिसम्बन्धी इस विस्तृत संख्याके सम्भव स्थानोंको विशेषतया बताते हैं।

णिच्चिदरधादुसत्त य, तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो, चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥

नित्येतरधातुसप्त च, तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयतिर्यक्चतस्रः, चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः ॥ ८९ ॥

अर्थ—नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनमेंसे प्रत्येककी सात सात लाख, तरु अर्थात् प्रत्येक वनस्पतिकी दश लाख, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनमेंसे प्रत्येककी दो दो लाख अर्थात् विकलेन्द्रियकी सब मिलाकर छह लाख, देव, नारकी, तिर्यंच पचेंद्रिय प्रत्येककी चार चार लाख, मनुष्यकी चौदह लाख, सब मिलाकर ८४ लाख योनि होती है।

किस किस गतिमें कौन कौनसा जन्म होता है, यह दो गाथाओं द्वारा दिखाते हैं।

उववादा सुरणिरया, गब्भजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया।
सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा ॥ ९० ॥

उपपादाः सुरनिरयाः गर्भजसम्मूर्च्छिमा हि नरतिर्यञ्चः।
सम्मूर्च्छिमा मनुष्या, अपर्याप्ता एकविकलाक्षाः ॥ ९० ॥

अर्थ—देवगति और नरकगतिमें उपपाद जन्म ही होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें यथासम्भव गर्भ और सम्मूर्छन दोनों ही प्रकारका जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियोंका सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

पंचक्खतिरिक्खाओ, गब्भजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं।
भोगभुमा गब्भभवा, नरपुण्णा गब्भजा चेव ॥ ९१ ॥

पंचाक्षतिर्यंचो गर्भजसम्मूर्छिमा तिरश्चाम्।
भोगभूमा गर्भभवाः, नरपूर्णा गर्भजाश्चैव ॥ ९१ ॥

अर्थ—कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यंच गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं। तिर्यंचोंमें जो भोगभूमिया तिर्यंच हैं वे गर्भज ही होते हैं। और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं।

लब्ध्यपर्याप्तकोंकी कहां कहां सम्भावना है और कहां नहीं है, यह बताते हैं।

उववादगब्भजेसु य, लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण।
णरसम्मुच्छिमजीवा, लद्धिअपज्जत्तगा चेव ॥ ९२ ॥

उपपादगर्भजेषु च, लब्ध्यपर्याप्तका न नियमेन।
नरसम्मूर्छिमजीवा, लब्ध्यपर्याप्तकाश्चैव ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपपाद और गर्भ जन्मवालोंमें नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते। और सम्मूर्छन मनुष्य नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं।

भावार्थ—देव नारकी पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं। और चक्रवर्तीकी[1] रानी आदिको छोड़कर शेष आर्यखण्डकी स्त्रियोंकी योनि, काँख, स्तन, मूत्र, मल आदिमें उत्पन्न होनेवाले सम्मूर्छन मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं।

णेरइया खलु संढा, णरतिरिये तिण्णि होंति सम्मुच्छा।
संढा सुरभोगभुमा, पुरिसिच्छीवेदगा चेव ॥ ९३ ॥

नैरयिकाः खलु षण्ढा, नरतिरश्चोस्त्रयो भवन्ति सम्मूर्च्छाः।
षण्ढाः सुरभोगभूमाः पुरुषस्त्रीवेदकाश्चैव ॥ ९३ ॥

अर्थ—नारकियोंका द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है। मनुष्य और तिर्यंचोंके तीनों ही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं, सम्मूर्च्छन मनुष्य और तिर्यच नपुंसक ही होते हैं। देव और भोगभूमियोंके पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है।

भावार्थ—देव, नारकी, भोगभूमियां और सम्मूर्छन जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है, वही भाववेद होता है, किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यंचोंमें यह नियम नहीं है। उनके द्रव्यवेद और भाववेदमें विपरीतता भी पाई जाती है। आंगोपांग नामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरगत चिन्ह विशेषको द्रव्यवेद और मोहनीयकर्मकी प्रकृतिके उदयसे होनेवाले परिणामविशेषोंको भाववेद कहते हैं।

शरीरावगाहनाकी अपेक्षा जीवसमासोंका निरूपण करनेसे प्रथम सबसे उत्कृष्ट और जघन्य शरीरकी अवगाहनाओंके स्वामियोंको दिखाते हैं।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अंगुलअसंखभागं, जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये।
अंगुलासंख्यभागं, जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ ९४ ॥

अर्थ—उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है। और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्यके होती है।

भावार्थ—ऋजुगतिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी उत्पत्तिसे तीसरे[2] समयमें शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है। उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूरमण समुद्रके मध्यमें होनेवाले महामत्स्यकी होती है।

१—देखो गाथा नं. ६३ की जीवप्रबोधिनी टीका।

२—उत्पत्तिके प्रथम समयमें आयतचतुरस्र और दूसरे समयमें समचतुरस्र होती है, इसलिये प्रथम द्वितीय समयमें जघन्य अवगाहना नहीं होती; किन्तु तीसरे समयमें गोल होजानेसे जघन्य अवगाहना होती है।

इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पांचसौ योजन चौड़ा, ढाईसौ योजन मोटा है। जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक एक प्रदेशकी वृद्धिके क्रमसे मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद होते हैं। अवगाहनाके सम्पूर्ण विकल्प संख्यात घनांगुल प्रमाण असंख्यात होते हैं।

ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेवालेकी ही जघन्य अवगाहना होती है। यह कहनेका कारण यह है कि विग्रहगतिसे उत्पन्न होनेवालेके योगोंमें वृद्धि हुआ करती है और योगोंकी वृद्धि होनेपर अवगाहनामें भी वृद्धि हो जानेका प्रसंग आ जाता है।

उत्कृष्ट अवगाहना भी स्वयंभूरमण समुद्रके तटवर्ती मत्स्यमें अथवा अन्यत्र पाये जानेवाले जीवमें न रहकर स्वयंभूरमणके मध्यवर्ती महामत्स्यमें ही सम्भव है।

इन्द्रियकी अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बताते हैं।

साहियसहस्समेकं, वारं कोसूणमेकमेक्कं च ।
जोयणसहस्सदीहं, पम्मे वियले महामच्छे ॥ ९५ ॥

साधिकसहस्रमेकं, द्वादश क्रोशोनमेकमेकं च ।
योजनसहस्रदीर्घं, पद्मे विकले महामत्स्ये ॥ ९५ ॥

अर्थ—पद्म (कमल) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीरकी अवगाहना क्रम से कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीन कोश, एक योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये।

भावार्थ—एकेन्द्रियोंमें सबसे उत्कृष्ट कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियों में शंखकी बारह योजन, त्रीन्द्रियोंमें ग्रैष्मी (चींटी) की तीन कोश, चतुरिन्द्रियोंमें भ्रमरकी एक योजन, पंचेन्द्रियों में महामत्स्यकी एक हजार योजन लम्बी शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण है।

यहाँपर महामत्स्यकी एक हजार योजनकी अवगाहनासे जो पद्मकी कुछ अधिक अवगाहना बतलाई है, और पूर्वमें सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यकी ही बतलाई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँपर केवल लम्बाईका वर्णन है, और पूर्वमें जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनक्षेत्रफलकी अपेक्षासे थी। इसलिये पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहना ही उत्कृष्ट समझनी चाहिये; क्योंकि पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहनाका क्षेत्रफल अधिक होता है।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिकोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? और उसके धारक जीव कौन कौन हैं? यह बताते हैं।

बितिचपपुण्णजहण्णं, अणुंधरीकुंथुकाणमच्छीसु ।
सिच्छयमच्छे विंदंगुलसंखं संखगुणिदकमा ॥ ९६ ॥

द्वित्रिचपपूर्णजघन्यमनुंधरीकुंथुकाणमक्षिकासु ।
सिक्थकमत्स्ये वृन्दांगुलसंख्यं संख्यगुणितक्रमाः ॥ ९६ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंमें अनुंधरी, कुन्थु, काणमक्षिका सिक्थक मत्स्यके क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है। इसमें प्रथमकी घनांगुलके संख्यातवें भागप्रमाण है। और पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तर उत्तरकी अगवाहना क्रमसे संख्यातगुणी संख्यातगुणी अधिक अधिक है

भावार्थ—द्वीन्द्रियोंमें सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरीके पाई जाती है और उसका प्रमाण घनांगुलके संख्यातवें भागमात्र है। उससे संख्यातगुणी त्रीन्द्रियोंकी जघन्य अवगाहना है, यह कुंथुके पाई जाती है। इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियोंमें काणमक्षिकाकी, और इससे भी संख्यातगुणी पंचेन्द्रियोंमें सिक्थमत्स्यके जघन्य अवगाहना पाई जाती है। यहाँ पर आचार्योंने द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि न लिखकर "वि, ति, च, प," ये शब्द जो लिखे हैं वे "नामका एकदेश भी सम्पूर्ण नामका बोधक होता है" इस नियमके आश्रयसे लाघवके लिए लिखे हैं। यह अवगाहना घनफलरूप है इनकी लम्बाई चौड़ाई ऊँचाईका पृथक्-पृथक् प्रमाण यहाँ नहीं बताया गया है।

सर्व जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त जितने अवगाहनाके भेद हैं उनमें किस किस भेदका कौन कौन स्वामी है? और उन अवगाहनाओंको न्यूनाधिकताका प्रमाण तथा गुणाकार क्या है? वह पाँच गाथाओं द्वारा बताते हैं।

सुहमणिवातेआभू, वातेआपुणिपदिट्ठिदं इदरं।
वितिचपमादिल्लाणं, एयाराणं तिसेढीय ॥ ९७ ॥

सूक्ष्मनिवातेआभू, वाते अपप्पृनिप्रतिष्ठितमितरत्।
द्वित्रिचपमाद्यानामेकादशानां त्रिश्रेणयः ॥ ९७ ॥

अर्थ—एक कोठेमें सूक्ष्मनिगोदिया वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय इनका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे दूसरे कोठेमें वादर वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय निगोदिया और प्रतिष्ठित प्रत्येक इनका क्रम से स्थापन करना। इसके आगे तीसरे कोठेमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रियोंका क्रमसे स्थापन करना। इसके आगे उक्त सोलह स्थानोंमेंसे आदिके ग्यारह स्थानोंकी तीन श्रेणी माँडनी चाहिए।

भावार्थ—तीन कोठोंमें स्थापित सोलह स्थानोंमेंसे आदिके ग्यारह स्थान जो कि प्रथम द्वितीय कोठेमें स्थापित किये गये हैं—अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियासे लेकर प्रतिष्ठित प्रत्येक पर्यन्तके ग्यारह स्थानोंकी क्रमानुसार उक्त तीन कोठाओंके आगे पूर्ववत् दो कोठाओंमें स्थापित करने चाहिए, और इसके नीचे इन ही ग्यारह स्थानोंके दूसरे और दो कोठे स्थापित करना चाहिए। तथा इन दूसरे दोनों कोठाओंके नीचे पुनः तीसरे दो कोठा स्थापित करना चाहिए। इस प्रकार तीन श्रेणिमें दो दो कोठाओंमें ग्यारह स्थानोंको स्थापित करना चाहिये। और इसके आगे :—

अपदिट्ठिदपत्तेयं, वितिचपतिचविअपदिट्ठिदं सयलं।
तिचविअपदिट्ठिदं च य, सयलं वादालगुणिदकमा ॥ ९८ ॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येकं द्वित्रिचपत्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं सकलम् ।
त्रिचद्व्यप्रतिष्ठितं च च सकलं द्वाचत्वारिंशद्गुणितक्रमाः ॥ ९८॥

अर्थ--छट्ठे कोठेमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रियका स्थापन करना। इसके आगेके कोठेमें क्रमसे त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक और पंचेन्द्रिय का स्थापन करना। इससे आगेके कोठेमें त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक तथा पंचेन्द्रियका क्रमसे स्थापन करना। इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानोंमें ब्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं।

भावार्थ—आदिके तीन कोठोंमें स्थापित सोलह स्थान और जिन ग्यारह स्थानोंको तीन श्रेणियोंमें स्थापित किया था उनमेंसे नीचेकी दो श्रेणियोंमें स्थापित बाईस स्थानोंको छोड़कर ऊपरकी श्रेणिके ग्यारह स्थान तथा इसके आगे तीन कोठोंमें स्थापित पन्द्रह स्थान सब मिलाकर ब्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं। और दूसरी तीसरी श्रेणिके बाईस स्थान अधिकक्रम हैं। ब्यालीस स्थानोंके गुणाकारका प्रमाण और बाईस स्थानोंके अधिकका प्रमाण आगे बतायेंगे। यहाँ-पर उक्त स्थानोंके स्वामियोंको बताते हैं।

अवरमपुण्णं पढमं, सोलं पुण पढमविदियतदियोली ।
पुण्णिदरपुण्णयाणं, जहण्णमुक्कस्समुक्कस्सं ॥ ९९ ॥

अवरमपूर्णं प्रथमे षोडश पुनः प्रथमद्वितीयतृतीयावलिः ।
पूर्णेतरपूर्णानां जघन्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—आदिके सोलह स्थान जघन्य अपर्याप्तकके हैं। और प्रथम द्वितीय तृतीय श्रेणि क्रमसे पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा पर्याप्तक जीवोंकी हैं, और उनकी यह अवगाहना क्रमसे जघन्य उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये।

भावार्थ—प्रथम तीन कोठोंमें विभक्त सोलह स्थानोंमें अपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना बताई है। और इसके आगे प्रथम श्रेणिके ग्यारह स्थानोंमें पर्याप्तकोंकी जघन्य और इसके नीचे दूसरी श्रेणिमें अपर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट तथा इसके भी नीचे तीसरी श्रेणिमें पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये।

पुण्णजहण्णं तत्तो, वरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं ।
बीपुण्णजहण्णो त्ति असंखं संखं गुणं तत्तो ॥ १०० ॥

पूर्णजघन्यं ततो वरमपूर्णस्य पूर्णोत्कृष्टम् ।
द्विपूर्णजघन्यमिति असंख्यं संख्यं गुणं ततः ॥ १०० ॥

अर्थ—श्रेणिके आगेके प्रथम कोठेमें (ऊपरकी पंक्तिके छट्ठे कोठेमें) पर्याप्तकोंकी जघन्य और दूसरे कोठेमें अपर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठेमें पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट अवगाहना

चौंसठ अवगाहनोंका यन्त्र

(गाथा ९७ से गाथा १०१)

सूक्ष्मनिगोद १ वात २ तेज ३ अप् ४ पृथ्वी ५ अप. ज.	वादर वात ६ तेज ७ अप् ८ पृथ्वी ९ निगोद १० प्र. प्रत्येक ११ अप. ज.	अप्र. प्रत्येक १२ वेन्द्री १३ तेइन्द्री १४ चतुरिन्द्रिय १५ पंचेन्द्रिय १६ अप. ज.	सूक्ष्मनिगोद १७ वात २० तेज २३ अप् २६ पृथ्वी २९ पर्याप्त. ज.	वादर वात ३२ तेज ३५ अप् ३८ पृथ्वी ४१ निगोद ४४ प्र. प्रत्येक ४७ पर्याप्त ज.	अप्र. प्रत्येक ५० वेइन्द्री ५१ तेइन्द्री ५२ चौइन्द्री ५३ पंचेन्द्रिय ५४ पर्याप्त. ज.	तेइन्द्री ५५ चौइन्द्री ५६ वेइन्द्री ५७ अप्रतिष्ठित ५८ पंचेन्द्रिय ५९ अपर्याप्त उत्कृष्ट	तेइन्द्री ६० चौइन्द्री ६१ वेइन्द्रिय ६२ अप्रतिष्ठित प्रत्येक ६३ पंचेन्द्रिय ६४ पर्याप्त उत्कृष्ट
			सूक्ष्मनिगोद १८ वात २१ तेज २४ अप् २७ पृथ्वी ३० अपर्याप्त उत्कृष्ट	वादर वात ३३ तेज ३६ अप् ३९ पृथ्वी ४२ निगोद ४५ प्रति प्रत्येक ४८ अपर्याप्त उत्कृष्ट			
			सूक्ष्मनिगोद १९ वात २२ तेज २५ अप् २८ पृथ्वी ३१ पर्याप्त उत्कृष्ट	वादर वात ३४ तेज ३७ अप ४० पृथ्वी ४३ निगोद ४६ प्रति प्रत्येक ४९ पर्याप्त उत्कृष्ट			

समझनी चाहिये। द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यातका गुणाकार है, और इसके आगे संख्यातका गुणाकार है।

भावार्थ—पहले जो व्यालीस स्थानोंको गुणितक्रम बताया था, उनमेंसे आदिके उनतीस स्थान (सूक्ष्मनिगोदिया अपर्याप्तक जघन्यसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त) उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे हैं। और इसके आगे तेरह स्थान उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं।

गुणाकाररूप असंख्यातका और श्रेणिगत बाईस स्थानोंके अधिकका प्रमाण बताते हैं।—

सुहमेदरगुणगारो, आवलिपल्लाअसंखभागो दु।
सट्ठाणे सेढिगया, अहिया तत्थेक्कपडिभागो ॥ १०१ ॥

सूक्ष्मेतरगुणकार आवलिपल्यासंख्येयभागस्तु।
स्वस्थाने श्रेणिगता अधिकास्तत्रैकप्रतिभागः॥ १०१॥

अर्थ—सूक्ष्म और बादरोंका गुणकार स्वस्थानमें क्रमसे आवली और पल्यका असंख्यातवां भाग है। और श्रेणिगत बाईस स्थान अपने २ एक एक प्रतिभागप्रमाण अधिक अधिक हैं।

भावार्थ—सूक्ष्म निगोदियासे सूक्ष्म वायुकायका प्रमाण आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित है, इसीप्रकार सूक्ष्मवायुकायसे सूक्ष्म तेजकायका और सूक्ष्मतेजकायसे सूक्ष्मजलकायका तथा सूक्ष्मजलकायसे सूक्ष्म पृथिवीकायका प्रमाण उत्तरोत्तर आवलीके असंख्यातवें असंख्यातवें भागसे गुणित है। परंतु सूक्ष्म पृथिवीकायसे बादर वातकायका प्रमाण परस्थान होनेसे पल्यके असंख्यातवें भाग गुणित है। इसीप्रकार बादर वातकायसे बादर तेजकायका और बादर तेजकायसे बादर जलकायादिका प्रमाण उत्तरोत्तर क्रमसे पल्यके असंख्यातवें भाग २ गुणा है। इसीप्रकार आगेके स्थान भी समझना। क्योंकि जितने सूक्ष्मस्थान हैं वे आवलीके एक असंख्यातवें भागसे गुणित हैं और जितने बादर अवगाहनाओंके स्थान हैं वे सब पल्यके एक असंख्यातवें भागसे गुणित हैं। परन्तु श्रेणिगत बाईस स्थानोंमें गुणाकार नहीं है; किंतु वे सब स्थान उत्तरोत्तर अधिक २ हैं। अर्थात् बाईस स्थानोंमें जो सूक्ष्म हैं वे आवलीके एक २ असंख्यातवें भाग अधिक हैं, और जो बादर हैं वे पल्यके एक २ असंख्यातवें भाग अधिक हैं: इस तरह किसी भी विवक्षित स्थानकी अवगाहनाका प्रमाण उससे पूर्वके अवगाहना प्रमाण को अपने २ गुणकारसे गुणित करनेपर अथवा उसमें अधिक प्रमाण जोड़ देनेपर निष्पन्न होता है।

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म वायुकायकी जघन्य अवगाहना आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित है यह पहले कह आये हैं। अब इसमें होनेवाली चतुःस्थानपतित वृद्धिकी उत्पत्तिका क्रम तथा उसके मध्यमें होनेवाले अनेक अवगाहनाके भेदोंको बताते हैं।

अवरुवरि इगिपदेसे, जुदे असंखेज्जभागवड्ढीए।
आदी णिरंतरमदो, एगेगपदेसपरिवड्ढी ॥ १०२ ॥

अर्थ—जघन्यका जितना प्रमाण है उसमें उसका (जघन्यका) आधा प्रमाण और मिला दिया जाय तब संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। इसके आगे भी एक प्रदेशकी वृद्धि करने पर अवक्तव्यवृद्धिका प्रथम स्थान होता है।

रूऊणवरे अवरुस्सुवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं।
तम्हि पदेसे उड्ढे, पढमा संखेज्जगुणवड्ढी॥ १०७॥

रूपोनावरे अवरस्योपरि संवर्द्धिते तदुत्कृष्टम्॥
तस्मिन् प्रदेशे वृद्धे प्रथमा संख्यातगुणवृद्धिः॥ १०७॥

अर्थ—जघन्यके प्रमाणमें एक कम जघन्यका ही प्रमाण और मिलानेसे अवक्तव्य वृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेश और मिलानेसे संख्यात गुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है।

अवरे वरसंखगुणे, तच्चरिमो तम्हि रूवसंजुत्ते।
उग्गाहणम्हि पढमा, होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी॥ १०८॥

अवरे वरसंख्यगुणे तच्चरमः तस्मिन् रूपसंयुक्ते॥
अवगाहने प्रथमा भवति अवक्तव्यगुणवृद्धिः॥ १०८॥

अर्थ—जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणा करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। इस संख्यात गुणवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानमें ही एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्य गुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है।

अवरपरित्तासंखेणवरं संगुणिय रूवपरिहीणे।
तच्चरिमो रूवजुदे तम्हि असंखेज्जगुणपढमं॥ १०९॥

अवरपरीतासंख्येनावरं संगुण्य रूपपरिहीने।
तच्चरमो रूपयुते तस्मिन् असंख्यातगुणप्रथमम्॥ १०९॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाका जघन्य परीतासंख्यातके साथ गुणा करके उसमेंसे एक घटानेपर अवक्तव्य गुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसमें एक प्रदेशकी वृद्धि होनेपर असंख्यात गुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है।

रूवुत्तरेण तत्तो, आवलियासंखभागगुणगारे।
तप्पाउग्गे जादे, वाउस्सोग्गाहणं कमसो॥ ११०॥

रूपोत्तरेण तत आवलिकासंख्यभागगुणकारे।
तत्प्रायोग्ये जाते वायोरवगाहनं क्रमशः॥ ११०॥

अर्थ—इस संख्यात गुणवृद्धिके प्रथम स्थानके ऊपर क्रमसे एक एक प्रदेशकी वृद्धि होते होते जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य आवलिके असंख्यातवें भागका गुणाकार उत्पन्न हो जाय तब क्रमसे उस वायुकायकी जघन्य अवगाहना होती है। भावार्थ—जघन्य

अवगाहनाके ऊपर प्रदेशोत्तर वृद्धिके क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धिको क्रमसे असंख्यात २ वार हो जानेपर और इन वृद्धियोके मध्यमें अवक्तव्यवृद्धियोंको भी प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे ही असंख्यात २ वार होजानेपर जब असंख्यातगुणवृद्धि होते २ अन्त में अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाको उत्पन्न करनेमें योग्य-समर्थ आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण असंख्यातका गुणाकार आजाय तब उसके साथ जघन्य अवगाहनाका गुणा करनेसे अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है। यह सब पूर्वोक्त कथन अंकसंदृष्टिके बिना अच्छी तरह-से समझमें नहीं आ सकता इसलिये यहाँपर अंकसंदृष्टि लिख देना उचित समझते हैं। वह इस प्रकार है--कल्पना कीजिये कि जघन्य अवगाहनाका प्रमाण ९६० है और जघन्य संख्यातका प्रमाण २ तथा उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण १५ और जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण १६ है। इस जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्य अवगाहनाका ही भाग देनेसे १ लब्ध आता है उसको जघन्य अव-गाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। और जघन्य परीतासंख्यात अर्थात् १६ का भाग देनेसे ६० लब्ध आते हैं उनको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। उत्कृष्ट संख्यातका अर्थात् १५ का जघन्य अवगाहनामें भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं इनको जघन्य आवगाहनामें मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। जघन्यमें २ का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अर्थात् जघन्यके आधे (४८०) को जघन्य में मिलानेसे संख्यात-भागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान (१४४०) होता है। परन्तु उत्कृष्ट असंख्यातभागवृद्धिके आगे और जघन्य संख्यातभागवृद्धिके पूर्व जो तीन स्थान हैं, अर्थात् जघन्यके ऊपर ६० प्रदेशोंकी वृद्धि तथा ६४ प्रदेशोंकी वृद्धिके मध्यमें जो ६१,६२ तथा ६३ प्रदेशोंकी वृद्धिके तीन स्थान हैं, वे न तो असंख्यातभागवृद्धिमें ही आते हैं और न संख्यातभागवृद्धिमें ही इसलिये इनको अवक्तव्यवृद्धिमें लिया है। इसके आगे गुणवृद्धिका आरम्भ होता है। जघन्यको दूना करनेसे संख्यातगुणवृद्धिका आदि-स्थान (१९२०) होता है। इसके पूर्वमें उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धिके स्थानसे आगे अर्थात् १४४० से आगे जो १४४१ तथा १४४२ आदि १९१९ पर्यंत स्थान हैं वे सम्पूर्ण ही अवक्यव्यवृद्धि के स्थान हैं। इस ही प्रकार जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणित करनेपर सख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसके आगे जघन्यपरीतासंख्यातका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान होता है तथा इन दोनोंके मध्यमें भी पूर्वको तरह अवक्तव्य वृद्धि होती है। इस असंख्यातगुणवृद्धिमें ही प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते होते सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य गुणाकार प्राप्त होता है तब उसका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहना उत्पन्न होती है। इस अंकसंदृष्टिके अनुसार अर्थ संदृष्टि भी समझनी चाहिये, परन्तु अंकसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझ लेना चाहिये।

इसप्रकार सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य अवगाहनास्थानसे सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहना-पर्यन्त अवगाहनास्थानोंके वृद्धिक्रमको बताकर तेजस्कायादिके अवगाहनास्थानोंके गुणाकरकी उत्पत्तिके क्रमको बताते हैं।

एवं उवरि वि णेओ, पदेसवड्ढिक्कमो जहाजोग्गं।
सव्वत्थेक्केक्कम्हि य, जीवसमासाण विच्चाले[1] ॥ १११ ॥

---

१. प्राकृत भाषामें प्रयुक्त होनेवाले इस शब्द का अर्थ ऐसा होता है–विच्चाले = विचले बीचके-मध्यवर्ती।

एवमुपर्यपि ज्ञेयः प्रदेशवृद्धिक्रमो यथायोग्यम् ।
सर्वत्रैकैकस्मिश्च जीवसमासानामन्तराले ॥ १११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तसे लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकायकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अवगाहनाके स्थान बताये, उस ही प्रकार आगे भी वातसे तेज और तेजस्कायिकसे लेकर पर्याप्त पंचेन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीवसमासोंके प्रत्येक अन्तरालमें प्रदेशवृद्धिक्रमसे अवगाहनास्थानोंको समझना चाहिये ।

भावार्थ—जिस तरह सूक्ष्म निगोद और वातकायके मध्यमें अवगाहनाका प्रदेश वृद्धिक्रम बताया गया है उसी प्रकार चोंसठ अवगाहनास्थानोंके प्रत्येक अन्तरालमें अवगाहनाका प्रदेश वृद्धिक्रम समझना चाहिये । परन्तु सूक्ष्म स्थानोंमें आवली और बादर स्थानोंमें पल्यके असंख्यातवें भागका गुणकार या अधिकक्रम जहाँ जैसा बताया है वहाँ वैसा लगा लेना चाहिये ।

उक्त सम्पूर्ण अवगाहनाके स्थानोंमेंसे किसमेंसे किसमें किन भेदोंका अन्तर्भाव होता है, यह बात मत्स्यरचनाको दृष्टिमें रखकर बताते हैं ।

हेट्ठा जेसिं जहण्णं, उवरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ ।
तत्थंतरगा सव्वे, तेसिं उग्गाहणविअप्पा ॥ ११२ ॥

अधस्तनं येषां जघन्यमुपर्युत्कृष्टकं भवेद्यत्र ।
तत्रान्तरगाः सर्वे तेषामवगाहनविकल्पाः ॥ ११२ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी प्रथम जघन्य अवगाहनाका और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहनाका जहाँ जहाँपर वर्णन किया गया है उनके मध्यमें जितने भेद हैं:उन सबका उसीके भेदोंमें अन्तर्भाव होता है ।

भावार्थ—जिनके अवगाहनाके विकल्प अल्प हैं उनका प्रथम विन्यास करना और जिनकी अवगाहनाके विकल्प अधिक हैं उनका विन्यास पीछे करना । जिसके जहांसे जहांतक अवगाहना स्थान हैं उनका वहांसे वहांतक ही विन्यास करना चाहिये । ऐसा करनेसे अवगाहना स्थानोंकी इस विन्यास रचनाका आकार मत्स्य सरीखा हो जाता है । इसीलिये इसको मत्स्य रचना कहते हैं । इस मत्स्य-रचनासे यह मालूम हो जाता है कि किस जीवके कितने अवगाहनाके स्थान हैं ओर वे कहांसे कहां तक हैं ।

इस प्रकार स्थान योनि तथा शरीरकी अवगाहनाके निमित्तसे जीवसमासका वर्णन करके अव कुलोंके द्वारा जीवसमासका वर्णन करते हैं ।

वावीस सत्त तिण्णि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साहिं ।
णेया पुढविदगागणि, वाउक्कायाण परिसंखा ॥ ११३ ॥

द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि ।
ज्ञेया पृथिवीदकाग्निवायुकायिकानां परिसंख्या ॥ ११३ ॥

अर्थ—पृथिवीकायिक जीवोंके कुल वाईस लाख कोटि हैं, जलकायिक जीवोंके कुल सात लाख कोटि हैं, अग्निकायिक जीवोंके कुल तीन लाख कोटि हैं, और वायुकायिक जीवोंके कुल सात लाख कोटि हैं ।

भावार्थ—शरीरके भेदको कारणभूत नोकर्म वर्गणाओंके भेदको कुल कहते हैं। ये कुल पृथिवीकायिक जलकायिक अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंके क्रमसे २२ लाख कोटि, सात लाख कोटि, तीन लाख कोटि, और सात लाख कोटि समझने चाहिये।

कोडिसयसहस्साइं, सत्तट्ठ णव य अट्ठवीसाइं।
वेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-हरिदकायाणं　॥ ११४ ॥

कोटिशतसहस्राणि सप्ताष्ट नव च अष्टाविंशतिः।
द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-हरितकायानाम्　॥ ११४ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय जीवोंके कुल सात[1] लाख कोटि, त्रीन्द्रिय जीवोंके कुल आठ लाख कोटि, चतुरिन्द्रिय जीवोंके कुल नौ लाख कोटि, और वनस्पतिकायिक जीवोंके कुल २८ लाख कोटि हैं।

अद्धतेरस बारस, दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं।
जलचर-पक्खि-चउप्पय-उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥ ११५ ॥

अर्धत्रयोदश द्वादश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि।
जलचर-पक्षि-चतुष्पदोरुपरिसर्पेषु　नव　भवन्ति ॥ ११५ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें जलचर जीवोंके साढ़े बारह लाख कोटि, पक्षियोंके बारह लाख कोटि, पशुओंके दश लाख कोटि, और छातीके सहारेसे चलनेवाले दुमुहो आदिके नव लाख कोटि कुल हैं।

छप्पंचाधियवीसं,　बारसकुलकोडिसदसहस्साइं।
सुर-णेरइय-णराणं　जहाकमं होंति णेयाणि ॥ ११६ ॥

षट्पञ्चाधिकविंशतिः द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि।
सुर-नैरयिक-नराणां　यथाक्रमं　भवन्ति　ज्ञेयानि ॥ ११६ ॥

अर्थ—देव, नारकी तथा मनुष्य इनके कुल क्रमसे छब्बीस लाख कोटि, पच्चीस लाख कोटि, तथा बारह लाख[1] कोटि हैं। जो कि भव्यजीवोंके लिये ज्ञातव्य हैं।

भावार्थ—भव्यजीवोंको इस सिद्धांतशास्त्रके अनुसार जीवोंके इन कुल भेदोंको इसलिये अवश्य ही जान लेना चाहिये कि इनके जाने विना मोक्षमार्गरूप चारित्र तथा दयामय धर्मका वास्तवमें पालन नही[2] किया जा सकता।

उपर्युक्त प्रकारसे भिन्न-भिन्न जीवोंके कुलोंकी संख्याको वताकर अब सबका जोड़ कितना होता है यह वताते हैं—

---

१. तत्त्वार्थसारमें मनुष्यके कुल १४ लाख कोटि वताये हैं। देखो त. सा. श्लोक ११५. (चतुर्दश नृणामपि)।

२. ऐसी एक लोकोक्ति भी है कि—दया दया सवही कहें, दया न जाने कोय।
जीव जाति जाने विना, दया कहाँसे होय ॥

एया य कोडिकोडी, सत्ताणउदी य सदसहस्साइं ।
पण्णं कोडिसहस्सा, सव्वंगीणं कुलाणं य ॥ ११७ ॥

एका च कोटिकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि ।
पञ्चाशत् कोटि सहस्राणि सर्वाङ्गिनां कुलानां च ॥ ११६ ॥

अर्थ—इस प्रकार पृथिवीकायिकसे लेकर मनुष्य पर्यन्त सम्पूर्ण जीवोंके समस्त कुलोंकी संख्या एक कोड़ाकोड़ी तथा सत्तानवे लाख और पचास हजार कोटि है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके कुलोंकी संख्या एक करोड़ सत्तानवे लाख पचास हजारको एक करोड़से गुणने पर जितना प्रमाण लब्ध हो उतना अर्थात् १९७५०००००००००००० है । ग्रन्थान्तरों में मनुष्योंके १४ लाख कोटि कुल गिनाये हैं । उस हिसाब से सम्पूर्ण कुलों का जोड़ एक करोड़ निन्यानवे लाख पचास हजार कोटि होता है ।

इस प्रकार स्थान योनि देहावगाहना और कुलके भेदोंके द्वारा जीवसमास नामक दूसरे अधिकारका वर्णन पूर्ण हुआ ।

इति जीवसमासप्ररूपणो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

३—पर्याप्ति

क्रमानुसार तीसरे पर्याप्ति नामक अधिकारका प्रतिपादन करते हैं—

जह पुण्णापुण्णाइं, गिह-घड-वत्थादियाइं दव्वाइं ।
तह पुण्णिदरा जीवा, पज्जत्तिदरा मुणेयव्वा ॥ ११८ ॥

यथा पूर्णापूर्णानि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि ।
तथा पूर्णतराः जीवाः पर्याप्तेतराः मन्तव्याः ॥ ११८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार घर, घट, वस्त्र आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं । उसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकार के होते हैं । जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं ।

भावार्थ—गृहीत आहारवर्गणाको खल-रस भाग आदिरूप परिणमानेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको पर्याप्ति कहते हैं । ये पर्याप्ति जिनके पाई जांय उनको पर्याप्त और जिनकी वह शक्ति पूर्ण न हो उन जीवोंको अपर्याप्त कहते हैं । जिस प्रकार घटादिक द्रव्य बन चुकने पर पूर्ण और उससे पूर्व अपूर्ण कहे जाते हैं उसी प्रकार पर्याप्ति सहितको पूर्ण या पर्याप्त तथा पर्याप्ति रहितको अपूर्ण या अपर्याप्त कहते हैं ।

पर्याप्तियोंके भेद तथा उनके स्वामियोंका नाम निर्देश करते हैं।

आहार-सरीरिंदिय, पज्जत्ती आणपाण-भास-मणो।
चत्तारि[1] पंच[2] छप्पि य[3], एइंदिय-वियल-सण्णीणं[4] ॥ ११९ ॥

आहार शरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तयः आनप्राणभाषामनान्सि।
चतस्रः पञ्च षडपि च एकेन्द्रिय-विकल-संज्ञिनाम् ॥ ११९ ॥

अर्थ—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन इस प्रकार पर्याप्तिके छह भेद हैं। इनमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्याप्ति होती हैं और विकलेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके अन्तिम मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्ति होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके सभी छहों पर्याप्ति हुआ करती हैं।

भावार्थ—एक शरीरको छोड़कर दूसरे नवीन शरीरके लिये कारणभूत जिन नोकर्मवर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है उनको खलरसभागरूप परिणमानेकी पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवकी शक्तिके पूर्ण हो जानेको आहार पर्याप्ति कहते हैं। और उनमें से खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि द्रव (नरम-पतले) अवयवरूप परिणमानेकी शक्तिके पूर्ण होनेको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। तथा उसी नोकर्मवर्गणाके स्कन्धोंमेंसे कुछ वर्गणाओंको अपनी-अपनी इन्द्रियके स्थान पर उस द्रव्येन्द्रियके आकार परिणमानेकी आवरण-ज्ञानावरण दर्शनावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम तथा जातिनामकर्मके उदय से युक्त जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। इसी प्रकार कुछ स्कन्धोंको श्वासोच्छ्वासरूप परिणमानेकी जो जीवकी शक्तिकी पूर्णता उसको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। और वचनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धों (भाषा वर्गणा) को वचनरूप परिणमावनेकी स्वरनामकर्मके उदयसे युक्त जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषा पर्याप्ति कहते हैं। तथा द्रव्यमनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धों को (मनोवर्गणाओंको) द्रव्यमनके आकार परिणमावनेकी नोइन्द्रियावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे युक्त जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको मनःपर्याप्ति कहते हैं। इन छह पर्याप्तियोंमेंसे एकेन्द्रियजीवोंके आदिकी चार ही पर्याप्ति हुआ करती हैं। और द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवोंके मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पाँच पर्याप्ति ही होती हैं। और संज्ञी जीवोंके छहों पर्याप्ति हुआ करती हैं। जिन-जीवोंकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्याप्त और जिनकी पूर्ण नहीं होतीं उनको अपर्याप्त कहते हैं

अपर्याप्त जीवोंके भी दो भेद हैं—एक निर्वृत्यपर्याप्त दूसरा लब्ध्यपर्याप्त। जिनकी पर्याप्ति अभी तक पूर्ण नहीं हुई है, किन्तु अन्तर्मुहूर्तमें नियमसे पूर्ण हो जायेंगी उनको निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं। और जिनकी पर्याप्ति न तो अभीतक पूर्ण हुई हैं और न होंगी, पर्याप्ति पूर्ण होनेके कालसे पहले ही जिनका मरण हो जायगा अर्थात् अपनी आयुके कालमें जिनकी पर्याप्ति कभी भी पूर्ण न हों उनको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। इनमेंसे जो जीव पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हुआ करते हैं वे ही पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त माने गये हैं। और जो अपर्याप्त नाम कर्मके उदयसे युक्त हैं वे ही लब्ध्यपर्याप्त हुआ करते हैं। इनकी पर्याप्ति वर्तमान आयुके उदय कालमें कभी भी पूर्ण नहीं हुआ करतीं।

१. २. ३. षट खं. संतसुत, सूत्र नं. क्रमसे ७४-७५, ७२-७३, ७०-७१।
४. द्रव्य संग्रह गा. नं० १२ की संस्कृत टीकामें भी यह उद्धृत है।

पर्याप्ति पूर्ण होनेके कालसे पूर्व ही उनका मरण हो जाया करता है। उनकी आयु पूर्ण हो जाती है। जैसा कि आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार बतानेवाले हैं[1]।

इन पर्याप्तियोंमेंसे प्रत्येकके तथा समस्तके प्रारम्भ और पूर्ण होनेमें कितना काल लगता है यह बताते हैं।

पज्जत्तीपट्ठवणं जुगवं, तु कमेण होदि णिट्ठवणं।
अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ १२० ॥

पर्याप्तिप्रस्थापनं युगपत्तु क्रमेण भवति निष्ठापनम्।
अन्तर्मुहूर्तकालेन अधिकक्रमास्तावदालापात् ॥ १२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पर्याप्तियोंका आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है। इनका काल यद्यपि पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तरका कुछ-कुछ अधिक है, तथापि सामान्यकी अपेक्षा सबका अन्तर्मुहूर्तमात्र ही काल है। भावार्थ—एकसाथ सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके प्रारम्भ होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें आहारपर्याप्ति पूर्ण होता है। और उससे संख्यातभाग अधिक कालमें शरीर पर्याप्ति पूर्ण होती है। इसी प्रकार आगेकी पर्याप्तिके पूर्ण होनेमें पूर्वकी अपेक्षा कुछ अधिक काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है। कारण यह कि असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्तके भी असंख्यात भेद हैं; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं। और इसीलिये सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके समुदायका काल भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है।

पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तका काल बताते हैं।

पज्जत्तस्स य उदये, णियणियपज्जत्तिणिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्ति अपुण्णगो ताव ॥ १२१ ॥

पर्याप्तस्य च उदये निजनिजपर्याप्तिनिष्ठितो भवति।
यावत् शरीरमपूर्णं निर्वृत्यपूर्णकस्तावत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे जीव अपनी पर्याप्तियोंसे पूर्ण होता है, तथापि जबतक उसका शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसको पर्याप्त नहीं कहते, किन्तु निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं।

भावार्थ—इन्द्रिय श्वासोछ्वास भाषा और मन इन पर्याप्तियोंके पूर्ण नही होनेपर भी यदि शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो गई है तो वह जीव पर्याप्त ही है, किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्यपर्याप्तक कहा जाता है। फिर भी पर्याप्त नामकर्मका उदय रहने पर अपने अपने योग्य अर्थात् एकेन्द्रियके ४ विकलेन्द्रियके ५ और संज्ञी जीवके ६ पर्याप्ति पूर्ण अवश्य होती हैं।

लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप दिखाते हैं।

उदये दु अपुण्णस्स य, सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि।
अंतोमुहुत्तमरणं, लद्धिअपज्जत्तगो सो दु ॥ १२२ ॥

---

१. गाथा नं० १२२।

उदये तु अपूर्णस्य च स्वकस्वकपर्याप्तीर्न निष्ठापयति ।
अन्तर्मुहूर्तमरणं लब्ध्यपर्याप्तकः स तु ॥ १२२ ॥

अर्थ—अपर्याप्त नामकर्मका उदय होनेसे जो जीव अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्त कालमें ही मरणको प्राप्त हो जाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

भावार्थ—जिन जीवोंका अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे अपने अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण हो जाय उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं। क्योंकि लब्धिनाम अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेकी योग्यताकी प्राप्तिका है। वह जिनकी पर्याप्त अर्थात् पूर्ण नहीं होती उनको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं।

इस गाथामें जो "तु" शब्द पड़ा है उससे इस प्रकारके जीवोंका अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होता है, और "च" शब्दसे इन जीवोंकी जघन्य एवं उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी आयुस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, ऐसा अर्थ समझना चाहिये। यह अन्तर्मुहूर्त एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण होता है। इस प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तक जीव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियपर्यन्त सबमें ही पाये जाते हैं।

यदि एक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्ध्यपर्याप्तक अवस्थामें अधिकसे अधिक भवोंको धारण करे तो कितने कर सकता है? यह बताते-हैं।

तिण्णिसया छत्तीसा, छवट्ठिसहस्सगाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२३ ॥

त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् षट्सहस्रकाणि मरणानि।
अन्तर्मुहूर्तकाले तावन्तश्चैव क्षुद्रभवाः ॥ १२३ ॥

अर्थ—एक अन्तर्मुहूर्तमें एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण और उतने ही भवों-जन्मोंको भी धारण कर सकता है। इन भवोंको क्षुद्रभव शब्दसे कहा गया।

भावार्थ—एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरन्तर जन्ममरण करे तो अन्तर्मुहूर्त कालमें ६६३३६ जन्म और उतने ही मरण कर सकता है। इससे अधिक नहीं कर सकता।

इन भवोंको क्षुद्र भव इसलिये कहते हैं कि इनसे अल्प स्थितिवाला अन्य कोई भी भव नहीं पाया जाता। इन भवोंमेंसे प्रत्येकका कालप्रमाण श्वासका अठारहवाँ भाग है। फलतः त्रैराशिकके अनुसार ६६३३६ भावोंके श्वासोंका प्रमाण ३६८५$\frac{1}{3}$ होता है। इतने उच्छ्वासोंके समूह प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमें पृथिवीकायिकसे लेकर पंचेन्द्रिय तक लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके क्षुद्रभव

---

१. तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्स चेव मरणाइं। अंतोमुहुत्तकाले तावदिया होंति खुद्दभवा। षट्खं. कालाणु. गा. नं. ३५ ॥
छत्तीसं तिण्णिसया छावट्ठि सहस्सवार मरणाणि। अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि णिगोयवासम्मि ॥ २८ ॥ भा. पा.

६६३३६ हो जाते हैं। ध्यान रहे। ३७७३ उच्छ्वासों का एक मुहूर्त होता है।[1]

उक्त भवोंमेंसे यह जोव एकेन्द्रियादिकमेंसे किस-किसके कितने-कितने भवोंको धारण करता है या कर सकता है यह पृथक् पृथक् बताते हैं—

सीदी सट्ठी तालं, वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा, सयं च वत्तीसमेयक्खे ॥ १२४ ॥

अशीतिः षष्टिः चत्वारिंशद्विकले चतुर्विंशतिर्भवन्ति पंचाक्षे।
षट्षष्टिश्च सहास्राणि शतं च द्वात्रिंशमेकाक्षे ॥ १२४ ॥

अर्थ—विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ४० और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके २४[2], तथा एकेन्द्रियोंके ६६१३२ भावोंको धारण कर सकता है, अधिकको नही।

एकेन्द्रियोंकी संख्याको भी स्पष्ट करते हैं—

पुढविदगागणिमारुद, साहारणथूलसुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के बार खं छक्कं ॥ १२५ ॥

पृथ्वीदकाग्निमारुतसाधारणस्थूलसूक्ष्मप्रत्येकाः।
एतेषु अपूर्णेषु च एकैकस्मिन् द्वादश खं षट्कम् ॥ १२५ ॥

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकारके जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और साधारण, और प्रत्येक वनस्पति, इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येक (हरएक) के ६०१२ भेद होते हैं।

भावार्थ—स्थूल पृथिवो सूक्ष्म पृथिवी स्थूल जल सूक्ष्म जल स्थूल अग्नि सूक्ष्म अग्नि स्थूल वायु सूक्ष्म वायु स्थूल साधारण सूक्ष्म साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्य-पर्याप्तकोंमें से प्रत्येकके ६०१२ भव होते हैं। इसलिये ११ को ६०१२ से गुणा करने पर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके उत्कृष्ट भवोंका प्रमाण ६६१३२ निकलता है। जैसाकि ऊपरकी गाथामें वताया गया है।

समुद्घात अवस्थामें केवलियोंके भी अपर्याप्तता कही है सो किस प्रकार हो सकती है? यह वताते हैं—

---

१. आढ्यानलसानुपहतमनुजोच्छ्वासैस्त्रिसप्तसप्तत्रिप्रमितैः।
आहुर्मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तमष्टाष्टवर्जितैस्त्रिभागयुतैः ॥
आयुरन्तर्मुहूर्तः स्यादेषोऽस्याष्टादशांशकः। उच्छ्वासस्य जघन्यं च नृतिरश्चां लब्ध्यपूर्वके ॥ जी. प्र. उद्धृत। गा. १२५

२. असंज्ञिपंचेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकके ८, संज्ञिपंचेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तकके ८ और मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तकके ८ इस तरह कुल २४ संख्या होती है। जी. प्र.।

पज्जत्तसरीरस्स य, पज्जत्तुदयस्स कायजोगस्स।
जोगिस्स अपुण्णत्तं, अपुण्णजोगो त्ति णिद्दिट्ठं ॥ १२६ ॥

पर्याप्तशरीरस्य च पर्याप्त्युदयस्य काययोगस्य।
योगिनोऽपूर्णत्वमपूर्णयोग इति निर्दिष्टम् ॥ १२६ ॥

अर्थ—जिस सयोग केवलीका शरीर पूर्ण है, और उसके पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी मौजूद है, तथा काययोग भी है, उसके अपर्याप्तता किस प्रकार हो सकती है ? तो इसका कारण योगका पूर्ण न होना ही बताया है।

भावार्थ—जिसके अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो, अथवा जिसका शरीर पूर्ण न हुआ हो उसको अपर्याप्त कहते हैं। क्योंकि पहले "जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्तिअपुण्णगो ताव" ऐसा कह आये हैं। अर्थात् जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तकको अवस्थाको निर्वृत्यपर्याप्ति कहते हैं। परन्तु केवलीका शरीर भी पर्याप्त है, और उनके पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी है, तथा काययोग भी मौजूद है, तब उसको अपर्याप्त क्यों कहा ? इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके काययोग आदि सभी मौजूद हैं तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण तीनों ही समुद्घात अवस्थामें योग पूर्ण नहीं है, इस ही लिये उनको आगममें गौणतासे अपर्याप्त कहा है, मुख्यतासे अपर्याप्त अवस्था जहां पर पाई जाती है ऐसे प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और आहारक शरीरकी अपेक्षा छठ्टा ये चार ही गुणस्थान[1] हैं।

किस-किस गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था पाई जाती हैं ? यह बताते हैं—

लद्धिअपुण्णं मिच्छे, तत्थ वि विदिये चउत्थ-छट्ठे य।
णिव्वत्तिअपज्जत्ती, तत्थ वि सेसेसु पज्जत्ती ॥ १२७ ॥

लब्ध्यपूर्णं मिथ्यात्वे तत्रापि द्वितीये चतुर्थषष्ठे च।
निर्वृत्यपर्याप्तिः तत्रापि शेषेषु पर्याप्तिः ॥ १२७ ॥

अर्थ—लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं। निर्वृत्यपर्याप्तक प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और छट्ठे गुणस्थानमें होते हैं। और पर्याप्ति उक्त चारों और शेष सभी गुणस्थानोंमें पाई जाती है।

भावार्थ—प्रथम गुणस्थानमें लब्ध्यपर्याप्ति निर्वृत्यपर्याप्ति पर्याप्ति तीनों अवस्था होती हैं। सासादन असंयत और प्रमत्तमें निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त ये दो अवस्था होती हैं। पर्याप्ति उक्त तथा शेष सब ही गुणस्थानोंमें पाई जाती है। प्रमत्त गुणस्थानमें जो निवृत्यपर्याप्ति अवस्था कही है, वह आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षासे है। इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है। उससे सयोगकेवली भी निवृत्यपर्याप्तक होते हैं यह बात गौणतया सूचित की है। जैसा कि ऊपरकी गाथामें बताया गया है।

---

१. निर्वृत्यपर्याप्तकगुणस्थानानि प्रथम-द्वितीय-चतुर्थ-षष्ठानि चत्वार्येवेति परमागमे नियमवचनात् ॥म.प्र.।

सासादन और सम्यक्त्वके अभावका नियम कहाँ-कहाँ पर है, यह बताते हैं—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं, जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं ।
पुण्णिदरे ण हि सम्मो, ण सासणो णारयापुण्णे ॥ १२८ ॥

अधःस्तनषट्पृथ्वीनां ज्योतिष्कवनभवनसर्वस्त्रीणाम् ।
पूर्णेतरस्मिन् न हि सम्यक्त्वं न सासनो नारकापूर्णे ॥ १२८ ॥

अर्थ—द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकारके देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियां इनको अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता है । और सासादन सम्यग्दृष्टि अपर्याप्त नारकी नहीं होता ।

भावार्थ—सम्यक्त्वसहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देवोंमें और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता । और सासादनसम्यग्यदृष्टि मरण कर नरकको नहीं जाता ।

इति पर्याप्तिप्ररूपणो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

●

४—प्राणरूपणा

अब प्राणप्ररूपणा क्रमप्राप्त है उसमें प्रथम प्राणका निरुक्तिपूर्ण लक्षण कहते हैं—

वाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं ।
पाणंति जेहिं जीवा, पाणा ते होंति णिद्दिट्ठा ॥१२९॥

बाह्यप्राणैर्यथा　तथैवाभ्यन्तरैः　प्राणैः ।
प्राणन्ति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः ॥१२९॥

अर्थ—जिस प्रकार अभ्यन्तरप्राणोंके कार्यभूत नेत्रोंका खोलना, वचनप्रवृत्ति, उच्छ्वास निःश्वास आदि वाह्य प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, उसही प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ।

भावार्थ—जिनके सद्भावमें जीवमें जीवितपनेका वियोग होनेपर मरणपनेका व्यवहार[1] हो उनको प्राण कहते हैं । ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियोंके कार्यरूप हैं—अर्थात् प्राण और पर्याप्तिमें कार्य और कारणका अन्तर है । पर्याप्ति कारण हैं और प्राण कार्य हैं; क्योंकि गृहीत पुद्गलस्कन्ध विशेषोंको इन्द्रिय वचन आदिरूप परिणमावनेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति, और वचन व्यापार आदिकी कारणभूत योग्यता शक्तिको, तथा वचन आदि रूप प्रवृत्तिको प्राण कहते हैं ।

प्राणके भेदोंको गिनाते हैं ।

---

१. जं संयोगे जीवदि मरदि विओगेवि ते वि दह पाणा ॥

पंच वि इंदियपाणा, मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा ।
आणापाणप्पाणा, आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥ १३० ॥

पञ्चापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचःकायेषु बलप्राणाः ।
आनापानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥ १३० ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियप्राण-स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः श्रोत्र । तीन बलप्राण-मनोबल, वचनबल, कायबल । एक श्वासोच्छ्वास तथा एक आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं ।

द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकारके प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री बताते हैं—

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला ।
देहुदये कायाणा, वचीबला आउ आउदये ॥ १३१ ॥

वीर्ययुतमतिक्षयोपशमोत्था नोइन्द्रियेन्द्रियेषु बलाः ।
देहोदये कायानौ वचोबल आयुः आयुरुदये ॥ १३१ ॥

अर्थ—मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारणसे उत्पन्न होते हैं । शरीरनामकर्मके उदयसे कायबलप्राण होता है । श्वासोच्छ्वास और शरीरनामकर्मके उदयसे प्राण-श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होते हैं । स्वरनामकर्मके साथ शरीर नामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण होता है । आयु कर्मके उदयसे आयुःप्राण होता है ।

भावार्थ—वीर्यान्तराय और अपने अपने योग्य मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले मनोबल और इन्द्रियप्राण, निज और पर पदार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ लब्धिनामक भावेन्द्रिय रूप होते हैं । इस ही प्रकार अपने अपने पूर्वोक्त कारणसे उत्पन्न होनेवाले कायबलादिक प्राणोंमें शरीरकी चेष्टा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यरूप कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिमें कारणभूत शक्तिरूप श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनव्यापारको कारणभूत शक्तिरूप वचोबल प्राण तथा नरकादि भव धारण करनेकी शक्तिरूप आयुःप्राण होता है ।

प्राणोंके स्वामियोंको बताते हैं—

इंदियकायाऊणि य, पुण्णापुण्णेसु पुण्णगे आणा ।
बीइंदियादिपुण्णे, वचीमणो सण्णिपुण्णेव ॥ १३२ ॥

इन्द्रियकायायूंषि च पूर्णापूर्णेषु पूर्णके आनाः[1] ।
द्वीन्द्रियादिपूर्णे वचः मनः संज्ञिपूर्णे एव ॥ १३२ ॥

अर्थ—इन्द्रिय काय आयु ये तीन प्राण, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनोंहीके होते हैं । किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्तके ही होता है । और वचनबल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रियादिके ही होता है । तथा मनोबल प्राण संज्ञिपर्याप्तके ही होता है ।

---

१. कायाक्षायूंषि सर्वेषु पर्याप्तिष्यात इष्यते" त. सार

एकेन्द्रियादि जीवोंमें किसके कितने प्राण होते हैं, इसका नियम बताते हैं—

दस सण्णीणं पाणा, सेसेगूणंतिमस्स वेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य, सत्त दुगे सेसगेगूणा॥ १३३॥

दश संज्ञिनां प्राणाः शेषैकोनमन्तिमस्य व्यूनाः।
पर्याप्तेष्वितरेषु च सप्त द्विके शेषकैकोनाः॥ १३३॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं। शेष पर्याप्तकोंके एक एक प्राण कम होता जाता है; किन्तु एकेन्द्रियोंके दो कम होते हैं। अपर्याप्तक संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रियके सात प्राण होते हैं और शेषके अपर्याप्त जीवोंके एक एक प्राण कम होता जाता है।

भावार्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके सबही प्राण होते हैं। असंज्ञीके मनोबलप्राणको छोड़कर बाकी नव प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रियको छोड़कर आठ, त्रीन्द्रियके चक्षुको छोड़कर बाकी सात, द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर बाकी छह, और एकेन्द्रियके रसनेन्द्रिय तथा वचनबलको छोड़कर बाकी चार प्राण होते हैं। यह सम्पूर्ण कथन पर्याप्तककी अपेक्षासे है। अपर्याप्तकमें कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रियके श्वासोच्छ्वास वचोबल मनोबल छोड़कर बाकी पांच इन्द्रिय कायबल आयुःप्राण इसप्रकार सात प्राण होते हैं। आगे एक एक कम होता गया है—अर्थात् चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोड़कर बाकी ६ प्राण, त्रीन्द्रियके चक्षुःको छोड़कर ५, और द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर ४, तथा एकेन्द्रियके रसनाको छोड़कर बाकी तीन प्राण होते हैं।

इति प्राणरूपणो नाम चतुर्थोऽधिकारः।

५—संज्ञा प्ररूपणा

संज्ञाका लक्षण और भेद बताते हैं—

इह जाहि बाहिया वि य, जीवा पावंति दारुणं दुक्खं।
सेवंता वि य उभये, ताओ चत्तारि सण्णाओ॥ १३४॥

इह याभिर्बाधिता अपि च जीवाः प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम्।
सेवमाना अपि च उभयस्मिन् ताश्चतस्रः संज्ञाः॥ १३४॥

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोकमें और जिनके विषयका सेवन करनेसे दोनों ही भावोंमें दारुण दुःखको प्राप्त होते हैं उनको संज्ञा कहते हैं। उसके विषयभेदके अनुसार चार भेद हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।

भावार्थ—संज्ञानाम वांछाका है। जिसके निमित्तसे दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखकी प्राप्ति होती है उस वांछाको संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं,—आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। क्योंकि इन आहारादिक चारों ही विषयोंकी प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओंमें यह जीव संक्लिष्ट और पीड़ित रहा करता है। इस भवमें भी दुःखोंको अनुभव करता हैं और उसके द्वारा अर्जित पाप कर्मके उदयसे परभवमें भी सांसारिक दुखोंको भोगता है।

आहार संज्ञाका स्वरूप बताते हैं—

आहारदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
सादिदरुदीरणाए, हवदि हु आहारसण्णा हु ॥ १३५ ॥

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ठतया ।
सातेतरोदीरणया भवति हि आहारसंज्ञा हि ॥ १३५ ॥

अर्थ—आहारके देखनेसे अथवा उसके उपयोगसे और पेटके खाली होनेसे तथा असाता वेदनीय कर्मके उदय और उदीरणा होनेपर जीवके नियमसे आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।

भावार्थ—किसी उत्तम रसयुक्त विशिष्ट आहारके देखनेसे अथवा पूर्वानुभूत भोजनका स्मरण आदि करनेसे यद्वा पेटके खाली हो जानेसे और असाता वेदनीय कर्मका तीव्र उदय एवं उदीरणा होनेसे आहार संज्ञा अर्थात् आहारकी वांछा उत्पन्न होती है।

इस तरह आहारसंज्ञाके चार कारण हैं जिनमें अन्तिम एक असातावेदनीयकी उदीरणा अथवा तीव्र उदय अन्तरंग कारण हैं और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

भय संज्ञाके कारण और उसका स्वरूप बताते हैं—

अइभीमदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए ।
भयकम्मुदीरणाए, भयसण्णा जायदे चदुहिं ॥ १३६ ॥

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमसत्वेन ।
भयकर्मोदीरणया भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः ॥ १३६ ॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थके देखनेसे, अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थके स्मरणादिसे, यद्वा शक्तिके हीन होने पर और अन्तरंगमें भयकर्मका तीव्र उदय—उदीरणा होनेपर भयसंज्ञा उत्पन्न हुआ करती है।

भावार्थ—भयसे उत्पन्न होनेवाली भाग जानेकी या किसीके शरणमें जानेकी अथवा छिपने एवं शरण ढूंढनेकी जो इच्छा होती है उसीको भयसंज्ञा कहते हैं। इसके चार कारण हैं जिनमें भयकर्मकी उदीरणा अन्तरंग कारण है और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

मैथुनसंज्ञाका कारण पूर्वक स्वरूप वताते हैं—

पणिदरसभोयणेण य, तस्सुवजोगे कुसील सेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए, मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥ १३७ ॥

प्रणीतरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया ।
वेदस्योदीरणया मैथुनसंज्ञा भवति एवम् ॥ १३७ ॥

अर्थ—कामोत्तेजक स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त पदार्थोंका भोजन करनेसे, और कामकथा नाटक आदिके सुनने एवं पहलेके भुक्त विषयोंका स्मरण आदि करनेसे तथा कुशीलका सेवन विट आदि कुशीली पुरुषोंकी संगति गोष्ठी आदि करनेसे और वेद कर्मका तीव्र उदय या उदीरणा आदिसे मैथुन संज्ञा होती है।

भावार्थ—मैथुन कर्म या सुरतव्यापारकी इच्छाको मैथुन संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्यतया ये चार कारण हैं जिनमें वेदकर्मका उदय या उदीरणा अन्तरङ्ग और शेष तीन बाह्य कारण हैं।

परिग्रहसंज्ञाका वर्णन करते हैं—

उवयरणदंसणेण य, तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए, परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ १३८ ॥

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्च्छिताये च।
लोभस्योदीरणया परिग्रहे जायते संज्ञा ॥ १३८ ॥

अर्थ—इत्र, भोजन, उत्तम, वस्त्र, स्त्री, धन, धान्य आदि भोगोपभोगके साधनभूत बाह्य पदार्थोंके देखनेसे, अथवा पहलेके भुक्त पदार्थोंका स्मरण या उनकी कथाका श्रवण आदि करनेसे और ममत्व परिणामोंके-परिग्रहाद्यर्जनकी तीव्र गृद्धिके भाव होनेसे, एवं लोभकर्मका तीव्र उदय या उदीरणा होनेसे इन चार कारणोंसे परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

भावार्थ—भोगोपभोगके बाह्य साधनोंके संचय आदिकी इच्छाको परिग्रह संज्ञा कहते हैं। इसके मुख्यतया चार कारण हैं जोकि इस गाथामें बताये गये हैं। इनमेंसे लोभकी तीव्र उदय-उदीरणा अन्तरंग कारण और बाकीके तीन बाह्य कारण हैं।

इस प्रकार चारों संज्ञाओंके कारण और स्वरूपका निर्देश करनेके बाद उनके स्वामित्वका वर्णन करनेके उद्देश्यसे किस-किस जीवके कौन-कौनसी संज्ञा होती है, यह बताते हैं—

णट्ठपमाए पढमा, सण्णा ण हि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ॥ १३९ ॥

नष्टप्रमादे प्रथमा संज्ञा न हि तत्र कारणाभावात्।
शेषाः कर्मास्तित्वेनोपचारेण सन्ति न हि कार्ये ॥ १३९ ॥

अर्थ—अप्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें आहारसंज्ञा नहीं होती। क्योंकि वहाँ पर उसका कारण असाता वेदनीयका तीव्र उदय या उदीरणा नहीं पाई जाती। शेष तीन संज्ञाएं भी वहाँ पर उपचारसे ही होती हैं। क्योंकि उनका कारण तत्तत्कर्मोंका उदय वहां पर पाया जाता है। फिर भी उनका वहाँ पर कार्य नहीं हुआ करता।

भावार्थ—साता-असाता वेदनीय और मनुष्य आयु इन तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा प्रमत्त विरत नामक छट्ठे गुणस्थान तक ही हुआ करती है, आगे नहीं। इसलिए सातवें गुणस्थानमें और उससे आगेके सभी गुणस्थानोंमें आहार संज्ञा नहीं पाई जाती। किन्तु शेष तीन संज्ञाएं उपचारसे होती हैं—वास्तवमें नहीं। क्योंकि उनके कारणभूत कर्मोंका वहाँ उदय पाया जाता है। परन्तु भागना, रतिक्रीड़ा, परिग्रहके स्वीकार आदिमें प्रवृत्तिरूप उनका कार्य वहाँ नहीं हुआ करता। क्योंकि वहाँपर ध्यान अवस्था ही है। इन प्रवृत्तियोंके मानने या होनेपर ध्यान नहीं बन सकेगा। तथा फलस्वरूप कर्मोंका क्षय और मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी।

इति संज्ञा प्ररूपणो नाम पंचमोऽधिकारः।

६—मार्गणा महाधिकार

अथ मङ्गलपूर्वक क्रमप्राप्त मार्गणा नामके महाधिकारका वर्णन करते हैं—

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता ।
मग्गणमहाहियारं, विविहहियारं भणिस्सामो ॥ १४० ॥

धर्मगुणमार्गणाहतमोहारिबलं जिनं नमस्कृत्य ।
मार्गणामहाधिकारं विविधाधिकारं भणिष्यामः ॥ १४० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि अथवा उत्तम क्षमादि धर्मरूपी धनुष, और ज्ञानादि गुणरूपी प्रत्यंचा-डोरी, तथा चौदह मार्गणारूपी वाणोंसे जिसने मोहरूपी शत्रुके बल-सैन्यको नष्ट कर दिया है इस प्रकारके श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके मैं उस मार्गणा महाधिकारका वर्णन करूंगा जिसमें कि और भी विविध अधिकारोंका अन्तर्भाव पाया जाता है ।

भावार्थ—मोहनीय कर्मको सेनाका विघात जिनसे हो सकता है उन गुणों और धर्मोंका उपर्युक्त पांच अधिकारोंके द्वारा परिज्ञान हो जाता है । अब साध्यभूत जीवतत्त्वका बोध करानेके लिये करणरूप जीवके उन परिणामों और अधिकरणरूप उन पर्यायोंका वर्णन करते हैं जोकि जीवमें ही पाये जाते हैं या उसके बिना नहीं पाये जाते तथा जिनको कि आगममें मार्गणा शब्दसे कहा है । जैसाकि आगेकी गाथासे जाना जासकेगा ।

मार्गणाओंके वर्णन करनेवाले इस एक ही अधिकारको महाधिकार शब्दसे कहा है । इसके अनेक कारण हैं—

१. इसके अन्तर्गत विविध अर्थात् गति इन्द्रिय आदि १४ अधिकार हैं । उन चौदहोंका समूहरूप यह एक ही मार्गणा नामका अधिकार है ।

२. जिन बीस प्ररूपणाओंके वर्णन करनेकी प्रारम्भमें प्रतिज्ञा की गई है उनमेंसे १४ तो इसके ही भेद होनेसे इसके अन्तर्गत हैं ही, इसके सिवाय गुणस्थान प्रकरणको छोड़कर बाकीके पांच-जीवसमास पर्याप्ति प्राण और संज्ञा जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है तथा एक उपयोग जिसका कि उद्देशानुसार मार्गणाधिकारके अनन्तर वर्णन किया जायगा इसीमें अन्तर्भूत हो जाते हैं जैसाकि अभेद विवक्षासे प्ररूणाओंके दो ही भेद होते हैं यह बताया जा चुका है ।

३. जीवतत्त्वका निश्चय करानेमें यह अधिकार सबसे अधिक प्रयोजनीभूत है ।

४. मोक्षमार्गकी अन्तर्गत अवस्थाओंके भेदरूप गुणस्थानोंकी जोकि इस ग्रन्थका मुख्य विषय है सिद्धिमें साधनभूत करणरूप जीवके परिणामों और अधिकरणरूप जीवकी पर्यायोंका जिसका कि आगे "जाहिं व जासु व" शब्दोंसे खुलासा कर दिया जायगा यही अधिकार वर्णन करता है ।

इस प्रकार मार्गणा महाधिकारके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके सबसे प्रथम उसका निरुक्ति पूर्वक लक्षण कहते हैं—

जाहि व जासु व जीवा, मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा ।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति[1] ॥ १४१ ॥

यभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः ।
तारचतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवन्ति ॥ १४१ ॥

अर्थ—प्रवचनमें जिस प्रकारसे देखे हों उसी प्रकारसे जीवादि पदार्थोंका जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें विचार-अन्वेषण किया जाय उनको ही मार्गणा कहते हैं, उनके चौदह भेद हैं ऐसा समझना चाहिये ।

भावार्थ—मार्गण शब्दका अर्थ होता है अन्वेषण । अतएव जिन करणरूप परिणामोंके द्वारा अथवा जिन अधिकरणरूप पर्यायोंमें जीवका अन्वेषण किया जा सके उनको कहते हैं मार्गणा । किन्तु ये परिणाम और पर्याय यद्वा तद्वा कपोलकल्पित युक्तिविरुद्ध आगमद्वारा प्रतिपादित न होकर सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवानके उपदिष्ट प्रवचन-श्रुतमें जिस तरहसे बताये गये हैं उसके अनुसार ही होने चाहिये । अन्यथा जीवतत्त्वका ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता ।

तात्पर्य यह है कि यह मार्गणा महाधिकार या तो जीवके उन असाधारण कारणरूप परिणामोंका बोध कराता है जोकि गुणस्थानोंकी सिद्धिमें साधन है अथवा अपनी जीवकी उन अधिकरणरूप पर्यायों-अवस्थाओंको बताता है जिनमें कि विवक्षित गुणस्थानोंकी सिद्धि शक्य एवं प्राप्ति संभव है । यद्यपि ये परिणाम और पर्याय अशुद्ध जीवके होते हैं फिर भी उसकी शुद्धिमें साधन और आधार हैं अतएव अन्वेष्य हैं । किन्तु ध्यान रहे जैनागममें जिस प्रकारसे इनका वर्णन किया गया है उसी प्रकारसे समझकर और तदनुसार ही उपयोगमें लाने पर ये वास्तवमें कार्यकारी हो सकते हैं । मुख्यतया इन परिणाम या पर्यायरूप मार्गणाओंके १४ भेद हैं जो कि आगे गिनाये गये हैं ।

निर्दिष्ट चौदह मार्गणाओंके नाम बताते हैं—

गइइंदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्सा, भवियासम्मत्तसण्णि आहारे ॥ १४२ ॥

गतीन्द्रियेषु काये योगे वेदे कषायज्ञाने च ।
संयमदर्शनलेश्याभव्यतासम्यक्त्वसंज्ञ्याहारे ॥ १४२ ॥

अर्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा आहार ये चौदह मार्गणा हैं ।

भावार्थ—ऊपर मार्गणाका निरुक्त्यर्थ बताते समय करण और अधिकरण इस दो रूपमें अर्थ किया गया है । किन्तु इस गाथामें सर्वत्र सप्तमी विभक्तिका निर्देश करके अधिकरण अर्थ ही व्यक्त किया गया है । इससे करणरूप अर्थका निषेध नहीं समझना चाहिये । यद्यपि अधिकरण

---

१. षट्खं सं. सु. गाथा नं० ८३ ।

अर्थकी यहाँ मुख्यतया विवक्षा है ऐसा सूचित होता है। फिर भी गत्यादि पदोंका अर्थ तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त दोनों ही तरहका माना गया है[1]।

गाथामें प्रयुक्त "गति" शब्द, कषाय शब्द, और उत्तरार्धमें प्रयुक्त "संजम" आदि शब्दों में द्वन्द्व समास अथवा विभक्तिका लोप हुआ समझना चाहिए।[2]

सान्तर मार्गणाओंके भेद तथा उनके नाम बताते हैं—

उवसम सुहमाहारे, वेगुव्वियमिस्स णरअपज्जत्ते।
सासणसम्मे मिस्से, सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥ १४३ ॥

उपशम सूक्ष्माहारे वैगूर्विकमिश्रनरापर्याप्ते।
सासनसम्यक्त्वे मिश्रे सान्तरका मार्गणा अष्ट ॥ १४३ ॥

अर्थ—उपशम सम्यक्त्व, सूक्ष्मसांपराय संयम, आहारक काययोग, आहारकमिश्रकाययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, अपर्याप्त-लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यक्त्व और मिश्र, ये आठ सान्तरमार्गणाएं हैं।

भावार्थ—ऊपरकी गाथामें जिन १४ मार्गणाओंके नाम गिनाये गये हैं वे सब निरन्तर मार्गणाओंके भेद हैं। जिनमें अन्तर-विच्छेद नहीं पड़ता उनको निरन्तर मार्गणा और जिनमें विच्छेद पड़ जाता है उनको सान्तर मार्गणा कहते हैं। संसारी जीवोंके उपर्युक्त १० मार्गणाओंमेंसे किसीका भी विच्छेद नहीं पड़ता। वे सभी जीवोंके और सदा ही पाई जाती हैं। अतएव उनको निरन्तर मार्गणा कहा जाता है।

किन्तु कुछ मार्गणाएं ऐसी भी हैं जिनमें कि समयके एक नियत प्रमाणतक विच्छेद पाया जाता है। उन्हींको सान्तर मार्गणा कहते हैं। ये सान्तर मार्गणाएं आठ हैं जिनके नाम इस गाथामें गिनाये गये हैं। इनके विरहकालका[3] प्रमाण आगेकी गाथामें बताया गया है।

वास्तवमें ये सान्तर मार्गणाएं निरन्तर मार्गणाओंसे भिन्न नहीं हैं। तत्त्वतः निरन्तर मार्गणाओंके गति, योग, संयम और सम्यक्त्व भेदोंके अवान्तर विशेष भेदरूप हैं। जिनका कि आगममें गुणस्थानोंके सम्बन्धको दृष्टिमें रखकर अन्तर बताया गया है।

---

१. एतानि गत्यादिपदानि तृतीयान्तानि वा सप्तम्यन्तानि तदा एवं व्याख्येयानि गत्या गत्याँ, इन्द्रियेण इन्द्रिये। इत्यादि. जी. प्र.।

२. गतिकषायसंयमादिषु प्राकृतलक्षणेन विभक्तिलोपो वा द्वन्द्वसमासो दृष्टव्यः। अधिकरणत्वस्य मुख्यता प्रदर्शनार्थः सप्तम्यन्तनिर्देशः। अपभ्रंशलक्षणेन तृतीयांतनिर्देशो वा। तेन गत्यादीनां करणत्वमपि यथासंभवं संभावनीयम्। मं. प्र.

अथवा—"सप्तमीनिर्देशः किमर्थः? तेषामधिमरणत्वप्रतिपादनार्थः। तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्धः। स कथं लभ्यते? न, देशामर्शकत्वान्निर्देशस्य। यत्र गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि "आइमज्झंतवण्णसरलोवा" इति लुप्ता विभक्तिरित्यप्यूह्यम्। अथवा लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए चेदि एकपदत्वान्नावयवविभक्तयः श्रूयन्ते। धवला १ पृ. १३२-१३३।

३. अन्तर-विच्छेदके समय प्रमाणको ही विरहकाल कहते हैं।

किसी भी विवक्षित गुणस्थान या मार्गणास्थानको छोड़कर पुनः उसीके प्राप्त करनेमें जीवको बीचमें जितना समय लगता है उसको अन्तर-विच्छेद या विरह कहते हैं। यह अन्तरकाल उत्कृष्ट और जघन्यके भेदसे दो प्रकारका है। तथा इसका वर्णन भी दो तरहसे किया गया है, एक नाना जीवोंकी अपेक्षासे और दूसरा एक जीवकी अपेक्षासे। यहाँ पर जो आगेकी गाथामें इनके विरहकालका प्रमाण बताया गया है वह नाना जीवोंकी अपेक्षासे सामान्य वर्णन है। एक जीवकी अपेक्षासे विशेष वर्णन होता है। वह ग्रन्थान्तरों[1]में किया गया है। विशेष जिज्ञासुओंको वह वहीं पर देखना चाहिये।

निर्दिष्ट आठ सान्तर मार्गणाओंका उत्कृष्ट और जघन्य कालका प्रमाण कितना है यह बताते हैं—

सत्त दिणा छम्मासा, वासपुधत्तं च बारस मुहुत्ता।
पल्लासंखं तिण्हं, वरमवरं एगसमयो दु ॥१४४॥

सप्त दिनानि षण्मासा वर्षपृथक्त्वं च द्वादश मुहूर्ताः।
पल्यासंख्यं त्रयाणां वरमवरमेकसमयस्तु ॥ १४४ ॥

अर्थ—उक्त आठ अन्तरमार्गणाओंका उत्कृष्ट काल क्रमसे सात दिन, छः महीना, पृथक्त्व[2] वर्ष, पृथक्त्व वर्ष, बारह मुहूर्त और अन्तकी तीन मार्गणाओंका काल पल्यके असंख्यातवें भाग है। और जघन्य काल सबका एक समय है।

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट विरह काल सात दिन, सूक्ष्मसांपरायका छह महीना, आहारकयोगका पृथक्त्ववर्ष, तथा आहारकमिश्रका पृथक्त्ववर्ष, वैक्रियिकमिश्रका बारह मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्यका पल्यके असंख्यातवें भाग, तथा सासादन सम्यक्त्व और मिश्र इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अंतरकाल पल्यके असंख्यातवें भाग है। और जघन्य काल सबका एक समय ही है। मतलब यह कि तीन लोकमें कोई भी उपशम सम्यग्दृष्टि न रहे ऐसा विच्छेद सात दिनतकके लिये पड़ सकता है उसके बाद कोई न कोई उपशम सम्यग्दृष्टि अवश्य उत्पन्न हो। इसी तरह सूक्ष्म साम्पराय आदिके विषयमें समझना चाहिये।

अंतरमार्गणाविशेषोंको दिखाते हैं—

पढमुवसमसहिदाए, विरदाविरदीए चोद्दसा दिवसा।
विरदीए पण्णरसा, विरहिदकालो दु बोधव्वो ॥ १४५ ॥

प्रथमोपशमसहिताया विरताविरतेश्चतुर्दश दिवसाः।
विरतेः पंचदश विरहितकालस्तु बोद्धव्यः ॥ १४५ ॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छट्ठे सातवें गुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल पंद्रह दिन समझना चाहिये।

---

१. धवलाका अन्तरमार्गणाधिकार। अथवा त. सू. की अ. १ सू. ८ की सर्वार्थसिद्धि टीका।
२. आगममें ३ से ९ तककी संख्याको पृथक्त्व कहा है।

भावार्थ—उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। चार अनन्तानुवन्धी कषाय तथा एक दर्शनमोहनीय मिथ्यात्व, अथवा तीनों दर्शन-मोहनीय और चार अनंतानुवंधी इस प्रकार पांच या सातके उपशमसे जो हो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम होनेसे जो सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इनमेंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व-सहित पंचम गुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छट्ठे सातवें गुणस्थानका पंद्रह दिन है। गाथोक्त "तु" शब्दसे दूसरे सिद्धांतके अनुसार चौबीस[1] दिनका भी अन्तर होता है यह सूचित किया गया है। किन्तु जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय ही है।

चौदह मार्गणाओंमेंसे क्रमानुसार पहली गतिमार्गणाके वर्णनका प्रारम्भ करते हुए प्रथम गतिशब्दकी निरुक्ति और उसके भेदोंको गिनाते हैं—

गइउदयजपज्जाया, चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवगइ त्ति य हवे चदुधा॥ १४६॥

गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवगतिरिति च भवेत् चतुर्धा॥ १४६॥

अर्थ—गतिनाम कर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको अथवा चारों गतियोंमें गमन करनेके कारणको गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं, नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति देवगति।

भावार्थ—गति शब्दके निरुक्तिके अनुसार तीन तरहसे ही निरुक्ति हो सकती है—गम्यते इति गतिः, गमनं वा गतिः और गम्यतेऽनेन सा गतिः।

इनमेंसे पहली निरुक्तिके अनुसार जीवको प्राप्त होनेवाली किसी भी वस्तुका नाम गति नहीं समझना चाहिए। किन्तु गतिनामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली जीवकी पर्याय विशेषको ही गति शब्दसे ग्रहण करना उचित है। इसी तरह गमनका अर्थ ग्रामादिकेलिए जाना ऐसा न लेकर विवक्षित भवको छोड़कर दूसरे भवका धारण करना-भवान्तररूपमें परिणत होना अर्थ ग्रहण करना चाहिए। तीसरी निरुक्तिके अनुसार नामकर्मकी उस प्रकृतिको गति कहते हैं जो कि जीवकी पर्याय-भवान्तररूप परिणमनमें कारण है। किन्तु इस प्रकरणमें कर्म अर्थ ग्रहण करनेकी मुख्यता[2] नहीं है। अर्थात् मार्गणाके इस प्रकरणमें जीवकी पर्याय अर्थ करना ही मुख्यतया विवक्षित है।

गतिमार्गणामें कुछ विशेष—चारों गतियोंका पृथक् २ वर्णन पांच गाथाओं द्वारा करते हैं—

ण रमंति जदो णिच्चं, दव्वे खेत्ते य काल-भावे य।
अण्णोण्णेहिं य जम्हा, तम्हा ते णारया भणिया[3]॥ १४७॥

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च।
अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः॥ १४७॥

---

१. तु-पुनः द्वितीयसिद्धान्तापेक्षया चतुर्विंशतिदिनानि। जी. प्र.

२. अत्र मार्गणाप्रकरणे गति नामकर्म न गृह्यते वक्ष्यमाणनारकादि-गतिप्रपंचस्य नारकादिपर्यायेष्वेव संभवात्॥ मं. प्र.।

३. संतसुत्त नं. १२८।

अर्थ—जो द्रव्य क्षेत्र काल भावमें स्वयं तथा परस्परमें प्रीतिको प्राप्त नहीं होते उनको नारत (नारकी) कहते हैं।

भावार्थ—शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंमें, उत्पत्ति शयन विहार उठने बैठने आदिके स्थान में, भोजन आदिके समयमें, अथवा और भी अनेक अवस्थाओंमें जो स्वयं अथवा परस्परमें प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं। इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्ति-सिद्ध अर्थ समझना चाहिये[1]। अर्थात् जो नरकगतिनाम कर्मके उदयसे हों उनको, अथवा नरान्–मनुष्योंको कायन्ति—क्लेश पहुँचावें उनको नारक कहते हैं। क्योंकि नीचे सातों ही भूमियोंमें रहनेवाले नारकी निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पाँच प्रकारके दुखोंसे दुखी रहते हैं।

तिर्यग्गतिका स्वरूप बताते हैं—

तिरियंति कुडिलभावं, सुविउलसण्णा णिगिट्ठिमण्णाणा ।
अच्चंतपावबहुला, तम्हा तेरिच्छया भणिया[2] ॥ १४८ ॥

तिरोऽञ्चन्ति कुटिलभावं सुविवृतसंज्ञा निकृष्टमज्ञानाः।
अत्यन्तपापबहुलास्तस्मात्तैरश्चका भणिताः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो मन वचन कायकी कुटिलताको प्राप्त हों, अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्योंको अच्छी तरह प्रकट हो, और जो निकृष्ट अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पापका वाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यञ्च कहते हैं।

भावार्थ—जिनमें कुटिलताकी प्रधानता हो, क्योंकि प्रायः करके सब ही तिर्यञ्च जो उनके मनमें होता है उसको वचनके द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि उनके उस प्रकारकी वचन शक्ति ही नहीं है. और जो वचनसे कहते हैं उसको कायसे नहीं करते। तथा जिनकी आहारादि संज्ञा प्रकट हो, और श्रुतका अभ्यास तथा शुभोपयोगादिके न कर सकनेसे जिनमें अत्यन्त अज्ञानता पाई जाय। तथा मनुष्यकी तरह महाव्रतादिकको धारण न कर सकने और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आदिके न हो सकनेसे जिनमें अत्यन्त पापका वाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यंच कहते हैं।

तात्पर्य यह कि निरुक्तिके अनुसार तिर्यग् गतिका अर्थ मायाकी प्रधानताको वताता है। यथा—तिरः—तिर्यग्भावं—कुटिलपरिणामं अञ्चन्ति इति तिर्यंचः। मायाप्रधान परिणामोंसे संचित कर्मके उदयसे यह गति—पर्याय प्राप्त होती है। यहाँपर जो पर्यायाश्रित भाव हुआ करते हैं वे भी मुख्यतया कुटिलताको ही सूचित करते हैं। उनकी भाषा अव्यक्त होनेसे वे अपने मनोभावोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ रहा करते हैं। प्रायः मैथुनसंज्ञा आदि मनुष्योंकी तरह उनकी गूढ़ नहीं हुआ करती। मनुष्योंके समान इनमें विवेक—हेयोपादेयका भेदज्ञान, श्रुताभ्यास, शुभोपयोग आदि भी

---

१. इस तरहसे इस पहली गतिके दो नाम हैं। नारत और नारक। इनकी निरुक्ति इस प्रकार है—द्रव्यादिषु न रमन्ते इति नरताः स्वार्थिकाण्विधानात् नारताः। अथवा नरकेषु जाता नारकः। नरकाणि अधोभूमिगतबिलानि।

२. षट्खं० धवला पृ० २०२ में उद्धृत / संतसुत्त नं. १२९।

नहीं पाया जाता। प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या आदिकी अपेक्षासे भी वे मनुष्योंसे निकृष्ट हैं। महाव्रतादि गुणोंको वे धारण नहीं कर सकते। इस गतिमें जिनका प्रमाण सबसे अधिक है उन एकेन्द्रिय जीवोंमें तथा असंज्ञि पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवोंमें भी जिससे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो सकता है ऐसी विशुद्धि नहीं पाई जाती। अतएव यह पर्याय अत्यन्त पाप बहुल है। सारांश यह है कि जिसके होनेपर ये भाव हुआ करते या पाये जाते हैं जीवकी उस द्रव्यपर्यायको ही तिर्यग्गति कहते हैं। मनुष्योंकी अपेक्षा यह निकृष्ट पर्याय है, ऐसा समझना चाहिए।

मनुष्यगतिका स्वरूप बताते हैं—

मण्णंति जदो णिच्चं, मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मण्णुब्भवा य सव्वे, तम्हा ते माणुसा भणिदा[1] ॥ १४९ ॥

मन्यन्ते यतो नित्यं मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात्।
मनूद्भवाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः ॥ १४९ ॥

अर्थ—जो नित्य ही हेय-उपादेय तत्त्व-अतत्त्व आप्त-अनाप्त धर्म-अधर्म आदिका विचार करें, और जो मनके द्वारा गुणदोषादिका विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मनके विषयमें उत्कृष्ट हों, शिल्पकला आदिमें भी कुशल हों, तथा युगकी आदिमें जो मनुओंसे उत्पन्न हों उनको मनुष्य कहते हैं।

भावार्थ—मनका विषय तीव्र होनेसे गुणदोषादि विचार स्मरण आदि जिनमें उत्कृष्ट रूपसे पाया जाय, अवधानादि करनेमें जिनका उपयोग दृढ़ हो, तथा कर्मभूमिकी आदिमें आदीश्वर भगवान् तथा कुलकरोंने जिनको व्यवहारका उपदेश दिया इसलिए जो उन्हींको—मनुओंकी सन्तान कहे या माने जाते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं। क्योंकि अवबोधनार्थक मनु धातुसे मनु शब्द बनता है और जो मनुकी सन्तान हैं उनको कहते हैं मनुष्य। अतएव इस शब्दका यहाँपर जो अर्थ किया गया है वह निरुक्तिके अनुसार है। लक्षणकी अपेक्षासे अल्पारम्भ परिग्रहके परिणामों द्वारा संचित मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जो ढाई द्वीपके क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले हैं उनको कहते हैं मनुष्य। ये ज्ञान विज्ञान मन पवित्र संस्कार आदिकी अपेक्षा अन्य जीवोंसे उत्कृष्ट हुआ करते हैं। जैसा कि निरुक्तिके द्वारा बताया गया है।

इस गाथामें एक "यतः" शब्द है और दूसरा "यस्मात्" शब्द है। अर्थ दोनों शब्दोंका एक ही होता है। अतएव इनमें एक शब्द व्यर्थ पड़ता है। वह व्यर्थ पड़कर विशिष्ट अर्थका ज्ञापन करता है कि यद्यपि लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्योंमें यह विशेष स्वरूप-निरुक्त्यर्थ घटित नहीं होता फिर भी उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयुके उदयरूप लक्षणमात्रकी अपेक्षासे मनुष्य कहते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

तिर्यंच तथा मनुष्योंके भेदोंको गिनाते हैं—

सामण्णा पंचिंदी, पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता।
तिरिया णरा तहा वि य, पंचिंदियभंगदो हीणा ॥ १५० ॥

---

१. संतसुत्त नं. १३०।

सामान्याः पंचेन्द्रियाः पर्याप्ताः योनिमत्यः अपर्याप्ताः।
तिर्यञ्चो नरास्तथापि च पंचेन्द्रियभंगतो हीनाः ॥ १५० ॥

अर्थ—तिर्यंचोंके पाँच भेद होते हैं। सामान्य तिर्यंच, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, तिर्यंच, पर्याप्त योनिनी तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच। इन्हीं पाँच भेदोंमेंसे पंचेन्द्रियके एक भेदको छोड़कर बाकीके ये ही चार भेद मनुष्योंके होते हैं।

भावार्थ—तिर्यंचोंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षी एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियतकके जीवोंकी भी सत्ता पाई जाती है इसलिए उनमें एक पंचेन्द्रियका भी भंग रक्खा गया है और उनके सब पाँच भेद माने गये हैं। परन्तु मनष्योंमें यह बात नहीं है। वे सब पंचेन्द्रिय ही होते हैं। उनमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षी किसी भी जीवकी सत्ता नहीं पाई जाती। अतएव उनमें पंचेन्द्रिय भेदको छोड़कर बाकीके सामान्य मनुष्य, मनुष्य पर्याप्त, मनुष्यिनी और अपर्याप्त मनुष्य; इस तरह चार ही भेद माने गये हैं।

आगममें इन दो गतियोंके सम्बन्धमें संख्या स्पर्शन क्षेत्र काल आदिकी अपेक्षासे जो कुछ विशेष वर्णन किया गया है वह सब इन भेदोंको एवं इनकी सत्ताको आधार मानकर-रखकर अथवा दृष्टिमें लेकर ही किया गया है। यही कारण है कि यहाँपर भी आचार्यने दोनों गतिवाले जीवोंके इन भेदोंका निर्देश कर दिया है जिससे कि यहाँपर भी आगे संख्या आदिकी अपेक्षा किये जानेवाले वर्णनको ठीक-ठीक घटित किया जासके और समझमें आसके कि तत्तत् वर्णनीय विषयके यथार्थ आधार ये जीवस्थान ही हैं न कि उससे भिन्न शरीर–स्थानादि।

देवोंका स्वरूप बताते हैं।

दीव्वंति जदो णिच्चं, गुणेहिं अट्ठेहिं दिव्वभावेहिं।
भासंतदिव्वकाया, तम्हा ते वण्णिया देवा[1] ॥ १५१ ॥

दीव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टाभिर्दिव्यभावैः।
भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः ॥ १५१ ॥

अर्थ—जो देवगतिमें होनेवाले या पाये जानेवाले परिणामों—परिणमनोंसे सदा सुखी रहते हैं और जो अणिमा महिमा आदि आठ[2] गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूपसे विहार करते हैं और जिनका रूप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहता है, उनको परमागममें देव कहा है।

भावार्थ—देव शब्द दिव् धातुसे बनता है जिसके कि क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। अतएव निरुक्तिके अनुसार जो मनुष्योंमें न पाये जासकने वाले प्रभावसे युक्त हैं तथा कुलाचलों पर वनोंमें या महासमुद्रोंमें सपरिवार विहार-क्रीड़ा किया करते हैं। वलवानोंको भी जीतनेका भाव रखते हैं। पञ्चपरमेष्ठियों या अकृत्रिम चैत्य चैत्यालयों

---

१. षट् खं. संत सु. गाथा नं. १३१ किन्तु तत्र "अट्ठहि य दव्वभावेहि" इति पाठः।
२. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व।

आदिकी स्तुति वन्दना किया करते हैं। सदा पंचेन्द्रियोंके सम्बन्धी विषयोंके भोगोंसे मुदित रहा करते हैं, जो विशिष्ट दीप्तिके धारण करनेवाले हैं, जिनका शरीर धातुमलदोष रहित एवं अविच्छिन्न रूप लावण्यसे युक्त सदा यौवन अवस्थामें रहा करता है और जो अणिमा आदि आठ प्रकारकी ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं उनको देव कहते हैं। यह देवपर्यायके स्वरूपमात्रका निदर्शन है। लक्षणके अनुसार जो अपने कारणों[1]से संचित देवायु और देवगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त पर्यायको धारण करनेवाले संसारी जीव हैं वे सब देव हैं।

इस प्रकार संसारसम्बन्धी चारों गतियोंका स्वरूप बताकर संसारसे विलक्षण सिद्धगतिका स्वरूप बताते हैं—

जाइजरामरणभया, संजोगविजोगदुक्खसण्णाओ।
रोगादिगा य जिस्से, ण संति सा होदि सिद्ध[2]गई ॥ १५२ ॥

जातिजरामरणभया संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः।
रोगादिकाश्च यस्यां न सन्ति सा भवति सिद्धगतिः ॥ १५२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक पाँच प्रकारकी जाति, बुढ़ापा, मरण, भय, अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, इनसे होनेवाले दुःख आहारादि विषयक संज्ञाएँ—वांछाएँ और रोग आदिकी व्याधि इत्यादि विरुद्ध विषय जिस गतिमें नहीं पाये जाते उसको सिद्ध[3]गति कहते हैं।

भावार्थ—जाति नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली एकेन्द्रियादिक जीवकी पाँच अवस्थाएँ, आयुकर्मके विपाक आदि कारणोंसे शरीरके शिथिल होनेपर जरा, नवीन आयुके बन्धपूर्वक भुज्यमान आयुके अभावसे होनेवाले प्राणोंके त्यागरूप मरण, अनर्थकी आशंका करके अपकारक वस्तुसे दूर रहने या भागनेकी इच्छारूप भय, क्लेशके कारणभूत अनिष्ट पदार्थकी प्राप्तिरूप संयोग, सुखके कारणभूत अभीष्ट पदार्थके दूर होजानेरूप वियोग, इनसे होनेवाले अन्य भी अनेक प्रकारके दुःख तथा आहार आदि विषयक तीन[4] प्रकारकी संज्ञाएँ, शरीरकी अस्वस्थतारूप अनेक प्रकारकी व्याधि तथा आदि शब्दसे मानभंग वध बन्धन आदि दुःख जिस गतिमें अपने अपने कारणभूत कर्मोंका अभाव होजानेसे नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं।

गति मार्गणाके चार ही भेद हैं, क्योंकि वह उस नामकर्म विशेषके उदयकी अपेक्षा रखता है जो कि गति नामसे ही कहा गया है और जिसके चार ही भेद हैं। किन्तु जीवको जिस गति—द्रव्यपर्याय विशेषको यहाँ बताया गया है वह मार्गणातीत है। वह किसी कर्मके उदयसे नहीं किन्तु समस्त कर्मोंके क्षयसे प्रादुर्भूत हुआ करती है। अतएव चारों गतियोंके अनन्तर इसका

१. त. सू. अ. ६ सूत्र नं. १९, २०, २१।

२. षट् खं. सं. गाथा नं. १३२।

३. षट्. खं. सं. सु. सूत्र नं. २३ के अनुसार संसारी जीवोंमें पाई जानेवाली १४ गुणस्थानरूप अवस्थासे अतीत यह जीवकी अवस्था है। ग्रन्थकार भी पहले गाथा नं. ६८ में इसका वर्णन कर चुके हैं।

४. संज्ञाएँ चार हैं जैसा कि बताया जा चुका है, परन्तु उनमेंसे एक भयसंज्ञाका नाम गाथामें कण्ठोक्त होनेसे शेष तीनका ही संज्ञा शब्दसे उल्लेख किया गया है।

पृथक् वर्णन किया गया है और सम्पूर्ण कर्मजन्य विकारी भावोंसे रहित इसको बताया गया है। इस अवस्थामें आत्मद्रव्यके सभी स्वाभाविक गुणोंका जो सद्भाव रहता है उसका निदर्शन पहले गाथा नं. ६८ में किया जा चुका है।

गतिमार्गणाके निमित्तको पाकर उसके मुख्य[१] गौण भेदोंके अस्तित्वका निरूपण करके उनकी संख्याका वर्णन करनेके उद्देश्यसे क्रमानुसार सबसे प्रथम नरकगतिमें पाई जानेवाली जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

सामण्णा णेरइया, घणअंगुलविदियमूलगुणसेढी।
विदियादि वारदसअड, छत्तिदुणिजपदहिदा सेढी ॥ १५२ ॥

सामान्या नैरयिका घनांगुलद्वितीयमूलगुणश्रेणी।
द्वितीयादिः द्वादशदशाष्टषट्त्रिद्विनिजपदहिता श्रेणी ॥ १५३ ॥

अर्थ—सामान्यतया सम्पूर्ण नारियोंका प्रमाण घनांगुलके दूसरे वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। द्वितीयादि[२] पृथिवियोंमें रहनेवाले-पाये जानेवाले नारकियोंका प्रमाण क्रमसे अपने बारहवें, दशवें, आठवें, छट्ठे, तीसरे और दूसरे वर्गमूलसे भक्त जगच्छ्रेणीप्रमाण समझना चाहिए।

भावार्थ—घनांगुलके दूसरे वर्गमूलका[३] जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उतना ही सातों पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण है। इसमेंसे द्वितीयादिक पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण पृथक् पृथक् रूपमें बतानेके लिए कहते हैं कि अपने अर्थात् जगच्छ्रेणीका जितना प्रमाण है उसके बारहवें वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें ही भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने दूसरी पृथिवीके नारकी हैं। इसी प्रकार दशवें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने तीसरी पृथिवीके और आठवें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने चौथी पृथिवीके, तथा छट्ठे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने पांचवीं पृथिवीके और तीसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने छट्ठी पृथिवीके, तथा दूसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने सातवीं पृथिवीके नारकी होते हैं। यह उत्कृष्ट संख्याका प्रमाण है--अर्थात् एक समयमें ज्यादेसे ज्यादे इतने नारकी हो सकते हैं।

इसतरह नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बताकर अब प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण बताते हैं—

---

१. यह ग्रन्थ अशुद्ध जीवद्रव्य और उसके अशुद्ध भावोंका ही प्रधानतया वर्णन करता है, क्योंकि यहां अशुद्ध निश्चयसे विवक्षा मुख्य है। अतएव मार्गणाओंका वर्णन प्रधान है। किन्तु वर्णन अभ्यास-अधूरा न रहे अतः मुख्य लक्ष्यभूत अवस्था—सिद्धगतिका भी गौणतया वर्णन किया गया है। यही बात अन्य प्रकरणोंके सम्बंधमें समझनी चाहिए।

२. क्योंकि प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण आगेकी गाथामें बताया गया है। इस तरहसे वर्णन करनेका कारण वर्णनकी सुगमता है।

३. दूसरा वर्गमूलका वर्गमूल। जैसे १६ के वर्गमूल ४ का वर्गमूल २ होता है।

हेट्ठिमछप्पुढवीणं, रासिविहीणो दु सव्वरासी दु ।
पढमावणिम्हि रासी, णेरइयाणं तु णिद्दिट्ठो ॥ १५४ ॥

अधस्तनषट्पृथ्वीनां राशिविहीनस्तु सर्वराशिस्तु ।
प्रथमावनी राशिः नैरयिकाणां तु निर्दिष्टः ॥ १५४ ॥

अर्थ—नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारकराशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना ही प्रथम पृथ्वीके नारकियोंका प्रमाण है ।

तिर्यग्जीवोंकी संख्या बताते हैं—

संसारी पंचक्खा, तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो ।
सामण्णा पंचिंदी, पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा ॥ १५५ ॥

संसारिणः पंचाक्षास्तत्पूर्णाः त्रिगतिहीनकाः क्रमशः ।
सामान्याः पञ्चेन्द्रियाः पंचेन्द्रियपूर्णतैरश्चाः ॥ १५५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवराशिमेंसे सिद्धराशिको घटानेपर जितना प्रमाण रहे उतना ही संसारराशिका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे नारक मनुष्य देव इन तीन राशियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना ही सामान्य तिर्यंचोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय[1] जीवराशिका जितना प्रमाण है उसमेंसे उक्त तीन गतिसम्बन्धी समस्त जीवराशिके प्रमाणको घटानेपर जितना प्रमाण शेष रहे उतने पंचेन्द्रिय तिर्यंच हैं । तथा पर्याप्तकों[2]के प्रमाणमेंसे उक्त तीन गतिके पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतने ही तिर्यंच पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं ।

छस्सयजोयणकदिहदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं ।
पुण्णूणा पंचक्खा, तिरियअपज्जत्तपरिसंखा ॥ १५६ ॥

षट्शतयोजनकृतिहतजगत्प्रतरं योनिमतीनां परिमाणम् ।
पूर्णोनाः पंचाक्षाः तिर्यगपर्याप्तपरिसंख्या ॥ १५६ ॥

अर्थ—छहसौ योजनके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही योनिनी तिर्यंचोंका प्रमाण है । और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमेंसे पर्याप्त तिर्यंचोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंका प्रमाण है ।

मनुष्योंका प्रमाण बतानेके लिये तीन गाथाओंको कहते हैं—

सेढीसूईअंगुलआदिमतदियपदभाजिदेगूणा ।
सामण्णमणुसरासी, पंचमकदिघणसमा पुण्णा ॥ १५७ ॥

श्रेणी सूच्यङ्गुलादिमतृतीयपदभाजितैकोना ।
सामान्यमनुष्यराशिः पंचमकृतिघनसमाः पूर्णाः ॥ १५७ ॥

१-२. पंचेन्द्रिय और पर्याप्तकोंका प्रमाण आगे बतावेंगे ।

अर्थ—सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रे्णीमें भाग देनेसे जो शेष रहे उसमें एक और घटानेपर जो शेष रहे उतना सामान्य मनुष्य राशिका प्रमाण है। इसमेंसे द्विरूपवर्गधारामें उत्पन्न पाँचवें वर्ग (बादाल) के घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है।

भावार्थ—जगच्छ्रे्णीमें सूच्यंगुलके प्रथम वर्गमूलका भाग देनेपर जो राशि लब्ध हो उसमें पुनः सूच्यंगुलके तृतीय वर्गमूलका भाग देना चाहिये। ऐसा करनेपर जो प्रमाण निष्पन्न हो वही एक कम सामान्य मनुष्य राशिका प्रमाण है। इसमें पर्याप्त मनुष्य पांचवें वर्गके घनप्रमाण हैं।

यह पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या कितनी होती है इस बातको स्पष्टरूपसे बताते हैं—

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा होंति हु, माणुसपज्जत्तसंखंका ॥ १५८ ॥

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।
तटहरिखझसा भवन्ति हि मानुषपर्याप्तसंख्यांकाः ॥ १५८ ॥

अर्थ—तकारसे लेकर सकारपर्यन्त जितने अक्षर इस गाथामें बताये हैं, उतने ही अंकप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या है।

भावार्थ—इस गाथामें तकारादि अक्षरोंसे अङ्कोंका ग्रहण करना चाहिये, परन्तु किस अक्षरसे किस अङ्कका ग्रहण करना चाहिये इसके लिये "कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरञनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्" यह गाथा उपयोगी है। अर्थात् कसे लेकर आगेके झ तकके नव अक्षरोंसे क्रमसे एक दो आदि नव अंक समझने चाहिये। इसी प्रकार टसे लेकर नव अंक और पसे लेकर पाँच अंक, तथा यसे लेकर आठ अक्षरोंसे आठ अंक एवं सोलह स्वर और ञ न इनसे शून्य (०) समझना चाहिये। किन्तु मात्रा और उपरिम अक्षर, इससे कोई भी अंक ग्रहण नहीं करना चाहिये। इस नियमके और "अंकोंकी विपरीत[1] गति होती है" इस नियमके अनुसार इस गाथामें कहे हुए अक्षरोंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या ७९२२८१६२५१४२६४३३-७५९३५४३९५०३३६ निकलती है[2]।

मानुषी तथा अपर्याप्त मनुष्योंकी संख्या बताते हैं—

पज्जत्तमणुस्साणं, तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं ।
सामण्णा पुण्णूणा, मणुवअपज्जत्तगा होंति ॥ १५९ ॥

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिचतुर्थो मानुषीणां परिमाणम् ।
सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवन्ति ॥ १५९ ॥

अर्थ—पर्याप्त मनुष्योंका जितना प्रमाण है उसमें तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) मानुषियोंका प्रमाण

---

१. अंकानां वामतो गतिः।

२. यही संख्या दक्षिण भागसे अक्षरों द्वारा अंकप्रमाणमें बतानेवाली दूसरी गाथा इस प्रकार है— साधूरराजकीर्त्तेरेणांको भारती विलोलसमधीः। गुणवर्गधर्मनिगलितसंख्यावन्मानवेष वर्णक्रमाः।

है। सामान्य मनुष्यराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त[1] मनुष्योंका प्रमाण है।

इस प्रकार चारों ही प्रकारके मनुष्योंकी संख्या बताकर अब देवगतिके जीवोंकी संख्या बताते हैं—

तिण्णिसयजोयणाणं, बेसदछप्पण्णअंगुलाणं च।
कदिहदपदरं वेंतर, जोइसियाणं च परिमाणं ॥ १६० ॥

त्रिशतयोजनानां द्विशतषट्पंचाशदंगुलानां च।
कृतिहतप्रतरं व्यन्तरज्योतिष्काणां च परिमाणम् ॥ १६० ॥

अर्थ—तीनसौ योजनके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना व्यन्तर देवोंका प्रमाण है। और २५६ प्रमाणांगुलोंके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ज्योतिषियोंका प्रमाण है।

घणअंगुलपढमपदं, तदियपदं सेढिसंगुणं कमसो।
भवणे सोहम्मदुगे, देवाणं होदि परिमाणं ॥ १६१ ॥

घनांगुलप्रथमपदं तृतीयपदं श्रेणिसंगुणं क्रमशः।
भवने सौधर्मद्विके देवानां भवति परिमाणम् ॥ १६१ ॥

अर्थ—जगच्छ्रेणीके साथ घनांगुलके प्रथम वर्गमूलका गुणा करनेसे भवनवासी, और तृतीय वर्गमूलका गुणा करनेसे सौधर्मद्विक-सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंका प्रमाण निकलता है।

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलभाजिदा सेढी।
पल्लासंखेज्जदिमा, पत्तेयं आणदादिसुरा[2] ॥ १६२ ॥

तत एकादशनवसप्तपंचचतुर्निजमूलभाजिता श्रेणी।
पल्यासंख्यातकाः प्रत्येकमानितादिसुराः ॥ १६२ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर अपने (जगच्छ्रेणीके) ग्यारहवें नववें सातवें पाचवें चौथे वर्गमूलसे भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण तीसरे कल्पसे लेकर बारहवें कल्पतकके देवोंका प्रमाण है। आनतादिकमें आगेके देवोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

भावार्थ—ऐशान स्वर्गसे आगे सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण जगच्छ्रेणीमें जगच्छ्रेणीके ग्यारहवें वर्गमूलका भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतना ही है। इसही प्रकार जगच्छ्रेणीके नववें वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। और जगच्छ्रेणीके सातवें वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें ही भाग देनेसे जो लब्ध आवे

---

१. ऊपर अपर्याप्त तिर्यंचोंका और यहां पर अपर्याप्त मनुष्योंका जो प्रमाण बताया है वह लब्ध्यपर्याप्तकोंका समझना चाहिये।

२. षट् खं, ३ गाथा नं.।

उतना लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। पांचवें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। चौथे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सतार सहस्रार स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। आनत प्राणत आरण अच्युत नव ग्रैवेयक नव अनुदिश विजय वैजयंत जयंत अपराजित इन छब्बीस कल्पोंमेंसे प्रत्येक कल्पके देवोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग है। यह प्रमाण सामान्यतया बताया है, किन्तु विशेषरूपमें उत्तरोत्तर-आरणादिकमें संख्यात गुणा हीन[1] है।

सर्वार्थसिद्धिके देवोंका तथा सामान्य देवराशिका प्रमाण बताते हैं—

तिगुणा सत्तगुणा वा, सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ।
सामण्णदेवरासी, जोइसियादो विसेसाहिया ॥ १६३ ॥

त्रिगुणा सप्तगुणा वा सर्वार्था मानुषीप्रमाणतः।
सामान्यदेवराशिः ज्योतिष्कतो विशेषाधिकः ॥ १६३ ॥

अर्थ—मानुषियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सतगुना सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है। ज्योतिष्क देवोंका जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशिका प्रमाण है।

भावार्थ—मानुषियोंसे तिगुना और सतगुना इस तरह दो प्रकारसे जो सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण बताया है वह दो आचार्योंके मतकी अपेक्षासे है। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंका प्रमाण बहुत अधिक है, शेष तीन जातिके देवोंका प्रमाण बहुत अल्प है, इसलिए ऐसा कहा है कि सामान्य देवराशि ज्योतिषियोंसे कुछ अधिक है।

॥ इति गतिमार्गणाधिकारः ॥

अथ इन्द्रियमार्गणाधिकारः—२

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामें इन्द्रियोंका विषय स्वरूप भेद आदिका वर्णन करनेसे प्रथम उसका निरुक्ति पूर्वक अर्थ बताते हैं—

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण[2] ॥ १६४ ॥

अहमिन्द्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः।
ईशते एकैकमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि ॥ १६४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने अपनेको स्वामी मानते हैं, उसी ही प्रकार इन्द्रियाँ भी हैं।

---

१. "तत्र आरणादिदेवाः संख्यातगुणहीनाः" मं. प्र.।
२. षट्. खं. सं. सु. गाथा ८५।

भावार्थ—इन्द्रके समान जो हो उसको इन्द्रिय[1] कहते हैं। इसलिए जिसप्रकार नव ग्रैवेयकादिवासी अपने अपने विषयोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे अर्थात् इन्द्र सामानिक आदि भेदों तथा स्वामी भृत्य आदि विशेष भेदोंसे रहित होनेके कारण किसीकी आज्ञाके वशवर्ती नहीं हैं। अतएव स्वतन्त्र होनेसे वे सब ही अपने अपनेको इन्द्र मानते हैं। उसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरी रसना आदिकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि इनको इन्द्रों–अहमिन्द्रोंके समान होनेसे इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि निरुक्तिके अनुसार यह अर्थ सिद्ध[2] है।

इन्द्रियोंके संक्षेपमें भेद और उनका स्वरूप बताते हैं—

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जवोहो वा।
भाविंदियं तु दव्वं, देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥ १६५ ॥

मत्यावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तज्जबोधो वा।
भावेन्द्रियं तु द्रव्यं देहुदयजदेहचिन्हं तु ॥ १६५ ॥

अर्थ—इन्द्रियके दो भेद हैं—एक भावेन्द्रिय दूसरा द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। और शरीर नामकर्मके उदयसे बननेवाले शरीरके चिन्हविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ—भावेन्द्रिय दो प्रकारकी हैं एक लब्धिरूप दूसरी उपयोगरूप[3]। पूर्वार्धमें इन्हीं दोनों भेदोंका स्वरूप बताया गया है। कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट हुई अर्थ ग्रहणकी शक्तिरूप विशुद्धिको ही लब्धि कहते हैं। और उसके होनेपर अर्थ—विषयके ग्रहण करने रूप जो व्यापार होता है उसको उपयोग कहते हैं। भावका अर्थ चित्परिणाम है। ये दोनों भेद चित्परिणामरूप हैं अतएव उनको भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियके भी दो भेद हैं—निर्वृति और उपकरण[4]। जीवविपाकी जाति नामकर्मके उदयके साथ साथ शरीर नामकर्मके उदयसे तत्तत् इन्द्रियके आकारमें जो आत्मप्रदेशों तथा आत्मसम्बद्ध शरीरप्रदेशोंकी रचना होती है उसको निर्वृति कहते हैं। इन्द्रिय पर्याप्तिके अनुसार प्राप्त नोकर्म वर्गणाओंके द्वारा उपयोगमें बाह्य सहकारी अथवा निर्वृति आदिकी रक्षामें सहायक अवयव बनते हैं उनको उपकरण कहते हैं।

इन्द्रिय शब्दकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे आगममें[5] की गई है वहाँसे देखलेना[6] चाहिए।

---

१. इन्द्रा इव इन्द्रियाणीति इवार्थे घ प्रत्ययो निपात्यते मं प्र.।

२. व्याकरणके अनुसार इंद्र शब्दसे इव-समान अर्थमें घ—इय प्रत्यय होकर इंद्रिय शब्द बनता है।

३. ४–लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येंद्रियम्। "त. सू. अ. २।

५. सर्वार्थसिद्धि आदि.।

६. यथा-यदिन्द्रस्यात्मनो लिंगं यदि वेन्द्रेण कर्मणा सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियम् "जी. प्र.।

उतना लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। पांचवें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। चौथे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सतार सहस्रार स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। आनत प्राणत आरण अच्युत नव ग्रैवेयक नव अनुदिश विजय वैजयंत जयंत अपराजित इन छब्बीस कल्पोंमेंसे प्रत्येक कल्पके देवोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग है। यह प्रमाण सामान्यतया बताया है, किन्तु विशेषरूपमें उत्तरोत्तर-आरणादिकमें संख्यात गुणा हीन[1] है।

सर्वार्थसिद्धिके देवोंका तथा सामान्य देवराशिका प्रमाण बताते हैं—

तिगुणा सत्तगुणा वा, सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो।
सामण्णदेवरासी, जोइसियादो विसेसाहिया ॥ १६३ ॥

त्रिगुणा सप्तगुणा वा सर्वार्था मानुषीप्रमाणतः।
सामान्यदेवराशिः ज्योतिष्कतो विशेषाधिकः ॥ १६३ ॥

अर्थ—मानुषियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सतगुना सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है। ज्योतिष्क देवोंका जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशिका प्रमाण है।

भावार्थ—मानुषियोंसे तिगुना और सतगुना इस तरह दो प्रकारसे जो सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण बताया है वह दो आचार्योंके मतकी अपेक्षासे है। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंका प्रमाण बहुत अधिक है, शेष तीन जातिके देवोंका प्रमाण बहुत अल्प है, इसलिए ऐसा कहा है कि सामान्य देवराशि ज्योतिषियोंसे कुछ अधिक है।

॥ इति गतिमार्गणाधिकारः ॥

अथ इन्द्रियमार्गणाधिकारः–२

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामें इन्द्रियोंका विषय स्वरूप भेद आदिका वर्णन करनेसे प्रथम उसका निरुक्ति पूर्वक अर्थ बताते हैं—

अहमिंदा जह देवा, अविसेसं अहमहंति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं, इंदा इव इंदिये जाण[2] ॥ १६४ ॥

अहमिन्द्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः।
ईशते एकैकमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि ॥ १६४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने अपनेको स्वामी मानते हैं, उसी ही प्रकार इन्द्रियाँ भी हैं।

---

१. "तत्र आरणादिदेवाः संख्यातगुणहीनाः" मं. प्र.।
२. षट् खं. सं. सु. गाथा ८५।

भावार्थ—इन्द्रके समान जो हो उसको इन्द्रिय[1] कहते हैं। इसलिए जिसप्रकार नव ग्रैवेयकादिवासी अपने अपने विषयोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे अर्थात् इन्द्र सामानिक आदि भेदों तथा स्वामी भृत्य आदि विशेष भेदोंसे रहित होनेके कारण किसीकी आज्ञाके वशवर्ती नहीं हैं। अतएव स्वतन्त्र होनेसे वे सब ही अपने अपनेको इन्द्र मानते हैं। उसी प्रकार स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ भी अपने अपने स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरी रसना आदिकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र हैं। यही कारण है कि इनको इन्द्रों–अहमिन्द्रोंके समान होनेसे इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि निरुक्तिके अनुसार यह अर्थ सिद्ध[2] है।

इन्द्रियोंके संक्षेपमें भेद और उनका स्वरूप बताते हैं—

मदिआवरणखओवसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा।
भाविंदियं तु दव्वं, देहुदयजदेहचिण्हं तु ॥ १६५ ॥

मत्यावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तज्जबोधो वा।
भावेन्द्रियं तु द्रव्यं देहुदयजदेहचिन्हं तु ॥ १६५ ॥

अर्थ—इन्द्रियके दो भेद हैं—एक भावेन्द्रिय दूसरा द्रव्येन्द्रिय। मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं। और शरीर नामकर्मके उदयसे बननेवाले शरीरके चिन्हविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

भावार्थ—भावेन्द्रिय दो प्रकारकी हैं एक लब्धिरूप दूसरी उपयोगरूप[3]। पूर्वार्धमें इन्हीं दोनों भेदोंका स्वरूप बताया गया है। कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट हुई अर्थ ग्रहणकी शक्तिरूप विशुद्धिको ही लब्धि कहते हैं। और उसके होनेपर अर्थ—विषयके ग्रहण करने रूप जो व्यापार होता है उसको उपयोग कहते हैं। भावका अर्थ चित्परिणाम है। ये दोनों भेद चित्परिणामरूप हैं अतएव उनको भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रियके भी दो भेद हैं—निर्वृति और उपकरण[4]। जीवविपाकी जाति नामकर्मके उदयके साथ साथ शरीर नामकर्मके उदयसे तत्तत् इन्द्रियके आकारमें जो आत्मप्रदेशों तथा आत्मसम्बद्ध शरीरप्रदेशोंकी रचना होती है उसको निर्वृति कहते हैं। इन्द्रिय पर्याप्तिके अनुसार प्राप्त नोकर्म वर्गणाओंके द्वारा उपयोगमें बाह्य सहकारी अथवा निर्वृति आदिकी रक्षामें सहायक अवयव बनते हैं उनको उपकरण कहते हैं।

इन्द्रिय शब्दकी निरुक्ति अनेक प्रकारसे आगममें[5] की गई है वहाँसे देखलेना[6] चाहिए।

---

१. इन्द्रा इव इन्द्रियाणीति इवार्थे घ प्रत्ययो निपात्यते मं प्र.।

२. व्याकरणके अनुसार इंद्र शब्दसे इव-समान अर्थमें घ—इय प्रत्यय होकर इंद्रिय शब्द बनता है।

३. ४–लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्, निर्वृत्युपकरणे द्रव्येंद्रियम्। "त. सू. अ. २।

५. सर्वार्थसिद्धि आदि.।

६. यथा-यदिन्द्रस्यात्मनो लिंगं यदि वेन्द्रेण कर्मणा सृष्टं जुष्टं तथा दृष्टं दत्तं वेति तदिन्द्रियम् "जी. प्र.।

इन्द्रियकी अपेक्षासे जीवोंके भेद कहते हैं—

फासरसगंधरूवे, सद्दे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।
इगिबितिचदुपंचिंदिय, जीवा णियभेयभिण्णा ओ ॥ १६६ ॥

स्पर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिन्हकं येषाम् ।
एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियजीवा निजभेदभिन्ना ओ[1] ॥ १६६ ॥

अर्थ—जिन जीवोंके वाह्य चिन्ह (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होनेवाला स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन विषयोंका ज्ञान हो उनको क्रमसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं।

भावार्थ—जिन जीवोंके स्पर्शविषयक ज्ञान और उसका अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय मौजूद हो उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। इसी प्रकार अपने अपने अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रियके साथ साथ जिन जीवोंके रसविषयक ज्ञान हो उनको द्वीन्द्रिय और गंधविषयक ज्ञानवालोंको त्रीन्द्रिय तथा रूपविषयक ज्ञानवालोंको चतुरिन्द्रिय और शब्दविषयक ज्ञानवालोंको पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन एकेन्द्रियादि जीवोंके भी अनेक अवान्तर भेद हैं [2]। तथा आगे आगेकी इन्द्रियवालोंके पूर्व पूर्वकी इन्द्रिय अवश्य होती हैं। जैसे रसनेन्द्रिय वालोंके स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य होगी और घ्राणेन्द्रिय-वालोंके स्पर्शन और रसन अवश्य होगी। इत्यादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त ऐसा ही समझना।

इसप्रकार एकेन्द्रियादि जीवोंके इन्द्रियोंके विषयकी वृद्धिका क्रम बताकर अव इन्द्रियवृद्धि-का क्रम वताते हैं—

एइंदियस्स फुसणं, एक्कं वि य होदि सेसजीवाणं ।[3]
होंति कमउड्ढियाइं, जिब्भाघाणच्छिसोत्ताइं ॥ १६७ ॥

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानाम् ।
भवन्ति क्रमवर्द्धितानि जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्राणि ॥ १६७ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है। शेष जीवोंके क्रमसे जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र वढ़ जाते हैं।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रियके स्पर्शन रसना (जिह्वा), त्रीन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण (नासिका), चतुरिन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और पंचेन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र होते हैं।

---

१. ओ इति शिष्यसम्वोधनार्थ प्राकृते अव्ययम् ॥ मं. प्र. ।

२. अर्थात् एकेन्द्रियादिके भी अनेक अवान्तर जातिभेद हैं। देखो तत्त्वार्थसार जीवतत्त्ववर्णन श्लोक ५३ से ६६ तक।

३. एइंदियस्स फुसणं, एक्कं चिय होइ सेसजीवाणं ।
होंति कमवड्ढियाइं, जिब्भाघाणक्खिसोत्ताइं ॥ १४२ ॥ पट्‌ खं. ।

स्पर्शनादिक इन्द्रियां कितनी दूर तक रखे हुए अपने विषयका ज्ञान कर सकती हैं यह बतानेके लिये तीन गाथाओंमें इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं।

धणुवीसडदसयकदी, जोयणछादालहीणतिसहस्सा।
अट्ठसहस्स धणूणं, विसया दुगुणा असण्णि त्ति ॥ १६८ ॥

धनुर्विंशत्यष्टदशककृतिः योजनषट्चत्वारिंशद्धीनत्रिसहस्राणि।
अष्टसहस्रं धनुषां विषया द्विगुणा असंज्ञीति ॥ १६८ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण इनका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रमसे चार सौ धनुष चौसठ धनुष सौ धनुष प्रमाण है। चक्षुका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नवसौ चौअन योजन है और श्रोत्रेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है। और आगे असंज्ञिपर्यन्त दूना दूना विषयक्षेत्र बढ़ता गया है।

भावार्थ—एकेन्द्रियके स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चारसौ धनुष है। और द्वीन्द्रियादिके वह दूना दूना होता गया है। अर्थात् द्वीन्द्रियके आठसौ, त्रीन्द्रियके सौलहसौ, चतुरिन्द्रियके बत्तीससौ, असंज्ञीपंचेन्द्रियके चौंसठसौ धनुष स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र है। द्वीन्द्रियके रसनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चौंसठ धनुष है और वह भी त्रीन्द्रियादिकके स्पर्शनेन्द्रियके विषय-क्षेत्रकी तरह दूना दूना होता गया है। अर्थात् त्रीन्द्रियके १२८ चतुरिन्द्रियके २५६ और असंज्ञी-पंचेन्द्रियके रसनाका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र ५१२ धनुष प्रमाण है। इसी प्रकार घ्राण, और श्रोत्रका विषयक्षेत्र भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् घ्राणेन्द्रियका विषयक्षेत्र त्रीन्द्रियके १००, चतुरिन्द्रियके २०० और असंज्ञी पंचेन्द्रियके ४०० धनुष प्रमाण है। चक्षुरिन्द्रियका विषयक्षेत्र चतुरिन्द्रियके २९५४ और असंज्ञी पंचेन्द्रियके ५९०८ योजन है। असंज्ञी पंचेन्द्रियके श्रोत्रका विषय ८००० धनुष है।

संज्ञी जीवकी इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं—

सण्णिस्स बार सोदे, तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स।
सत्तेतालसहस्सा, बेसदतेसट्ठिमदिरेया ॥ १६९ ॥

संज्ञिनो द्वादश श्रोत्रे त्रयाणां नव योजनानि चक्षुषः।
सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशतत्रिषष्ट्यतिरेकाणि ॥ १६९ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके स्पर्शन रसना घ्राण इन तीन इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येकका विषयभूत क्षेत्र नौ नौ योजन है। और श्रोत्रेन्द्रियका उत्कृष्ट विषय क्षेत्र बारह योजन है। तथा चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र सेंतालीस हजार दो सौ त्रेसठ योजनसे कुछ अधिक है।

एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञीपंचेन्द्रियपर्यंत जीवोंके पाई जानेवालीं इन्द्रियोंका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र कितना है, तथा प्रत्येक इंद्रियका नियत विषय, उसको ग्रहण करनेकी योग्यता तथा उनका आकार किस प्रकारका है, यह आगे दिये गये यंत्र द्वारा जाना जा सकता है—

एकेन्द्रिय आदि जीवोंके पाई जानेवाली इन्द्रियोंके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रादिका दर्शक यन्त्र ।

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय धनुष वि. क्षे.	द्वीन्द्रिय धनुष वि. क्षे.	त्रीन्द्रिय धनुष वि. क्षे.	चतुरिन्द्रिय		असं. पं. वि. क्षे.		सं. पंचे. योजन वि. क्षे.	विषय	योग्यता	आकृति
				धनुष	योजन	धनुष	योजन				
स्पर्शन.	४००	८००	१६००	३२००	०	६४००	०	९	८ प्रकारका स्पर्श	बद्धस्पृष्ट	अनेक अनियत
रसना	०	६४	१२८	२५६	०	५१२	०	९	५ विध रस	,,	खुरपा
घ्राण	०	०	१००	२००	०	४००	०	९	द्विविध गंध	,,	तिलपुष्प
चक्षु	०	०	०	०	२९५४	०	'१९०८	४७२६३ $\frac{१}{७ \div २०}$	पंच प्रकार रूप	अस्पृष्ट	मसूर अन्न
श्रोत्र	०	०	०	०	०	८००	०	१२	शब्द तथा ७ स्वर	स्पृष्ट	यवनाली

विशेष-इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी अवगाहनाका प्रमाण (गाथा १७२-१७३) तथा तत्तत् इन्द्रियवाले जीवोंके शरीरकी अवगाहनाका जघन्य उत्कृष्ट प्रमाण (गाथा १७३) एवं एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्या (गाथा १७५ आदि) वाह्याभ्यन्तर भेदों, अवान्तर जाति भेदोंका स्वरूप आदि यथास्थान वताया गया है, वहां देखना चाहिये ।

ऊपरकी गाथामें चक्षुरिन्द्रियका जो उत्कृष्ट विषयक्षेत्रका प्रमाण बताया गया है वह किस तरह निष्पन्न होता है यह बात उपपत्तिपूर्वक बताते हैं—

तिण्णिसयसट्ठिविरहिद, लक्खं दशमूलताडिदे मूलम् ।
णवगुणिदे सट्ठिहदे, चक्खुप्फासस्स अद्धाणं ॥ १७० ॥

त्रिशतषष्टिविरहितलक्षं दशमूलताडिते मूलम् ।
नवगुणिते षष्टिहृते चक्षुःस्पर्शस्य अध्वा ॥ १७० ॥

अर्थ—तीनसौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीपके विष्कम्भका वर्ग करना और उसका दशगुण करके वर्गमूल निकालना, इससे जो राशि उत्पन्न हो उसमें नवका गुणा और साठका भाग देनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र निकलता है ।

भावार्थ—सूर्यका चारक्षेत्र पांचसौ बारह योजन चौड़ा है । उसमेंसे तीनसौ बत्तीस योजन तो लवणसमुद्रमें हैं और शेष एकसौ अस्सी योजन जम्बूद्वीपमें हैं । इस लिये जम्बूद्वीपके दोनों भागके तीन सौ साठ योजन क्षेत्रको छोड़कर बाकी निन्यानवे हजार छह सौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विष्कम्भकी परिधि करणसूत्रके अनुसार[1] तीनलाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन होती है । इस अभ्यन्तर परिधिको एक सूर्य अपने भ्रमणके द्वारा दो दिन अर्थात् साठ मुहूर्तमें समाप्त करता है । और निषधगिरिके एक भागसे दूसरे भाग तककी अभ्यन्तर वीथीको वह अठारह मुहूर्तमें अपने भ्रमण द्वारा समाप्त करता है । इसके बिलकुल बीचमें अयोध्या नगरी पड़ती है । इस अयोध्या नगरीके बीचमें बने हुए अपने महलके ऊपरले भागपरसे भरतादि चक्रवर्ती निषधगिरिके ऊपर अभ्यन्तर वीथीमें उदय होते हुए सूर्यके भीतरकी जिन प्रतिबिम्बका दर्शन करते हैं । और निषधगिरिके उदयस्थानसे अयोध्या पर्यन्त उक्त रीतिके अनुसार सूर्यको भ्रमण करनेमें नव मुहूर्त लगते हैं । क्योंकि कर्क संक्रान्तिको यहाँ १२ मुहूर्तकी रात्रि और १८ मुहूर्त का दिन हुआ करता है, इसलिये साठ मुहूर्तमें इतने क्षेत्र पर जब भ्रमण करै तो नव मुहूर्तमें कितने क्षेत्रपर भ्रमण करै ? इस प्रकार त्रैराशिक करनेसे अर्थात् फल राशि (परिधिका प्रमाण[2]) और इच्छाराशि (नव) का गुणा कर उसमें प्रमाणराशि साठका भाग देनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र सेंतालीस हजार दो सौ त्रेसठसे कुछ अधिक[3] निकलता है । अर्थात ज्यादे से ज्यादे दूर तकके पदार्थको संज्ञी जीव चक्षुके द्वारा जान सकता है ।

इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र आदि बताकर उनका आकार बताते हैं—

चक्खूसोदं घाणं, जिब्भायारं मसूरजवणाली ।
अतिमुत्तखुरप्पसमं, फासं तु अणेयसंठाणं ॥ १७१ ॥

---

१. "विक्कम्भवग्गदहगुणकरणी वट्टस्स परिरहो होदि" अर्थात् विष्कम्भका जितना प्रमाण है उसका वर्गकर दशगुण करना पीछे उसका वर्गमूल निकालना ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतना ही वृत्तक्षेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है ।

२. तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन ।

३. सात योजनके बीस भागोंमेंसे एक भाग ।

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकारं मसूरयवनाल्यः ।
अतिमुक्तक्षुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेकसंस्थानम् ॥ १७१ ॥

अर्थ—मसूरके समान चक्षुका, जवकी नलीके समान श्रोत्रका, तिलके फूलके समान घ्राणका तथा खुरपाके समान जिह्वाका आकार है। और स्पर्शनेन्द्रियके अनेक आकार हैं।[1]

भावार्थ—पूर्वमें भावेन्द्रियोंके स्वरूप विषय क्रम वृद्धि विषयक्षेत्रका वर्णन हो चुका है। किन्तु द्रव्येन्द्रियोंका वर्णन बाकी है। अतएव अब उसीका स्वरूप बतानेकी दृष्टिसे इस गाथामें इन्द्रियोंकी बाह्य निर्वृतिका स्वरूप बताया है। अपने अपने स्थान पर नोकर्मरूप पुद्गलवर्गणाओंका जो आकार बनता है उसीको बाह्य निर्वृति कहते हैं। चक्षु श्रोत्र घ्राण और जिह्वा इन चार इन्द्रियोंका आकार नियत है, जैसा कि इस गाथामें बताया गया है। परन्तु स्पर्शन इन्द्रियका आकार नियत नहीं है। क्योंकि वह सम्पूर्ण शरीरके साथ व्याप्त है और शरीरोंके आकार विभिन्न प्रकारके हुआ करते हैं।[2]

तत्तत् इन्द्रियके स्थानपर अपने अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमरूप कार्मण पुद्गलस्कन्धसे युक्त आत्माके प्रदेशोंका जो आकार बनता है उसको आभ्यन्तर निर्वृति कहते हैं। स्पर्शनेन्द्रियकी यह आभ्यन्तर निर्वृति भी भिन्न भिन्न प्रकारकी हुआ करती है।

गाथामें जो तु शब्द है वह उपलक्षण होनेसे सूचित करता है कि आभ्यन्तर निर्वृति तथा बाह्याभ्यन्तर उपकरणोंका भी स्वरूप यहाँ आगमानुसार समझ लेना चाहिये।

इन्द्रियोंके (द्रव्येन्द्रियोंके) आकारमें जो आत्माके प्रदेश हैं उनका अवगाहन प्रमाण बताते हैं।

अंगुलअसंखभागं, संखेज्जगुणं तदो विसेसहियं ।
तत्तो असंखगुणिदं, अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ॥ १७२ ॥

अंगुलासंख्यभागं संख्यातगुणं ततो विशेषाधिकम् ।
ततोऽसंख्यगुणितमंगुलसंख्यातं तत्तु ॥ १७२ ॥

अर्थ—आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रियका[3] अवगाहन घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है। और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रियका अवगाहन हैं। श्रोत्रेन्द्रियका जितना प्रमाण है उससे पल्यके असंख्यातवें भाग अधिक घ्राणेन्द्रियका अवगाहन है। घ्राणेन्द्रियके अवगाहनसे पल्यके असंख्यातवें भागका गुणा करनेपर रसनेन्द्रियके अवगाहनका प्रमाण निष्पन्न होता है। परन्तु सामान्यकी अपेक्षा गुणाकार और भागहारका अपवर्तन करनेसे उक्त चारों ही इन्द्रियोंका अवगाहन प्रमाण घनांगुलके संख्यातवें भागमात्र है।

१-२—यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् । श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थितिः ॥ ५० ॥ त. सा.

मसूराम्बुपृषत्सूचीकलापध्वजसन्निभाः । धराप्तेजोमरुत्काया नानाकारास्तरुत्रसाः ॥५७॥ त.सा. ।

३—द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं, निर्वृति और उपकरण। निर्वृतिके भी दो भेद हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर। यहांपर आभ्यन्तर निर्वृतिरूप द्रव्येन्द्रियके प्रदेशोंका प्रमाण अवगाहना द्वारा बताया गया है।

स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेशोंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि ।
अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ १७३ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।
अंगुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ १७३ ॥

अर्थ—स्पर्शनेन्द्रियकी जघन्य अवगाहना घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है। और यह अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें होती है। उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यके होती है, इसका प्रमाण संख्यात घनांगुल है।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञानवाले संसारी जीवोंका वर्णन करके अतीन्द्रियज्ञानवाले जीवोंका निरूपण करते हैं—

ण वि इंदियकरणजुदा, अवग्गहादीहि गाहया अत्थे ।[1]
णेव य इंदियसोक्खा, अणिंदियाणंतणाणसुहा ॥ १७४ ॥

नापि इन्द्रियकरणयुता अवग्रहादिभिर्ग्राहका अर्थे।
नैव च इन्द्रियसौख्या अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखाः ॥ १७४ ॥

अर्थ—जीवन्मुक्त तथा परम मुक्त जीव इन्द्रियोंकी क्रियासे युक्त नहीं हैं। तथा वे अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थका ग्रहण नहीं करते। इसी तरह वे इन्द्रियजन्य सुखसे भी युक्त नहीं हैं, क्योंकि उन दोनों ही प्रकारके जीवोंका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अतीन्द्रिय है।

भावार्थ—उन जीवोंका अनन्त ज्ञान सुख अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रिय व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह निरावरण है। जो सावरण हुआ करता है उसको अपनी प्रवृत्तिमें दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा हुआ करती है। जो अपना कार्य करनेमें स्वयं ही समर्थ है उसको दूसरेकी अपेक्षा नहीं हुआ करती और न आवश्यकता ही है। इसीलिये ये दोनों ही प्रकारके जीव—जीवन्मुक्त-सयोगकेवली और अयोगकेवली तथा सिद्ध परमात्मा इन्द्रिय व्यापारसे रहित हैं। वे त्रिकालवर्त्ती तीन लोकके समस्त पदार्थोंको अनन्त ज्ञानके द्वारा युगपत् प्रत्यक्ष ग्रहण करते हैं। अवग्रह ईहा अवाय धारणा स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानोंके द्वारा वे क्रमसे और योग्य विषयोंका ही ग्रहण नहीं किया करते। इसी प्रकार उनका सुख भी इन्द्रियजन्य नहीं है, क्योंकि उसके कारणभूत सभी प्रतिपक्षी कर्मोंका सर्वथा अभाव हो चुका है।

जीवप्रबोधिनी तथा मंदप्रबोधिनी दोनों ही टीकाओंमें इस गाथाका अर्थ सिद्ध पर्यायमें घटित किया है और वह निःसन्देह ठीक है, क्योंकि सिद्धोंमें किसी भी अपेक्षासे इन्द्रियवत्ता नहीं पाई जाती, जब कि जीवन्मुक्त सकल परमात्माओंमें द्रव्यकी अपेक्षासे इन्द्रियोंका अस्तित्व पाया जाता है। फिर भी यहाँ तथा अन्यत्र भी परमागममें जो भावरूप अर्थको मुख्य मानकर इन्द्रियोंका वर्णन

१—षट् खं. संत सुत्त गाथा नं. १४०।

किया गया है उसको दृष्टिमें रखकर इस गाथाके चारों ही वाक्योंका अर्थ तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली तथा अयोगकेवलीमें भी घटित होता है, क्योंकि द्रव्येन्द्रियोंके रहते हुए भी वे उनके करण रूप नहीं हैं, क्योंकि उनका ज्ञान और सुख क्षायिक होनेसे अतीन्द्रिय है। क्षायोपशमिक ज्ञान एवं सुखको ही करण—अवलम्बनरूप सहकारी कारण इन्द्रियों आदिकी अपेक्षा हुआ करती है। अतएव इस गाथाका अर्थ जीवन्मुक्त अरिहन्तोंमें भी घटित होता है, क्योंकि उनका ज्ञान क्षायिक है; अतएव उनके ज्ञानमें इन्द्रियाँ करणरूप नहीं हुआ करतीं। जिस प्रकार अवग्रहादिके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान क्रमसे हुआ करता है इस तरहसे उनका ज्ञान क्रमवर्ती नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि पुण्योदयसे उनको सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोगकी सामग्री प्राप्त है फिर भी वे उनका भोगोपभोग नहीं करते। उनका अनन्त ज्ञान और अनंत सुख सब अनिन्द्रिय ही है। इस प्रकार प्रकरणगत भावरूप इन्द्रियोंकी अपेक्षासे सभी प्रत्यक्ष केवली अनिन्द्रिय ही हैं, फिर भी द्रव्येन्द्रियोंके अस्तित्वकी अपेक्षासे अरिहंतोंको पंचेद्रियोंमें परिगणित किया है। जैसा कि सत्प्ररूपणाके सूत्र नं० ३७ से विदित होता है। परन्तु उस सूत्रका आशय क्या है यह बात आगमके निम्न लिखित वाक्योंसे भले प्रकार जानी जा सकती है—

"इन्द्रियत्वादिति चेन्नार्षार्थानवबोधात्", स्यादेतत्, एवमागमः प्रवृत्तः "पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिनः" इति[1]। अत इन्द्रियत्वात्तत्कार्येणापि ज्ञानेन भवितव्यम् इति। तन्न, किं कारणम्? आर्षार्थानवबोधात्। आर्षे हि सयोग्ययोगिकेवलिनोः पंचेन्द्रियत्वं द्रव्येन्द्रियं प्रत्युक्तम् न भावेन्द्रियं प्रति। यदि हि भावेन्द्रियं प्रत्यभविष्यत् अपि तु तर्हि असंक्षीणसकलावरणत्वात् सर्वज्ञतैवास्य न्यवर्तिष्यत। राजवार्तिक १-३०-९।

तथा—पक्खीणजादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।
जादो अणिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि॥ १९॥
सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अणिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं॥ २१॥ प्रवचनसार

संक्षेपसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

थावरसंखपिपीलिय, भमरमणुस्सादिगा सभेदा जे।
जुगवारमसंखेज्जा, णंताणंता णिगोदभवा॥ १७५॥

स्थावरशंखपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिकाः सभेदा ये।
युगवारमसंख्येया अनन्तानन्ता निगोदभवाः॥ १७५॥

अर्थ—स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शंख आदिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादिक पंचेन्द्रिय जीव अपने अपने अंतर्भेदोंसे[2] युक्त असंख्यातासंख्यात हैं और निगोदिया जीव अनन्तानन्त हैं।

---

१. षट् खं. सत्प्ररूपणा सूत्र नं. ३७।
२—तत्त्वार्थसार जीवतत्त्ववर्णन श्लोक ५३ से ६६ तक।

भावार्थ—त्रस प्रत्येक वनस्पति पृथिवी जल अग्नि वायु इनको छोड़कर बाकी संसारी जीवोंका (साधारण जीवोंका) प्रमाण अनन्तानन्त है और साधारणको छोड़कर बाकी एकेन्द्रिय स्थावर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इनमें प्रत्येकका प्रमाण असंख्यात लोकमात्र असंख्यातासंख्यात है ।

तसहीणो संसारी, एयक्खा ताण संखगा भागा ।
पुण्णाणं परिमाणं, संखेज्जदिमं अपुण्णाणं ॥ १७६ ॥

त्रसहीनाः संसारिण एकाक्षास्तेषां संख्यका भागाः ।
पूर्णानां परिमाणं संख्येयकमपूर्णानाम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—संसारराशिमेंसे त्रसराशिको घटानेपर जितना शेष रहें उतने ही एकेन्द्रिय जीव हैं और एकेन्द्रिय जीवोंकी राशिमें संख्यातका भाग देना उसमें एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और शेष बहुभागप्रमाण पर्याप्तक जीव हैं ।

बादरसुहमा तेसिं, पुण्णापुण्णे त्ति छव्विहाणं पि ।
तक्कायमग्गणाये, भणिज्जमाणक्कमो णेयो ॥ १७७ ॥

बादरसूक्ष्मास्तेषां पूर्णापूर्ण इति षड्विधानामपि ।
तत्कायमार्गणायां भणिष्यमाणक्रमो ज्ञेयः ॥ १७७ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके सामान्यसे दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म । इसमें भी प्रत्येकके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो दो भेद हैं । इस प्रकार एकेन्द्रियोंकी छह राशियोंकी संख्याका क्रम कायमार्गणामें कहेंगे वहाँसे ही समझ लेना ।

भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंकी छह राशियोंका प्रमाण कायमार्गणामें विशेषरूपसे कहेंगे । संक्षेपमें छहों राशियोंका प्रमाण इस प्रकार है—एकेन्द्रिय जीवराशिके प्रमाणमें असंख्यात लोकका भाग देनेपर एक भागप्रमाण बादर एकेन्द्रिय और बहुभाग सूक्ष्म एकेन्द्रिय हैं । बादर एकेन्द्रियोंमें असंख्यात लोकका भाग देनेपर एक भाग पर्याप्त बहुभाग अपर्याप्त हैं । सूक्ष्म जीवराशिमें संख्यातका भाग देनेपर बहुभाग पर्याप्त और एक भागप्रमाण अपर्याप्त जीवोंका प्रमाण हैं ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्याको सामान्यसे बताकर अब त्रसजीवोंकी संख्याको तीन गाथाओंमें बताते हैं—

बितिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।
हीणकमं पडिभागो, आवलियासंखभागो दु ॥ १७८ ॥

द्वित्रिचतुःपंचमानमसंख्येनावहितप्रतरांगुलेन हितप्रतरम् ।
हीनक्रमं प्रतिभाग आवलिकासंख्यभागस्तु ॥ १७८ ॥

अर्थ—प्रतरांगुलके असंख्यातवें भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सामान्यसे त्रसराशिका प्रमाण है । परन्तु पूर्व पूर्व द्वीन्द्रियादिककी अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिकका प्रमाण क्रमसे हीन हीन है और इसका प्रतिभागहार आवलिका असंख्यातवां भाग है ।

इस उक्त त्रसराशिके प्रमाणको स्पष्टरूपसे विभक्त करते हैं—

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेक्कभागम्हि ।
उत्तकमो तत्थ वि बहु, भागो बहुगस्स देओ दु ॥ १७९ ॥

बहुभागे समभागश्चतुर्णामेतेषामेकभागे ।
उक्तक्रमस्तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥ १७९ ॥

अर्थ—त्रसराशिमें आवलिके असंख्यातवें भागका भाग देकर लब्ध बहुभागके समान चार भाग करना और एक एक भागको द्वीन्द्रियादि चारोंहीमें विभक्त कर, शेष एक भागमें फिरसे आवलिके असंख्यातवें भागका भाग देना चाहिये, और लब्ध बहुभागको बहुत संख्यावालेको देना चाहिये। इस प्रकार अंतपर्यंत करना चाहिये।

भावार्थ—कल्पना कीजिये कि त्रसराशिका प्रमाण दोसौ छप्पन है और प्रतिभागहाररूप आवलिके असंख्यातवें भागका प्रमाण ४ चार है। इसलिए दोसौ छप्पनमें चारका भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं। इस ६४ रूप एक भागको अलग रख देने पर बहुभागका प्रमाण एकसौ बानवे बाकी रहता है, इस बहुभागके अड़तालीस अड़तालीसप्रमाण समान चार भाग करके द्वीन्द्रियादि चारोंको विभक्त करना चाहिये। शेष चौसठमें फिर चारका भाग देना चाहिए। इससे लब्ध सोलहरूप एक भागको अलग रखकर बाकी अड़तालीसप्रमाण बहुभागको बहुत संख्यावाले द्वीन्द्रियको देना चाहिए। और शेष सोलहरूप एकभागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध बारहरूप बहुभागको क्रमप्राप्त त्रीन्द्रियको देना चाहिये और शेष चारप्रमाण एक भागमें फिर चारका भागदेनेसे लब्ध तीनरूप बहुभागको चतुरिन्द्रियको देना चाहिये। और शेष एक पंचेन्द्रियको देना चाहिये। इस प्रकार त्रसोंकी २५६ राशिमेंसे द्वीन्द्रियोंका प्रमाण ९६, त्रीन्द्रियोंका प्रमाण ६०, चतुरिन्द्रियोंका प्रमाण ५१ और पंचेन्द्रियोंका प्रमाण ४९ हुआ। जिसप्रकार अंकसंदृष्टिमें यह प्रमाण बताया है उसीप्रकार अर्थसंदृष्टिमें भी समझना; परन्तु अंकसंदृष्टि ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझ लेना चाहिये।

त्रसोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका प्रमाण बताते हैं—

तिबिपचपुण्णपमाणं, पदरंगुलसंखभागहिदपदरं ।
हीणकमं पुण्णूणा, बितिचपजीवा अपज्जत्ता ॥ १८० ॥

त्रिद्विपञ्चचतुः पूर्णप्रमाणं प्रतराङ्गुलसंख्यभागहितप्रतरम् ।
हीनक्रमं पूर्णोना द्वित्रिचतुःपंचजीवा अपर्याप्ताः ॥ १८० ॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके संख्यातवें भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही त्रीन्द्रिय द्वीन्द्रिय पंचेन्द्रिय चतुरिन्द्रियमेंसे प्रत्येकके पर्याप्तकका प्रमाण है। परन्तु यह प्रमाण "बहुभागे समभागो" इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार उत्तरोत्तर हीन हीन है। अपनी अपनी समस्त राशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंका प्रमाण निकलता है।

इति इन्द्रियमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥

अथ कायमार्गणा—३

अब कायमार्गणाके वर्णनका अवसर क्रमसे प्राप्त है। अतः उसके आदिमें कायका लक्षण और उसके भेदोंको बताते हैं—

जाईअविणाभावी, तसथावरउदयजो हवे काओ।[1]
सो जिणमदम्हि भणिओ, पुढवीकायादिछब्भेयो ॥ १८१ ॥

जात्यविनाभावित्रसस्थावरोदयजो भवेत् कायः।
स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः ॥ १८१ ॥

अर्थ—जाति नामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी पर्यायको जिनमतमें काय कहते हैं। इसके छह भेद हैं। पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रस।

भावार्थ—यद्यपि काय शब्दका अर्थ शरीर होता है और निरुक्तिके अनुसार यह अर्थ भी संगत है। फिर भी यहाँ यह निरुक्तार्थ गौण एवं उपचरित है, मुख्य नहीं है। इसीलिये आचार्यने कायका लक्षण बताते हुए यहां पर इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि मार्गणाके प्रकरणमें कायका अर्थ जातिनामकर्मके उदयसे अविनाभावी त्रस एवं स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्याय विशेष है। शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाला कार्य यहाँ पर काय शब्दसे अभीष्ट नहीं है[2]। इस तरहके शरीरमें स्थित जीवकी पर्याय ही वास्तवमें काय शब्दसे यहाँ अभिप्रेत है। यदि निरुक्तार्थको शरीररूप मुख्य माना जायगा तो आगमके अनेक विषय विसंगत हो जांयगे। वायुकायिक आदिको स्थावर नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि वे स्थानशील नहीं है—सदा ही चलते

१—चीयत इति कायः। नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः, पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेषणात् औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलविपाकिभिश्चीयत इतिचेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां सहकारिणामभावे ततश्चयनानुपपत्तेः। कार्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चितनोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वतस्तद्व्यपदेशस्य न्याय्यत्वात्। अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः। अत्रापि स दोषो न निवार्यत इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात्। आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वात् न तस्य कायव्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्वतस्तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः। उक्तं च—

अप्पप्पवुत्तिसंचिदपोग्गलपिंडं वियाण कायो त्ति।
सो जिणमदम्हि भणिओ पुढविक्कायादयो सो दो ॥ ८६ ॥
जहभारवहो पुरिसो, वहइ भरं गेण्हिऊण कायोलिं।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकायोलिं ॥ ८७ ॥ सत्प्ररूपणा। गो. जी. २०२

२—कायते-त्रस इति स्थावर इति च व्यवहर्तृजनैः शब्द्यते—कथ्यते इति कायः, चीयते-पुष्टिं नीयते पुद्गलस्कन्धैरिति वा कायः—औदारिकादिशरीरं, कायस्य आत्मपर्यायोऽपि काय इत्युपचर्यते। जाति-त्रस-स्थावरनामकर्मणां जीवविपाकित्वेन तेषां कार्यस्य जीवपर्यायस्य काय इति व्यवहारसिद्धेः। पुद्गलविपाकिशरीरनामकर्मोदयकायत्वेन अत्र शरीरस्यैव कायशब्देन ग्रहणं नास्ति ॥ जी. प्र. ॥

रहते हैं। तथा सब स्थावरोंको भी त्रस कहा जा सकेगा, क्योंकि वे भी उद्वेगको प्राप्त हैं[1]। इत्यादि।

सामान्यतया जाति नामकर्मके एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतक पांच भेद होते हैं। फिर भी इनके त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयके सम्बन्धसे दो भेद किये गये हैं—एकेन्द्रिय और द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक। जिन जीवोंके एकेन्द्रिय जातिनामकर्मका उदय पाया जाता है उनके स्थावर नामकर्मका भी उदय हुआ करता है और जिनके द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतककी किसी भी जातिका उदय होता है उनके त्रस नामकर्मका उदय हुआ करता है, क्योंकि त्रस स्थावर कर्मोंका उदय जातिका अविनाभावी—उससे अविरुद्ध बताया गया है। जिस तरह गतिसे अविरुद्ध जातिकर्मका उदय हुआ करता है उसी प्रकार जातिसे अविरुद्ध-अविनाभावी स्थावर और त्रस नामकर्मोंका उदय हुआ करता है। शरीरकर्मके उदयसे आगत नोकर्मवर्गणाओंकी रचना इन्हीं जात्यविनाभावी त्रस या स्थावर नामकर्मके उदयके अनुसार हुआ करती है। ऐसा नहीं है कि शरीरके अनुसार इन जीवविपाकी जात्यादि कर्मोंका उदय होता हो। जैसा कि गाथाके पूर्वार्धसे विदित होता है तथा देखा जाता है कि विग्रह गतिमें[2] शरीरके उदय और कार्यके पूर्व त्रस-स्थावर कर्मोदयके अनुसार जीवकी वह पर्याय और संज्ञाभिधान माना गया है। अतएव यहाँ पर कायसे शरीरका ग्रहण करके कोई भ्रममें न पड़े, इसीलिये जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे जन्य जीवपर्यायरूप कायका लक्षण ग्रंथकारोंने स्पष्टतया बता दिया है।

पांच स्थावरोंमेंसे वनस्पतिको छोड़कर बाकी पृथिवी आदि चार स्थावरोंकी उत्पत्तिका कारण वताते हैं—

पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ कम्मोदयेण तत्थेव।
णियवण्णचउक्कजुदो, ताणं देहो हवे णियमा॥ १८२॥

पृथिव्यप्तेजोवायुकर्मोदयेन तत्रैव।
निजवर्णचतुष्कयुतस्तेषां देहो भवेन्नियमात्॥ १८२॥

अर्थ—पृथिवी, अप्-जल, तेज-अग्नि, वायु इनका शरीर नियमसे अपने अपने पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे, अपने अपने योग्य रूप रस गन्ध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदिकमें बनता है।

भावार्थ—पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिक आदि जीवोंके अपने अपने योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदि पुद्गलस्कन्ध शरीररूप परिणत हो जाते[3] हैं। अर्थात् शरीर

१—त्रसनामकर्मोदयवशीकृतास्त्रसाः। स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनः स्थावराः॥ त्रस्यन्तीति त्रसाः स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, आगमविरोधात्। आगमे हि कायानुवादे त्रसा द्वीन्द्रियादारम्य आ आयोगकेवलिन इति, तस्मान्न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्वं कर्मोदयापेक्षमेव॥ स. सि. २-१२॥

२—विग्रहगतौ वर्तमानः पृथिवीत्वविशिष्ट स्थावरकायनामकर्मोदयकृतपर्यायः पृथिवीजीवः॥ म. प्र.॥

३—जी. प्र. तथा म. प्र. दोनों टीकाओंमें पृथिवी आदि स्थावरोंके तीन भेद वताये गये हैं—पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव। किन्तु "सर्वार्थसिद्धि" आदिमें एक एक सामान्य पृथिवी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति भेद भी वताकर चार चार भेद कहे हैं।

योग्य प्राप्त नोकर्मवर्गणाओंका परिणाम और रचना जात्यविनाभावी स्थावर या त्रस नामकर्म एवं उनके अवान्तर भेदरूप जीवविपाकी कर्मके उदयके अनुरूप हुआ करती है।

शरीरके भेद और उनके लक्षण कारण सहित बताते हैं—

बादरसुहुमुदयेण य, बादरसुहुमा हवंति तद्देहा।
घादसरीरं थूलं, अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ १८३ ॥

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवन्ति तद्देहाः।
घातशरीरं स्थूलमघातदेहं भवेत् सूक्ष्मम् ॥ १८३ ॥

अर्थ—बादर नामकर्मके उदयसे बादर और सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म शरीर हुआ करता है। जो शरीर दूसरेको रोकनेवाला हो अथवा जो स्वयं दूसरेसे रुके उसको बादर-स्थूल कहते हैं और जो दूसरेको न तो रोके और न स्वयं दूसरेसे रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

भावार्थ—नामकर्मके भेदोंमें जाति, स्थावर, त्रस ये तीन भेद जिस तरह जीवविपाकी कर्मोंके भेद हैं, जो कि कायकी उत्पत्ति या व्यपदेशमें मुख्य अन्तरंग कारण हैं। उसी प्रकार शरीरके दो प्रकार बादर और सूक्ष्म होनेमें भी नामकर्मके दो जीवविपाकी ही कर्म—बादर और सूक्ष्म कारण हैं। जो जीव बादर नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उनके शरीरनामकर्मके उदयसे संचित नोकर्म-वर्गणाओंकी बादर शरीररूप रचना हुआ करती है और जो जीव सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उनके शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त शरीर योग्य नोकर्मवर्गणाओंसे सूक्ष्म शरीरका परिणमन हुआ करता है। अतएव आशय इस प्रकार समझना चाहिये कि जिनका शरीर बादर है वे जीव बादर हैं और जिनका शरीर सूक्ष्म है वे जीव सूक्ष्म हैं, क्योंकि कार्य कारणका ज्ञापक हुआ करता है।

शरीरका प्रमाण बताते हैं—

तद्देहमंगुलस्स, असंखभागस्स विंदमाणं तु।
आधारे थूला ओ[1], सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ॥ १८४ ॥

तद्देहमंगुलस्यासंख्यभागस्य वृन्दमानं तु।
आधारे स्थूलाः ओ सर्वत्र निरन्तराः सूक्ष्माः ॥ १८४ ॥

अर्थ—बादर और सूक्ष्म दोनों ही तरहके शरीरोंका प्रमाण घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इनमेंसे स्थूल शरीर आधारकी अपेक्षा रखता है। किन्तु सूक्ष्म शरीर विना अन्तर-व्यवधानके ही सब जगह अनन्तानन्त भरे हुए हैं। उनको आधारकी अपेक्षा नहीं रहा करती।

भावार्थ—बादर सूक्ष्म जीवोंकी अवगाहनाका प्रमाण जीवसमासमें निरूपित ६४ अव-गाहना स्थानोंके वर्णनसे जाना जा सकता है। उससे यह बात भी मालूम हो जायगी कि जिस अवगाहनामें पुद्गलके अणु अधिक हों वह बादर और जिसमें कम हों वह सूक्ष्म, ऐसा नहीं है। क्योंकि यद्यपि उक्त अवगाहना स्थानोंमें सबसे जघन्य अवगाहना सूक्ष्म (सूक्ष्मनिगोदियालब्ध्य-पर्याप्तक) जीवकी और उत्कृष्ट अवगाहना बादर (महामत्स्य) जीवकी है। फिर भी मध्यके भेदोंमें अनेक स्थान ऐसे हैं जिनकी कि सूक्ष्म होते हुए भी अवगाहनाका प्रमाण बादरस्थानकी अपेक्षा

१. इस गाथामें यह "ओ" शब्द केवल शिष्योंके सम्बोधन में आया है।

अधिक है। अतएव समझना चाहिये कि बादर-सूक्ष्म भेद अवगाहनाके अणुओंकी अधिकता या अल्पतापर निर्भर नहीं हैं। किन्तु उनके परिणमनकी विशेषता पर वे निर्भर हैं। अतएव जो शरीर घातरूप है जो दूसरेसे स्वयं रुकता या दूसरेको रोकता है वह बादर है और जो न किसीसे रुकता या न किसीको रोकता है वह सूक्ष्म शरीर है। बादर जीवोंका शरीर बादर और सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म हुआ करता है। आगे भी[1] प्रत्येकशरीर-साधारणशरीर आदि शब्दोंका अर्थ इसी प्रकार समझना चाहिये।

वनस्पतिकायका स्वरूप और उसके भेद बताते हैं—

उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं, पदिट्ठिदिदरे त्ति पत्तेयम् ॥ १८५ ॥

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवन्ति।
प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेतरे इति प्रत्येकम् ॥ १८५ ॥

अर्थ—स्थावर नामकर्मका अवान्तर विशेष भेद जो वनस्पति नामकर्म है उसके उदयसे जीव वनस्पति होते हैं। उनके दो भेद हैं—एक प्रत्येक दूसरा साधारण। प्रत्येकके भी दो भेद हैं; प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित।

भावार्थ—जो एक ही जीव प्रत्येक वनस्पति नामकर्मके उदयसे युक्त होकर पूरे एक शरीरका मालिक हो उस जीवको प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। जिस एक ही शरीरमें अनेक जीव समानरूपसे रहें उस शरीरको साधारण शरीर कहते हैं। और इस तरहके साधारण-शरीरके धारण करनेवाले उन जीवोंको साधारण वनस्पति जीव कहते हैं, क्योंकि इनके साधारण-वनस्पति नामकर्मका उदय पाया जाता है। प्रत्येक वनस्पतिके भी दो भेद हैं एक प्रतिष्ठित दूसरे अप्रतिष्ठित। प्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस एक ही जीवके उस विवक्षित शरीरमें मुख्यरूपसे-व्यापक होकर रहनेपर भी उसके आश्रयसे दूसरे अनेक निगोदिया जीव भी रहें। किन्तु जहाँपर यह बात नहीं है,—एक जीवके मुख्यतया रहते हुए भी उसके आश्रयसे दूसरे निगोदिया जीव नहीं रहते उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

वनस्पति जीवोंके अवान्तर भेदोंको प्रकारान्तरसे बताते हैं—

मूलग्गपोरबीजा, कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य ॥ १८६ ॥

मूलाग्रपर्वबीजा कन्दास्तथा स्कन्धबीजबीजरुहाः।
सम्मूर्छिमाश्च भणिताः प्रत्येकानन्तकायाश्च ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंका बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कन्ध है। अथवा जो बीजसे उत्पन्न होती हैं यद्वा जो सम्मूर्च्छन हैं वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकारकी होती हैं।

---

१. एकं प्रति नियतं प्रत्येकं, एकजीवस्य शरीरमित्यर्थः। प्रत्येकं शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः (जीवाः) समानमेव सामान्यं। सामान्यं शरीरं येषां ते सामान्यशरीराः। जीः प्र. गा. १८५ ॥

भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकारकी होती हैं। कोई तो मूलसे उत्पन्न होती है, जैसे अदरख हल्दी आदि। कोई अग्रसे उत्पन्न होती है, जैसे गुलाव, आर्यका, उदीची आदि। कोई पर्व-पंगोलीसे उत्पन्न होती है, जैसे ईख, वेंत आदि। कोई कन्दसे उत्पन्न होती है, जैसे पिंडालू, सूरण आदि। कोई स्कन्धसे उत्पन्न होती है, जैसे सल्लकी, कटकी, पलाश, ढाक आदि। कोई अपने अपने बीजसे उत्पन्न होती है, जैसे गेहूँ, चना, धान आदि। कोई सम्मूर्छन-मिट्टी जल आदिके सम्बन्धसे ही उत्पन्न हो जाती है, जैसे घास आदि। ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक इस तरह दोनों प्रकारकी हुआ करती हैं।

यह वात भी ध्यानमें रहनी चाहिये कि यहाँपर बताये गये वनस्पतिके भेदोंमें एक भेद सम्मूर्च्छन भी बताया है वह वनस्पतिके अनेक कारणजन्य प्रकारोंमेंसे एक प्रकार है। जिसका आशय इतना ही है कि उसकी उत्पत्तिका कोई बीज निश्चित नहीं है। जैसा कि अन्य वनस्पतियोंके मूल आदि बीज निश्चित हैं। जन्मके तीन (सम्मूर्छन गर्भ उपपाद) प्रकारोंमेंसे एक सम्मूर्च्छन भेद है। वह तो एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर संसारी जीवोंमें चतुरिन्द्रिय तक सभी जीवोंका तथा किन्हीं-किन्हीं पंचेन्द्रिय जीवोंका भी हुआ करता है। दोनों ही सम्मूर्च्छनोंमें सामान्य विशेषका अन्तर है। सम्मूर्च्छन जन्म सामान्य है और यह भेद विशेष है।

सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकी पहचान—चिह्न बताते हैं।

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं[1] ॥ १८७ ॥

गूढशिरासन्धिपर्वं समभङ्गमहीरुकं च छिन्नरुहम्।
साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम् ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिनकी शिरा—वहिः स्नायु, सन्धि-रेखावन्ध, और पर्व—गांठ अप्रकट हों, और जिसका भंग करनेपर समान भंग हो, और दोनों भंगोंमें परस्पर हीरुक–अन्तर्गत सूत्र–तन्तु न लगा रहे, तथा छेदन करने पर भी जिसकी पुनः वृद्धि हो जाय, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। और जो विपरीत हैं—इन चिन्होंसे रहित हैं वे सब अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही गयी हैं।

भावार्थ—यद्यपि वनस्पतिके जो दो भेद गिनाये हैं उनमें प्रत्येकसे साधारण भेद भिन्न ही है। परन्तु यहाँपर साधारण जीवोंसे आश्रित होनेके कारण उपचारसे ताल[2] नालिकेर तिंतिणीक आदि प्रत्येक वनस्पतिके भेदोंको भी साधारण शब्दसे कह दिया है।

मूले कंदे छल्ली, पवाल सालदलकुसुम फलबीजे।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८८ ॥

मूले कन्दे त्वक्प्रवालशालादलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सति नान्ता असमे सति भवन्ति प्रत्येकाः ॥ १८८ ॥

---

१. मं. प्र टीकाकारने इन तीन गाथाओंको माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकी वताया है। उन्होंने इस गाथाको १९० नं० पर और उसको यहाँ नं. १८७ पर रक्खा है। जी. प्र. में ऐसा नहीं है।

२. सं. टीकाकारने तालका और पं. टोडरमलजीसा. ने उसकी जगह आम्रका उदाहरण दिया है।

अर्थ—जिन वनस्पतियोंके मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल-नवीन कोंपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा-टहनी, पत्र, फूल, फल, तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भंग हो, विना ही हीरुकके भंग हो जाय, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं। और जिनका भंग समान न हो उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंदस्स वावि बहुलतरा।
छल्ली साणंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी॥ १८९॥

कन्दस्य वा मूलस्य वा शाखास्कन्धस्य वापि बहुलतरी।
त्वक् सा अनन्तजीवा प्रत्येकजीवा तु तनुकतरी॥ १८९॥

अर्थ—जिस वनस्पतिके कन्द मूल क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव-सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं।

बीजे जोणीभूदे, जीवो चंकमदि सो व अण्णा वा।
जे वि य मूलादीया, ते पत्तेया पढमदाए॥ १९०॥

बीजे योनीभूते जीवः चंक्रामति स वा अन्यो वा।
येऽपि च मूलादिकास्ते प्रत्येकाः प्रथमतायाम्॥ १९०॥

अर्थ—जिस योनीभूत बीजमें वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूल आदिक वनस्पतियां प्रथम अवस्थामें अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

भावार्थ—ग्रन्थकर्ता आचार्य ऊपर गाथा नं. १८६ में प्रत्येक वनस्पतिके जो भेद बता चुके हैं उन्हींके विषयमें यहाँपर दो विशेष बातें बता रहे हैं। एक तो यह कि जब वे मूल आदिक बीज पर्यन्त सभी वनस्पतियाँ बीजरूपमें होती हैं, उनके पुद्गल स्कन्ध इस योग्य रहते हैं कि उनमें रहने-वाले जीवके निकल जानेपर भी बाह्य कारणोंके मिलते ही पुनः उनमें जीव आकर उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् जबतक उनमेंसे अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है तबतक उनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जाता है जो कि पहले उनमें था। या कोई दूसरा जीव भी कहीं अन्यत्रसे मरण करके आकर उत्पन्न हो जा सकता है।

दूसरी बात यह कि वे मूल कन्द आदि सभी वनस्पतियां जिनको पहले सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है वे अपनी उत्पत्तिके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मूहूर्त पर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

इस प्रकार प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारकी वनस्पतियोंमें से प्रत्येकका वर्णन करके अब क्रमसे साधारण वनस्पतिका वर्णन करते हैं।

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा, बादर सुहुमा त्ति विण्णेया॥ १९१॥

साधारणोदयेन निगोदशरीरा भवन्ति सामान्याः ।
ते पुनर्द्विविधा जीवा बादर-सूक्ष्मा इति विज्ञेयाः ॥ १९१ ॥

अर्थ—जिन जीवोंका शरीर साधारण नामकर्मके उदयके कारण निगोदरूप होता है उन्हींको सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं—एक बादर दूसरा सूक्ष्म।

भावार्थ—जिन जीवोंके साधारण नामकर्मका उदय होता है उनका शरीर इस प्रकार होता है कि जो अनन्तानन्त जीवोंको समानरूपसे आश्रय दे सके। इस शरीरमें एक जीव मुख्य नहीं रहता अनन्तानन्त जीव रहते हैं और वे भी सब समानरूपसे रहते हैं। यही कारण है कि इन जीवों का नाम सामान्य या साधारण है। इनके दो भेद हैं—एक बादर दूसरा सूक्ष्म।

इनको साधारण क्यों कहते हैं यह बतानेके लिये इनका स्वरूप या लक्षण बताते हैं—

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं भणियं[1] ॥ १९२ ॥

साधारणमाहारः साधारणमानपानग्रहणं च।
साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम् ॥ १९२ ॥

अर्थ—इन साधारण जीवोंका साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है और साधारण-समान अर्थात् एक साथ ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। इस तरहसे साधारण जीवोंका लक्षण परमागममें साधारण ही बताया है।

भावार्थ—साथ ही उत्पन्न होनेवाले जिन अनन्तानन्त साधारण जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश तथा समान कालमें होते हों उनको साधारण जीव कहते हैं।

जत्थेक्क[2] मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १९३ ॥

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेदनन्तानाम्।
प्रक्रामति यत्र एकः प्रक्रमणं तत्रानन्तानाम् ॥ १९३ ॥

अर्थ—साधारण जीवोंमें जहाँपर एक जीव मरण करता है वहाँपर अनन्त जीवोंका मरण होता है और जहाँपर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है।

भावार्थ—साधारण जीवोंमें उत्पत्ति और मरणकी अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समयमें उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंकी तरह द्वितीयादि समयोंमें भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंका जन्म मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीरमें या सूक्ष्म निगोद शरीरमें साथ ही उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही होते हैं किन्तु मिश्ररूप नहीं होते, क्योंकि उनके समान कर्मोदयका नियम है।

---

१. षट् खं. गाथा नं. १४५। षट् खं. ३ गा. नं. ७४।

२. जत्थेक्कु. वक्कमदि. इति षट् खं. १ गाथा नं. १४६।

बादर निगोदिया जीवोंके शरीरके आधारके स्वरूप प्रतिपादन करते हुए दो गाथाओं द्वारा बताते हैं—

खंधा असंखलोगा, अंडरआवासपुलविदेहा वि ।
हेट्ठिल्लजोणिगाओ, असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ १९४ ॥

स्कन्धा असंख्यलोका अंडरावासपुलविदेहा अपि ।
अधस्तनयोनिका असंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ १९४ ॥

अर्थ—स्कन्धोंका[1] प्रमाण असंख्यात लोकप्रमाण है । और अंडर आवास पुलवि तथा देह ये क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात लोक असंख्यात लोक गुणित हैं, क्योंकि वे सभी अधस्तनयोनिक हैं—इनमें पूर्व पूर्व आधार और उत्तरोत्तर आधेय हैं ।

भावार्थ—अपने योग्य असंख्यातका लोकके समस्त प्रदेशोंसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उतना समस्त स्कन्धोंका प्रमाण है । और एक एक स्कन्धमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं, एक एक अंडरमें असंख्यात लोकप्रमाण आवास हैं, एक एक आवासमें असंख्यात लोकप्रमाण पुलवि हैं । एक एक पुलविमें असंख्यात लोकप्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर है । इसलिये जब एक स्कन्धमें असंख्यात लोकप्रमाण अंडर हैं तब समस्त स्कन्धोंमें कितने अंडर होंगे ? इस प्रकार इनका त्रैराशिक करनेसे अंडरोंका प्रमाण निकलता है । इसी तरह आगे भी त्रैराशिक करनेसे आवास पुलवि तथा देह इनका भी उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यात लोक असंख्यात लोक गुणा प्रमाण निकलता है ।

इस बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करके बताते हैं—

जम्बूदीवं भरहो, कोसलसागेदतग्घराइं वा ।
खंधंडरआवासा, पुलविशरीराणि दिट्ठंता ॥ १९५ ॥

जम्बूद्वीपो भरतः कोशलसाकेततद्ग्रहाणि वा ।
स्कन्धाण्डरावासाः पुलविशरीराणि दृष्टान्ताः ॥ १९५ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कोशलदेश साकेता–अयोध्यानगरी और साकेता नगरीके घर ये क्रमसे स्कन्ध अंडर आवास पुलवि और देहके दृष्टान्त हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक एक द्वीपमें भरतादिक अनेक क्षेत्र, एक एक भरतादि क्षेत्रमें कोशल आदि अनेक देश, और एक एक कोशल आदि देश में अयोध्या आदि अनेक नगरी, और उस एक एक नगरीमें अनेक घर होते हैं । उसी प्रकार एक एक स्कन्धमें असंख्यात लोक असंख्यात लोकप्रमाण अंडर, एक एक अंडरमें असंख्यात लोक असंख्यात लोकप्रमाण आवास, एक एक आवासमें असंख्यात लोक असंख्यात लोकप्रमाण पुलवि, और एक एक पुलविमें असंख्यात लोक असंख्यात लोकप्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर होते हैं ।

---

१. स्कन्ध अंडर आवास आदि प्रत्येक जीवोंके शरीरविशेष हैं ।

उक्त एक एक निगोदशरीरमें द्रव्यकी अपेक्षासे जीवोंका प्रमाण कितना है सो बताते हैं—

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण विदीदकालेण[1] ॥ १९६ ॥

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः ।
सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ॥ १९६ ॥

अर्थ—समस्त सिद्धराशिका और सम्पूर्ण अतीत कालके समयोंका जितना प्रमाण है द्रव्यकी अपेक्षासे उनसे अनन्तगुणे जीव एक निगोदशरीरमें रहते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर कालके आश्रयसे एक शरीरमें पाये जानेवाले जीवोंकी संख्या बताई गई है । क्षेत्र तथा भावकी अपेक्षासे उनकी संख्या आगमके अनुसार जानी जा सकती है ।

नित्यनिगोदका स्वरूप या लक्षण बताते हैं—

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।
भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति[2] ॥ १९७ ॥

सन्ति अनन्ता जीवा यैर्न प्राप्तः त्रसानां परिणामः ।
भावकलङ्कसुप्रचुरा निगोदवासं न मुञ्चन्ति ॥ १९७ ॥

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसोंकी पर्याय अभी तक कभी भी नहीं पाई है । और जो निगोद अवस्थामें होनेवाले दुर्लेश्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहनेके कारण निगोदस्थानको कभी नहीं छोड़ते ।

भावार्थ—निगोदके दो[3] भेद हैं । एक नित्य निगोद दूसरा चतुर्गति निगोद । जिसने कभी त्रस पर्यायको प्राप्त कर लिया हो उसको चतुर्गति निगोद कहते हैं । और जिसने अभीतक कभी भी त्रस पर्यायको न पाया हो, अथवा जो भविष्यमें भी कभी त्रस पर्यायको नहीं पावेगा उसको नित्यनिगोद कहते हैं, क्योंकि नित्य शब्दके दोनों ही अर्थ होते हैं एक तो अनादि[4] दूसरा अनादि अनन्त । इन दोनों ही प्रकारके जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है ।

गाथामें आया हुआ 'प्रचुर' शब्द प्रायः अथवा आभीक्ष्ण्य अर्थको सूचित[5] करता है । अतएव छह महीना आठ समयमें छहसौ आठ जीवोंके उसमेंसे निकलकर मोक्षको चले जाने पर भी कोई बाधा नहीं आती ।

इस तरह स्थावर कायके पाँचों भेदोंका वर्णन समाप्त हो जाने पर अब क्रमानुसार त्रसकायका वर्णन अवसर प्राप्त है उसमें सबसे प्रथम दो गाथाओंमें त्रस जीवों का स्वरूप भेद और उनका क्षेत्र आदि बताते हैं—

---

१. षट्खं. १ गा. १४७, २१० । तथा खं. ४ गा, ४३ ।
२. षटखं १ गा. १४८, खं. ४ गा. ४२ । किन्तु तत्र "भावकलंकइपउरा" इति पाठ; ।
३. देखो गाथा नं० ७३ "णिच्चचदुग्गदिणिगोदथूलिदरा" इति ।
४. चतुर्गति निगोदमें कितने ही जीव सादि सान्त निगोदभवके धारण करनेवाले भी हुआ करते हैं ।
५. जी. प्र. तथा मं. प्र. टीका ।

विहि तिहि चहुहिं पंचहिं, सहिया जे इंदिएहिं लोयम्हि ।
ते तसकाया जीवा, णेया वीरोवदेसेण ॥ १९८ ॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पंचभिः सहिता ये इन्द्रियैर्लोके ।
ते त्रसकाया जीवा ज्ञेया वीरोपदेशेन ॥ १९८ ॥

अर्थ—जो जीव दो तीन चार पाँच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उनको वीर भगवानके उपदेशानुसार त्रस काय समझना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्वोक्त स्पर्शनादिक पांच इन्द्रियोंमेंसे आदिकी दो, तीन, चार, या पाँच इन्द्रियोंसे जो युक्त हैं उनको त्रस कहते हैं । अत एव इन्द्रियोंकी अपेक्षासे त्रसोंके चार भेद हो जाते हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

उववादमारणंतिय, परिणदतसमुज्झिऊण सेसतसा ।
तसणालिबाहिरम्हि य, णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ १९९ ॥

उपपादमारणान्तिकपरिणतत्रसमुज्झित्वा शेषत्रसाः ।
त्रसनालीबाह्ये च न सन्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ १९९ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मवाले और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रस जीवोंको छोड़कर बाकीके त्रस जीव त्रसनालीके वाहर नहीं रहते यह जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

भावार्थ—किसी भी विवक्षित भवके प्रथम समयकी पर्यायको उपपाद कहते हैं। अपनी आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जो समुद्घात होता है उसको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। लोकके विलकुल मध्यमें एक एक राजू चौड़ी और मोटी तथा चौदह राजू ऊंची नाली है अर्थात् इस तरह के लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई वाला जो लोकका मध्यवर्ती प्रदेश है उसको त्रसवाली कहते हैं, क्योंकि त्रस जीव इसके भीतर ही रहते हैं—वाहर नहीं रहते । किन्तु उपपाद जन्मवाले और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रस, तथा इस गाथामें च शब्दको ग्रहण किया है इसलिये केवलसमुद्घातवाले भी त्रस जीव त्रसनालीके वाहर कदाचित् रहते हैं । वह इस प्रकारसे कि लोकके अन्तिम वातवलयमें स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगति द्वारा त्रसनालिमें त्रसपर्यायसे उत्पन्न होनेवाला है, वह जीव जिस समयमें मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है उस समयमें त्रसपर्यायको धारण करने पर भी त्रसनालीके वाहर है । इसलिये उपपादकी अपेक्षा त्रस जीव त्रसनालीके वाहर रहता है । इस ही प्रकार त्रसनालीमें स्थित किसी त्रसने मारणान्तिक समुद्घातके द्वारा त्रसनालीके वाहिरके प्रदेशोंका स्पर्श किया, क्योंकि उसको मरण करके वहीं उत्पन्न होना है, तो उस समयमें भी त्रस जीवका अस्तित्व त्रसनालीके वाहिर पाया जाता है। इस ही तरह जव केवली केवलसमुद्घातके द्वारा त्रसनालीके वाह्य प्रदेशोंका स्पर्श करते हैं उस समयमें भी त्रसनालीके वाहर त्रस जीवका सद्भाव पाया जाता है। परन्तु इन तीन अवस्थाओंको छोड़कर अन्य किसी भी अवस्थामें त्रस जीव त्रसनालीके वाहर नहीं पाये जाते या नहीं रहा करते ।

ऊपर जिस तरह वनस्पतियोंमें प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित ये दो भेद वताये हैं उस ही तरह दूसरे जीवोंमें भी ये दो भेद पाये जाते हैं यह विशेष वात वताते हैं—

पुढवीआदिचउण्हं, केवलिआहारदेवणिरयंगा ।
अपदिट्ठिदा णिगोदेहिं, पदिट्ठिदंगा हवे सेसा ॥ २०० ॥

पृथिव्यादिचतुर्णां केवल्याहारदेवनिरयांगानि ।
अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठितांगा भवन्ति शेषाः ॥ २०० ॥

अर्थ—पृथिवी, जल अग्नि और वायुकायिक जीवोंका शरीर तथा केवलियोंका शरीर आहारकशरीर और देव-नारकियोंका शरीर बादर निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित[1] है। शेष वनस्पतिकायके जीवोंका शरीर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित है।

स्थावरकायिक और त्रसकायिक जीवोंका आकार बताते हैं--

मसुरंबुबिंदुसूई, कलावधयसण्णिहो हवे देहो ।
पुढवीआदिचउण्हं, तरुतसकाया अणेयविहा ॥ २०१ ॥

मसूराम्बुबिन्दुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवेद्देहः ।
प्रथिव्यादिचतुर्णां तरुत्रसकाया अनेकविधाः ॥ २०१ ॥

अर्थ—मसूर (अन्नविशेष) जलकी बिन्दु, सुइयोंका समूह, ध्वजा, इनके सदृश क्रमसे पृथिवी अप् तेज वायुकयिक जीवोंका शरीर होता है। और वनस्पति तथा त्रसोंका शरीर अनेक प्रकारका होता है।

भावार्थ—जिस तरहका मसूरादिकका आकार है उस ही तरहका पृथिवीकायिकादिकका शरीर होता है, किन्तु वनस्पति और त्रसोंका शरीर अनियत संस्थान होनेसे एक प्रकारका नहीं किन्तु अनेक प्रकारकी भिन्न-भिन्न आकृतियोंवाला ही हुआ करता है। ध्यान रहे पृथ्वीकायिकादिके जो दृष्टिगोचर शरीर हैं वे अनेकों जीवोंके शरीरोंके समूहरूप हैं, अतएव उनका नियत संस्थान घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण होनेसे दिखाई नहीं पड़ता।

इस प्रकार कायमार्गणाका निरूपण करके, अब कायविशिष्ट यह संसारी जीव कायके द्वारा ही कर्मभारका वहन करता है यह दृष्टान्त द्वारा बताते हैं।

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावलियं ।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावलियं[2] ॥ २०२ ॥

यथा भारवहः पुरुषो वहति भारं गृहीत्वा कावटिकाम् ।
एवमेव वहति जीवः कर्म्मभरं कायकावटिकाम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष कावटिकाके[3] द्वारा भारका वहन करता है, उस ही प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिकाके द्वारा कर्मभारका वहन करता है।

---

१. अर्थात् इतने जीवोंके शरीरके आश्रय निगोदिया जीव नहीं रहते हैं।

२. षट्खं. १ गा. ८७।

३. वहंगी कावड़ी।

भावार्थ—जिस प्रकार मजूर कावटिकाके द्वारा निरन्तर बोझा ढोता है और उससे रहित होने पर सुखी होता है, उस ही प्रकार यह संसारी जीव कायके द्वारा अनंत दुःखोंके कारण कर्मरूपी बोझाको लेकर नाना गतियोंमें लिये लिये फिरता है और उनके फलस्वरूप दुःखोंको भोगता है। तात्पर्य यह है कि इस काय और कर्मके अभावमें ही जीव परम सुखी होता है।

कायमार्गणासे रहित सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं—

जह कंचणमग्गिगयं, मुंचइ किट्टेण कालियाए य।
तह कायबंधमुक्का, अकाइया झाणजोगेण[1] ॥ २०३ ॥

यथा कंचनमग्निगतं मुच्यते किट्टेन कालिकया च।
तथा कायबन्धमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन ॥ २०३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मलिन भी सुवर्ण अग्निके द्वारा सुसंस्कृत होकर वाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके मलसे रहित हो जाता है उस ही प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव भी शरीर और कर्मबन्ध दोनोंसे रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सोलह तावके द्वारा तपाये हुए सुवर्णमें वाह्य किट्टिका और अभ्यंतर कालिका इन दोनों ही प्रकारके मलका बिलकुल अभाव होजानेपर फिर किसी दूसरे मलका सम्बन्ध नहीं होता उस ही प्रकार महाव्रत और धर्मध्यानादिसे सुसंस्कृत एवंसुतप्त आत्मामेंसे एक बार शुक्लध्यान रूपी अग्निके द्वारा बाह्य मल काय और अन्तरंग मल कर्मके सम्बन्धके सर्वथा छूट जाने पर फिर उनका वन्ध नहीं होता और वे सदाके लिये काय और कर्मसे रहित होकर सिद्ध हो जाते हैं। इस तरहसे इस गाथामें आचार्यने काय मार्गणाके वर्णनका वास्तविक प्रयोजन बता दिया है।

ग्यारह गाथाओंमें पृथिवी कायिकादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

आउड्ढरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ।
भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंखलोगो दु ॥ २०४ ॥

सार्धत्रयराशिवारं लोके अन्योन्यसंगुणे तेजः।
भूजलवायवः अधिकाः प्रतिभागोऽसंख्यलोकस्तु ॥ २०४ ॥

अर्थ—शलाकात्रयनिष्ठापनकी विधिसे लोकका साढ़े तीनवार परस्पर गुणा करनेसे तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। पृथिवी जल वायुकायिक जीवोंका उत्तरोत्तर तेजस्कायविक जीवोंकी अपेक्षा अधिक अधिक प्रमाण है। इस अधिकताके प्रतिभागहारका प्रमाण असंख्यात लोक है।

भावार्थ—लोकप्रमाण (जगच्छ्रेणीके घनका जितना प्रमाण हो उसके बराबर) शलाका, विरलन, देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना। विरलन राशिका विरलनकर (एक एक बखेर कर) प्रत्येक एकके ऊपर उस लोकप्रमाण देय राशिका स्थापन करना और उन देय राशियोंका परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक कम करना। इस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर

---

१. षट्. खं. १ गा. १४४।

विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना, तथा विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर पूर्वकी तरह परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक और कम करना इस ही प्रकारसे शलाका राशिमेंसे एक-एक कम करते करते जब समस्त शलाका राशि समाप्त हो जाय तब उस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन देय शलाका ये तीन राशि स्थापन करना, और विरलन राशिका विरलन कर और उसके प्रत्येक एकके ऊपर देयराशिको स्थापित करके देय राशिका उक्त रीतिसे ही गुणा करते करते तथा पूर्वोक्त रीतिसे ही शलाका राशिमेंसे एक-एक कम करते करते जब दूसरी वार भी शलाका राशि समाप्त हो जाय, तब उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर तीसरी वार उक्त तीन राशि स्थापन करना। और उक्त विधानके अनुसार ही विरलन राशिका विरलन कर और देय राशिका परस्पर गुणा तथा शलाका राशिमेंसे एक-एक कम करना। इस प्रकारशलाका त्रयनिष्ठापन कर चौथी वारकी स्थापित महाशलाकाराशिमेंसे पहली दूसरी और तीसरी शलाका राशिका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतनी वार उक्त क्रमसे ही विरलन राशिका विरलन कर और देयराशिका परस्पर गुणा तथा शेष महाशलाका राशिमेंसे एक एक कम करना। इस पद्धतिसे साढ़े तीनवार लोकका गुणा करने पर अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतना ही तैजस्कायिक जीवोंका प्रमाण है। इस तेजस्कायिक जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देने से जो लब्ध आवे उस एक भागको तैजस्कायिक जीवराशिमें मिलाने पर पृथिवीकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। और पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें मिलाने पर जलकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। जलकायके जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको जलकायकि जीवराशिमें मिलाने पर वायुकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है। इस तरहसे चारों धातुरूप माने गये स्थावर जीवोंकी संख्या और उसका अल्पवहुत्व मालूम हो सकता है।

अपदिट्ठिदपत्तेया, असंखलोगप्पमाणया होंति।
तत्तो पदिट्ठिदा पुण, असंखलोगेण संगुणिदा ॥ २०५ ॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येका असंख्यलोकप्रमाणका भवन्ति।
ततः प्रतिष्ठिताः पुनः असंख्यलोकेन संगुणिताः ॥ २०५ ॥

अर्थ—अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यात लोकप्रमाण हैं, और इससे भी असंख्यात लोकगुणा प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण है।

तसरासिपुढविआदी, चउक्कपत्तेयहीणसंसारी।
साहारणजीवाणं, परिमाणं होदि जिणदिट्ठं ॥ २०६ ॥

त्रसराशिपृथिव्यादिचतुष्कप्रत्येकहीनसंसारी।
साधारणजीवानां परिमाणं भवति जिनदिष्टम् ॥ २०६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे त्रस राशिका[1] प्रमाण और पृथिव्यादि चतुष्क (पृथिवी

---

१. जो कि आगे गाथा नं. २१२ में बताया गया है। अर्थात् आवलीके असंख्यातवें भागसे भक्त प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनसे जितना प्रमाण रहे।

अप् तेज वायु) तथा प्रत्येक वनस्पतिकायका प्रमाण जोकि ऊपर बताया गया है घटाने पर जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवोंका प्रमाण है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

सगसगअसंखभागो, वादरकायाण होदि परिमाणं ।
सेसा सुहमपमाणं, पडिभागो पुव्वणिद्दिट्ठो ॥२०७॥

स्वकस्वकासंख्यभागो बादरकायानां भवति परिमाणम् ।
शेषाः सूक्ष्मप्रमाणं प्रतिभागः पूर्वनिर्दिष्टः ॥ २०७ ॥

अर्थ—अपनी अपनी राशिका असंख्यातवां भाग बादरकायिक जीवोंका प्रमाण है और शेष बहुभाग सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है। इसके प्रतिभागहारका प्रमाण पूर्वोक्त असंख्यात लोक प्रमाण है ।

भावार्थ—पृथिवी कायिकादि जीवोंकी अपनी अपनी राशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना अर्थात् एक भागप्रमाण तो बादरजीवोंका प्रमाण होता है और शेष बहु-भागप्रमाण सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है।

सूक्ष्म जीवोंमें भी पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका प्रमाण कारण सहित बताते हैं

सुहुमेसु संखभागं, संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।
जस्सि अपुण्णद्धादो, पुण्णद्धा संखगुणिदकमा ॥ २०८ ॥

सूक्ष्मेषु संख्यभागः संख्या भागा अपूर्णकाः इतरे ।
यस्मादपूर्णाद्धातः पूर्णाद्धा संख्यगुणितक्रमाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—सूक्ष्म जीवोंमें अपनी अपनी राशिके संख्यात भागोंमेंसे एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और बहुभागप्रमाण पर्याप्तक हैं। कारण यह है कि अपर्याप्तकके कालसे पर्याप्तकका काल संख्यात गुणा है[1] ।

भावार्थ—मृदु पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण बारह हजार वर्ष, कठोर पृथ्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण २२ हजार वर्ष, जलकायिक जीवोंकी ७ हजार वर्ष, तेजस्कायिक जीवोंकी तीन दिन, वातकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन हजार वर्ष और वनस्पतिकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण १० हजार वर्षप्रमाण है। किन्तु अपर्याप्तक अव-स्थाका काल केवल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। अतएव अपर्याप्तक अवस्थासे पर्याप्तक अवस्थाका संचय काल संख्यातगुणा हो जानेसे अपर्याप्तकोंकी अपेक्षा पर्याप्तक जीवोंका प्रमाण संख्यातगुणा हो जाता है।

पल्लासंखेज्जवहिद, पदरंगुलभाजिदे जगप्पदरे ।
जलभूणिपबादरया पुण्णा आवलि असंखभजिदकमा ॥ २०९ ॥

पल्यासंख्यातावहितप्रतरांगुलभाजिते जगत्प्रतरे ।
जलभूनिपबादरकाः पूर्णा आवल्यसंख्यभजितक्रमाः ॥२०९॥

---

१. यहां पर जीवोंकी संख्या और उसका अल्पबहुत्व कालकी अपेक्षासे बताया गया है ।

अर्थ—पल्यके असंख्यातवें भागसे भक्त प्रतरांगुलका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें आवलिके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें भी आवलिके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है। पूर्वकी तरह इसमें भी आवलिके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है।

विंदावलिलोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं।
पज्जत्ताण पमाणं, तेहिं विहीणा अपज्जत्ता ॥ २१० ॥

वृन्दावलिलोकानामसंख्यं संख्यं च तेजोवायूनाम्।
पर्याप्तानां प्रमाणं तैर्विहीना अपर्याप्ताः ॥ २१० ॥

अर्थ—घनावलिके[1] असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण है। और लोकके संख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण है। अपनी अपनी सम्पूर्ण राशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकोंका प्रमाण है।

भावार्थ—सूक्ष्म जीवोंका अलग वर्णन किया गया है। इसलिये "पल्लासंखेज्जवहिद" और विंदावलिलोगाण" इन उपर्युक्त दोनों ही गाथाओंमें बादर जीवोंका ही प्रमाण समझना चाहिये। और इन दो गाथाओंमें कहे हुए पर्याप्तक जीवोंके प्रमाणको अपनी-अपनी सामान्य राशिमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्तकोंका प्रमाण है, ऐसा समझना चाहिये।

साहरणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा।
पुण्णाणमपुण्णाणं, परिमाणं होदि अणुकमसो ॥ २११ ॥

साधारणबादरेषु असंख्यं भागमसंख्यका भागाः।
पूर्णानामपूर्णानां परिमाणं भवत्यनुक्रमशः ॥ २११ ॥

अर्थ—साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवोंका जो प्रमाण बताया है उसके असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण पर्याप्त और बहुभागप्रमाण अपर्याप्त हैं।

भावार्थ—बादर जीवोंमें पर्याप्त अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है यह बात उनकी अल्प संख्या बताकर अचार्यने यहां प्रकट की है।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपरगुंलेण हिदपदरं।
कमसो तसतप्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु ॥ २१२ ॥

आवल्यसंख्यसंख्येनावहितप्रतरांगुलेन हितप्रतरम्।
क्रमशस्त्रसतत्पूर्णाः पूर्णोनत्रसा अपूर्णा हि ॥ २१२ ॥

---

१. आवलीके समयोंका घन करने पर जो प्रमाण हो उसीको वृन्दावलि या घनावलि कहते हैं।

अर्थ—आवलीके असंख्यातवें भागसे भक्त प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही सामान्य त्रसराशिका प्रमाण है और संख्यात से भक्त प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना पर्याप्त त्रस जीवोंका प्रमाण है। सामान्य त्रसराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटाने पर शेष अपर्याप्त त्रसोंका प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—ऊपरकी गाथाकी तरह इस गाथा में भी पर्याप्त त्रस जीवोंका प्रमाण अल्प बतानेका कारण यही है कि त्रसोंमें पर्याप्त अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

बादर तेजस्कायिकादि छह जीवराशियोंके प्रमाणका विशेष रूपसे ज्ञान करानेके लिये उनकी अर्द्धच्छेद संख्याको बताते हैं।

आवलिअसंखभागेणवहिदपल्लूणसायरद्धछिदा।
बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसागरं पुण्णं ॥ २१३ ॥

आवल्यसंख्यभागेनावहितपल्योनसागरार्धच्छेदाः।
बादरतेपनिभूजलवातानां चरमः सागरः पूर्णः ॥ २१३ ॥

अर्थ—आवलिके असंख्यातवें भागसे भक्त पल्यको सागरमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतने बादर तेजस्कायिक जीवोंके अर्द्धच्छेद हैं और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथ्वी कायिक, बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण क्रमसे आवलिके असंख्यातमें भागका दो वार, तीन वार, चार वार, पांच वार पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको सागरमें घटानेसे निकलता है और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण पूर्ण सागरप्रमाण है।

भावार्थ—किसी राशिको जितनी वार आधा आधा करनेसे एक शेष रहे उसको अर्द्धच्छेदराशि कहते हैं। जैसे दोकी एक, चारकी दो, आठकी तीन, सोलहकी चार और बत्तीसको पांच अर्द्धच्छेद राशि है। इस ही प्रकार बादर तेजस्कायिक जीवोंकी अर्द्धच्छेद राशिका प्रमाण एक वार आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित पल्यके एक भागको सागरमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना है। दो वार आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है। तीन वार आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित पल्यको सागरमेंसे घटाने पर शेष प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है। चार वार आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित पल्यको सागरमेंसे घटानेसे बादर पृथ्वीकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकता है। पांच वार आवलीके असंख्यातवें भागसे भाजित पल्यको सागरमेंसे घटानेपर शेष बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंक प्रमाण होता है। और बादर वातकायिका जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण पूर्ण सागर प्रमाण है।

ते वि विसेसेणहिया, पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण।
तम्हा ते रासीओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥२१४॥

तेपि विशेषेणाधिकाः पल्यासंख्यातभागमात्रेण।
तस्मात्ते राशयोऽसंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ २१४ ॥

अर्थ—ये प्रत्येक अर्द्धच्छेद राशि पल्यके असंख्यातवें असंख्यातवें भाग उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसलिये ये सभी राशि (तेजस्कायिकादि जीवोंके प्रमाण) क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात लोकगुणी हैं।

भावार्थ—वादर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठितोंकी अपेक्षा प्रतिष्ठित जीवोंके अर्द्धच्छेद पल्यके असंख्यातवें असंख्यातवें भाग अधिक हैं। इसी प्रकार पृथिवी-कायिकादिके भी अर्द्धच्छेद पूर्वकी अपेक्षा पल्यके असंख्यातवें भाग अधिक हैं। इसलिये पूर्व पूर्व राशिकी अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि (मूल) असंख्यात लोकगुणी है।

उक्त असंख्यात लोकगुणितक्रमको निकालनेके लिये करणसूत्रको कहते हैं—

दिण्णच्छेदेणवहिद, इट्ठच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे।
लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयदधणं ॥ २१५ ॥

देयच्छेदेनावहितेष्टच्छेदैः प्रकृतविरलनं भाजिते।
लब्धमितेष्टराश्यन्योन्यहत्या भवति प्रकृतधनम् ॥ २१५ ॥

अर्थ—देयराशिके अर्द्धच्छेदोंसे भक्त इष्ट राशिके अर्द्धच्छेदोंका प्रकृत विरलन राशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह इष्ट राशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृत धन होता है।

भावार्थ—इसकी अंकसंदृष्टि इस प्रकार है कि जब सोलह जगह दूआ माड़ (सोलह जगह दोका अंक रखकर) परस्पर गुणा करनेसे पण्णट्ठी (६५५३६) उत्पन्न होती है तब ६४ जगह दूआ माड़ परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? तो देयराशि दोके अर्धच्छेद एकका इष्टराशि पण्णट्ठीके अर्धच्छेद सोलहमें भाग देनेसे लब्ध सोलहका भाग प्रकृत विरलन राशि ६४ में दिया, इससे चारकी संख्या लब्ध आई। इसलिये चार जगह पर पण्ट्ठीको रखकर परस्पर गुणा करनेसे एकट्ठी प्रमाण प्रकृत धन होता है। इस ही प्रकार अर्थसंदृष्टिमें जब इतनी जगह (अर्द्धच्छेदोंकी राशिप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे इतनी राशि उत्पन्न होती है तब इतनी जगह (आगेकी राशिके अर्धच्छेदप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? इस प्रकार उक्त क्रमसे त्रैराशिक विधान करने पर पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि असंख्यात लोकगुणी सिद्ध होती है।

इति कायमार्गणाधिकारः

अथ योगमार्गणा ४

अब योगमार्गणाका वर्णन क्रम प्राप्त है इसलिये प्रथम ही योगका सामान्य लक्षण कहते हैं—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती, कम्मागमकारणं जोगो ॥२१६॥

पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनकाययुक्तस्य ।
जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः ॥ २१६ ॥

अर्थ—पुद्गलविपाकी शरीरनामकर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

भावार्थ—आत्माकी अनन्त शक्तियोंमेंसे एक योग शक्ति भी है। उसके दो भेद हैं, एक भावयोग दूसरा द्रव्ययोग। पुद्गलविपाकी आङ्गोपांगनामकर्म और शरीरनामकर्मके उदयसे, मन वचन काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण हो चुकी हैं और जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं और इस ही प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पन्दन होता है उसको द्रव्ययोग कहते हैं। यहाँ पर कर्मशब्द उपलक्षण है, इसलिए कर्म और नोकर्म दोनोंको ग्रहण करनेवाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये। जिस प्रकार लोहेमें रहनेवाली दहनशक्ति अग्निके सम्वन्धसे काम किया करती है उसी प्रकार जीवके समस्त लोक प्रमाण प्रदेशोंमें कर्म नोकर्म को ग्रहण करने की सामर्थ्य पायी जाती है फिर भी पुद्गलविपाकी शरीर और आंगोपांग नामकर्मके उदयसे प्राप्त मनोवर्गणा भाषावर्गणा और आहारवर्गणाके पुद्गल स्कन्धोंके संयोगसे ही वह कर्म नोकर्मको ग्रहण करनेका कार्य किया करता है।

योगविशेषका लक्षण कहते हैं।

मणवयणाणपउत्ती, सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा, तेहि दु जोगा हु तज्जोगा॥२१७॥

मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु ।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः ॥ २१७ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार प्रकारके पदार्थोंसे जिस पदार्थको जानने या कहनेके लिए जीवके मन वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वचनका वही नाम होता है और उसके सम्वन्धसे उस प्रवृत्तिका भी वही नाम होता है।

भावार्थ—सत्य पदार्थको जाननेके लिए किसी मनुष्यके मनकी या कहनेके लिये वचनकी प्रवृत्ति हुई तो उसके मनको सत्य मन और वचनको सत्य वचन कहेंगे। तथा उनके द्वारा होनेवाले योगको सत्य मनोयोग और सत्य वचनयोग कहेंगे। इस ही प्रकारसे मन और वचनके असत्य उभय अनुभय इन तीनों भेदोंको भी समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते हैं, जैसे यह जल है। मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको मिथ्या कहते हैं, जैसे मरीचिकाको यह जल है। दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं, जैसे कमण्डलुको यह घट है, क्योंकि कमण्डलु घटका काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिये कथंचित् असत्य भी है। जो दोनों ही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं, जैसे सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि "यह कुछ है"। यहां पर सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता, इसलिये अनुभय है। क्योंकि स्वार्थ क्रियाकारी विशेष निर्णय न होनेसे सत्य नहीं कहा जा सकता और सामान्य प्रतिभास होता है अतएव उसको असत्य भी नहीं कह सकते।

योगविशेषोंका लक्षण कहते हैं—

सब्भावमणो सच्चो, जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ॥२१८॥

सद्भावमनः सत्यं यो योगस्तेन सत्यमनोयोगः ।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१८ ॥

अर्थ—समीचीन भावमनको (पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको) अर्थात् समीचीन पदार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्य से जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं। तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकारके मनको उभय मन कहते हैं। ऐसा हे भव्य तू जान।

ण[2] य सच्चमोसजुत्तो, जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।
जो जोगो तेण हवे, असच्चमोसो दु मणजोगो ॥२१९॥

न च सत्यमृषायुक्तं यत्तु मनः तदसत्यमृषामनः ।
यो योगस्तेन भवेत् असत्यमृषा तु मनोयोगः ॥ २१९ ॥

अर्थ—जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं। अर्थात् अनुभयरूप पदार्थके जाननेकी शक्तिरूप जो भावमन है उसको असत्यमृषा कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता हैं उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

दसविहसच्चे[3] वयणे, जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।
तव्विवरीओ मोसो, जाणुभयं सच्चमोसो त्ति ॥२२०॥

दशविधसत्ये वचने यो योगः स तु सत्यवचोयोगः ।
तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २२० ॥

अर्थ—वक्ष्यमाण जनपद आदि दश प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्यवचन और उससे होनेवाले योग-प्रयत्नविशेषको सत्यवचनयोग कहते हैं। तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषाका वाचक है उसको उभयवचनयोग कहते हैं। ऐसा हे भव्य तू समझ।

जो[4] णेव सच्चमोसो, सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।
अमणाणं जा भासा, सण्णीणामंतणी आदी ॥२२१॥

---

१. सब्भावो सच्चमणो, जो जोगो तेण सच्चमणजोगो। तव्विवरीदो मोसो जाणुभयं सच्चमोसं ति ॥ १५४ ॥ षट् ख, १

२. षट् खं. १ गाथा १५५ ॥

३. षट् खं. १ गा. १५६ ॥

४. षट् खं. १ गाथा १५७ ॥ तत्र "तं जाण, यादी" इति पाठः ।

यो नैव सत्यमृषा स जानीहि असत्यमृषावचोयोगः ।
अमनसां या भाषा संज्ञिनामामन्त्रण्यादिः ॥ २२१ ॥

अर्थ—जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभय वचनयोग कहते हैं। असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती हैं।

भावार्थ—द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी अमनस्क जीवोंकी अनक्षरात्मक भाषा और संज्ञी पंचेन्द्रियोंकी वक्ष्यमाण आमन्त्रणी आदि भाषाएँ अनुभय वचन हैं और उनके लिये जो प्रयत्न होता है उसको अनुभय वचन योग कहते हैं।

दशप्रकारका सत्य बताते हैं—

जणवदसम्मदिठवणा, णामे रूवे पडुच्चववहारे ।
सम्भावणे य भावे, उवमाए दसविहं सच्चं ॥२२२॥

जनपदसम्मतिस्थापनानाम्नि रूपे प्रतीत्यव्यहारयोः।
संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम् ॥ २२२ ॥

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्यके दश भेद हैं।

दश प्रकारके सत्यके दो गाथाओंमें दृष्टान्त बताते हैं—

भत्तं देवी चंदप्पह—, पडिमा तह य होदि जिणदत्तो ।
सेदो दिग्घो रज्झदि, कूरो त्ति य जं हवे वयणं ॥ २२३ ॥
सक्को जंबूदीवं, पल्लट्टदि पाववज्जवयणं च ।
पल्लोवमं च कमसो, जणवदसच्चादिदिट्ठंता ॥ २२४ ॥

भक्तं देवी चन्द्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः ।
श्वेतो दीर्घो रध्यते क्रूरमिति च तद्भवेद्वचनम् ॥२२३॥
शक्रो जम्बूद्वीपं परिवर्तयति पापवर्जवचनं च ।
पल्योपमं च क्रमशो जनपदसत्यादिदृष्टांताः ॥ २२४ ॥

अर्थ—उक्त दश प्रकारके सत्यवचनके ये दश दृष्टांत हैं। भक्त, देवी, चन्द्रप्रभप्रतिमा, जिनदत्त, श्वेत, दीर्घ, भात पकाया जाता है, शक्र जम्बूद्वीपको पलट सकता है, पाप रहित 'यह प्रासुक है' ऐसा वचन और पल्योपम।

भावार्थ—तत्तद्देशवासी मनुष्योंके व्यवहारमें जो शब्द रूढ हो रहा है उसको जनपदसत्य कहते हैं। जैसे-भक्त, भात, भाटु, भेटु, वंटक, मूकुडू, कूलू, चोरु आदि भिन्न भिन्न शब्दोंसे एक ही चीजको कहा जाता है। बहुत मनुष्योंकी सम्मतिसे जो सर्व साधारणमें रूढ हो उसको सम्मतिसत्य या संवृतिसत्य कहते हैं। जैसे पट्टराणीके सिवाय किसी साधारण स्त्रीको भी देवी कहना। किसी वस्तुमें उससे भिन्न वस्तुके समारोप करनेवाले वचनको स्थापनासत्य कहते हैं। जैसे चन्द्रप्रभ भगवानको प्रतिमाको चन्द्रप्रभ कहना। दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहारके लिये जो किसी-

भावार्थ—यद्यपि उनके मन मुख्यतया नहीं है, तथापि उनके वचनप्रयोग होता है। और वह वचनप्रयोग अस्मदादिकके विना मनके होता नहीं, इसलिये उनके भी उपचारसे मनकी कल्पना की जाती है।

अस्मदादिक निरतिशय पुरुषोंमें होनेवाले स्वभावको देखकर सातिशय भगवान्‌में भी उसकी कल्पना करना अयुक्त है, फिर भी उसकी कल्पना करनेका क्या हेतु है? यह बताते हैं—

अंगोवंगुदयादो, दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥ २२९ ॥

आंगोपांगोदयात् द्रव्यमनोर्थं जिनेन्द्रचन्द्रे।
मनोवर्गणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः ॥ २२९ ॥

अर्थ—आंगोपांग नामकर्मके उदयसे हृदयस्थानमें जीवोंके द्रव्यमनकी विकसित-खिले हुए अष्ट दल पद्मके आकारमें रचना हुआ करती है। यह रचना जिन मनोवर्गणाओंके द्वारा हुआ करती है उनका अर्थात् इस द्रव्यमनकी कारणभूत मनोवर्गणाओंका श्री जिनेन्द्रचन्द्र भगवान् सयोगकेवलीके भी आगमन हुआ करता है, इसलिये उनके उपचारसे मनोयोग कहा है।

भावार्थ—यद्यपि सयोगकेवली भगवान्‌के क्षायिक भाव ही पाये जाते हैं, अतएव उनके भावमन जो कि क्षायोपशमिक भाव है नहीं पाया जाता। फिर भी उपचारसे उनके मन कहा है, क्योंकि उनके आत्मप्रदेशोंमें कार्मण वर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षित करनेकी शक्तिरूप भावमन पाया जाता है। साथ ही मनोवर्गणाओंके आगमनपूर्वक जो द्रव्यमनका परिणमन होता है सो वह भी उनके पाया जाता है। यही उनके मनको कहनेके लिये उपचारमें निमित्त है। तथा गाथामें प्रयुक्त तु शब्दके द्वारा सर्वजीवदया, तत्त्वार्थदेशना और शुक्लध्यानादिकी प्रवृत्तिके प्रयोजनको भी सूचित कर दिया गया है।

काययोगकी आदिमें निरुक्तिपूर्वक औदारिक काययोगका वर्णन करते हैं—

पुरुमहदुदारुरालं, एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।
ओरालियं तमुच्चइ, ओरालियकायजोगो सो[1] ॥ २३० ॥

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवं।
औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः ॥ २३० ॥

अर्थ—पुरु, महत्, उदार, उराल, ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थके वाचक हैं। उदारमें जो होय उसको कहते हैं औदारिक[2]। तथा औदारिक-उदारमें होनेवाला जो काययोग उसको कहते हैं औदारिक काययोग। यह निरुक्त्यर्थ है, ऐसा समझना चाहिये।

---

१. पुरुमहमुदारुरालं एयट्ठो तं वियाण तम्हि भवं।
ओरालियं ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो ॥ १६० ॥ षट् खं. १।

२. उदारे भवम् औदारिकम्, उराले भवम् औरालिकम्। इस तरह उदार या उराल शब्दसे भव अर्थमें ठण् प्रत्यय होकर औदारिक औरालिक शब्द बनते हैं।

भाषा कहते हैं। मैं क्या करूं, इस तरहके सूचना वाक्योंको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। इसको छोड़ता हूँ, इस तरहके छोड़नेवाले वाक्योंको प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं। यह बलाका है अथवा पताका, ऐसे संदिग्ध वचनोंको संशयवचनी भाषा कहते हैं। मुझको भी ऐसा ही होना चाहिये, ऐसे इच्छाको प्रकट करनेवाले वचनोंको इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं। द्वीन्द्रियादिक असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंकी भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषाएं अनुभयवचनरूप हैं। कारण यह कि इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशोंका बोध होता है, क्योंकि सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे इनको असत्य भी नहीं कह सकते, और विशेष अंशके व्यक्त न होनेसे इनको सत्य भी नहीं कह सकते। अतएव ये नव प्रकारके वाक्य अनुभय वचन कहे जाते हैं। इसीतरहके अन्य भी जो वचन हों, उनको इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत समझना चाहिये।

चारों प्रकारके मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण बताते हैं।

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुराणदेहउदओ दु।
मोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं॥ २२७॥

मनोवचनयोर्मूलनिमित्तं खलु पूर्णदेहोदयस्तु।
मृषोभययोर्मूलनिमित्तं खलु भवत्यावरणम्॥ २२७॥

अर्थ—सत्य और अनुभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूल कारण पर्याप्ति और शरीर नामकर्मका उदय है। मृषा और उभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूल कारण अपना-अपना आवरण कर्म है।

भावार्थ—गाथाके पूर्वार्धमें यद्यपि सामान्यतया मन वचन शब्दका ही प्रयोग पाया जाता है, फिर भी उत्तरार्धमें मृषा और उभय शब्दका प्रयोग पाये जानेके कारण पारिशेष्यात् उनका अर्थ सत्य एवं अनुभयरूप ही करना चाहिये।

असत्य और उभय मन वचनका कारण दर्शनमोह तथा चारित्रमोहको न कहकर आवरणको इसलिये बताया है कि ये दोनों ही योग असंयत सम्यग्दृष्टि तथा संयमीके भी पाये जाते हैं।

केवली भगवानके जो सत्य एवं अनुभय योग पाये जाते हैं उनके व्यवहारका कारण सम्पूर्ण आवरणका अभाव है।

सयोगकेवली भगवानके मनोयोगकी संभवता बताते हैं—

मणसहियाणं वयणं, दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगम्मि।
उत्तो मणोवयारेणिंदियणाणेण हीणम्हि॥ २२८॥

मनः सहितानां वचनं दृष्टं तत्पूर्वमिति सयोगे।
उक्तो मन उपचारेणेन्द्रियज्ञानेन हीने॥ २२८॥

अर्थ—अस्मदादिक छद्मस्थ मनसहित जीवोंके वचनप्रयोग मनपूर्वक ही होता है। इसलिये इन्द्रियज्ञानसे रहित सयोगकेवलीके भी उपचारसे मन कहा है।

भावार्थ—यद्यपि उनके मन मुख्यतया नहीं है, तथापि उनके वचनप्रयोग होता है। और वह वचनप्रयोग अस्मदादिकके बिना मनके होता नहीं, इसलिये उनके भी उपचारसे मनकी कल्पना की जाती है।

अस्मदादिक निरतिशय पुरुषोंमें होनेवाले स्वभावको देखकर सातिशय भगवान्में भी उसकी कल्पना करना अयुक्त है, फिर भी उसकी कल्पना करनेका क्या हेतु है? यह बताते हैं—

अंगोवंगुदयादो, दव्वमणट्ठं जिणिंदचंदम्हि।
मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥ २२९ ॥

आंगोपांगोदयात् द्रव्यमनोर्थं जिनेन्द्रचन्द्रे।
मनोवर्गणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः ॥ २२९ ॥

अर्थ—आंगोपांग नामकर्मके उदयसे हृदयस्थानमें जीवोंके द्रव्यमनकी विकसित-खिले हुए अष्ट दल पद्मके आकारमें रचना हुआ करती है। यह रचना जिन मनोवर्गणाओंके द्वारा हुआ करती है उनका अर्थात् इस द्रव्यमनकी कारणभूत मनोवर्गणाओंका श्री जिनेन्द्रचन्द्र भगवान् सयोगकेवलीके भी आगमन हुआ करता है, इसलिये उनके उपचारसे मनोयोग कहा है।

भावार्थ—यद्यपि सयोगकेवली भगवान्के क्षायिक भाव ही पाये जाते हैं, अतएव उनके भावमन जो कि क्षायोपशमिक भाव है नहीं पाया जाता। फिर भी उपचारसे उनके मन कहा है, क्योंकि उनके आत्मप्रदेशोंमें कार्मण वर्गणा और नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षित करनेकी शक्तिरूप भावमन पाया जाता है। साथ ही मनोवर्गणाओंके आगमनपूर्वक जो द्रव्यमनका परिणमन होता है सो वह भी उनके पाया जाता है। यही उनके मनको कहनेके लिये उपचारमें निमित्त है। तथा गाथामें प्रयुक्त तु शब्दके द्वारा सर्वजीवदया, तत्त्वार्थदेशना और शुक्लध्यानादिकी प्रवृत्तिके प्रयोजनको भी सूचित कर दिया गया है।

काययोगकी आदिमें निरुक्तिपूर्वक औदारिक काययोगका वर्णन करते हैं—

पुरुमहदुदारुरालं, एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं।
ओरालियं तमुच्चइ, ओरालियकायजोगो सो[1] ॥ २३० ॥

पुरुमहदुदारमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवं।
औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः ॥ २३० ॥

अर्थ—पुरु, महत्, उदार, उराल, ये सब शब्द एक ही स्थूल अर्थके वाचक हैं। उदारमें जो होय उसको कहते हैं औदारिक[2]। तथा औदारिक-उदारमें होनेवाला जो काययोग उसको कहते हैं औदारिक काययोग। यह निरुक्त्यर्थ है, ऐसा समझना चाहिये।

---

१. पुरुमहमुदारुरालं एयट्ठो तं वियाण तम्हि भवं।
ओरालियं ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो ॥ १६० ॥ षट्. खं. १।

२. उदारे भवम् औदारिकम्, उराले भवम् औरालिकम्। इस तरह उदार या उराल शब्दसे भव अर्थमें ठण् प्रत्यय होकर औदारिक औरालिक शब्द बनते हैं।

भावार्थ—मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर वैक्रियिक आदि शरीरोंकी अपेक्षासे स्थूल होता है, अतएव उसको उदार अथवा उराल कहते हैं और इसके द्वारा होनेवाला जो योग उसको कहते हैं औदारिक काययोग। इस तरहसे यह योगरूढ़ संज्ञा है। तात्पर्य यह है कि—औदारिक शरीररूप परिणमन करनेके योग्य नोकर्मवर्गणाओंको आकर्षित करनेकी जो आत्मामें शक्ति है उसको अथवा उस शरीरके अवलम्बनसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनको औदारिक काययोग कहते हैं।

औदारिक मिश्रकाययोगका स्वरूप बताते हैं—

ओरालिय[1] उत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सजोगो सो ॥ २३१ ॥

औरालिकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत्।
यस्तेन संप्रयोग औरालिकमिश्रयोगः सः ॥ २३१ ॥

अर्थ—हे भव्य! ऐसा समझ कि जिस औदारिक शरीरका स्वरूप पहले बता चुके हैं वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं हो जाता तबतक मिश्र कहा जाता है और उसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं।

भावार्थ—शरीर पर्याप्तिसे पूर्व कार्मण शरीरकी सहायतासे होनेवाले औदारिक काययोगको औदारिक मिश्रकाययोग कहते हैं, क्योंकि यह योग केवल औदारिक वर्गणाओंके ही अवलम्बनसे नहीं होता, इसमें कार्मण वर्गणाओंका भी अवलम्बन रहता है, अतएव इसको मिश्रयोग कहते हैं।

वैक्रियिक काययोगका स्वरूप बताते हैं—

विविहगुणइड्ढिजुत्तं, विक्किरियं वा हु होदि वेगुव्वं।
तिस्से भवं च णेयं, वेगुव्वियकायजोगो सो[2] ॥ २३२ ॥

विविधगुणर्द्धियुक्तं विक्रियं वा हि भवति विगूर्वम्।
तस्मिन् भवं च ज्ञेयं वैगूर्विककाययोगः सः ॥ २३२ ॥

अर्थ—नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त देव तथा नारकियोंके शरीरको वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विक अथवा वैक्रियिक काययोग कहते हैं।

भावार्थ—शुभ या अशुभ अनेक प्रकारकी अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंसे[3] युक्त शरीरमें या उसके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्दन होता है उसको वैक्रियिक काययोग कहते हैं।

---

१. ओरालियमुत्तत्थं, विजाणं मिस्सं च अपरिपुण्णं ति।
जो तेण संपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो ॥ १६१ ॥ षट् खं. १।

२. षट् खं. १ "विविहगुणइड्ढिजुत्तं वेउव्वियमह व विकिरिया चेव।
तिस्से भवं च णेयं वेउव्वियकायजोगो सो ॥ १६२ ॥

३. अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। विक्रियाके ये आठ भेद ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु उसके और भी अनेक भेद होते हैं। देखो राजवार्तिक।

विक्रियाका अर्थ शरीरके स्वाभाविक आकारके सिवाय विभिन्न आकार बनाना है। देव और नारकियोंके शरीरका निर्माण जिन वर्गणाओंसे हुआ करता है उनमें यह योग्यता रहा करती है, अतएव उनको वैक्रियिक या वैगूर्विक वर्गणा कहते हैं। इनसे निष्पन्न शरीरको वैक्रियिक शरीर और उसके अवलम्बनसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके स्पन्दनको वैक्रियिक काययोग कहते हैं। यह विक्रिया शुभ और अशुभ अथवा पृथक् और अपृथक् दोनों तरहकी मानी गई है। इसके करनेमें अथवा वैक्रियिक वर्गणाओंके निमित्तसे होनेवाली आत्मप्रदेशोंकी सकम्पताको वैक्रियिक काययोग कहते हैं। यह विक्रियाकी योग्यता स्वभावतः सभी देवों और नारकियोंमें पाई जाती है, क्योंकि उनके शरीरका निर्माण ही उन्हीं वर्गणाओंसे हुआ करता है। किन्तु यह विक्रिया-विविधकरणता देवों तथा नारकियोंके शरीरके सिवाय अन्य शरीरोंमें भी संभव है या नहीं। है, तो किन-किन शरीरोंमें संभव है यह आगेकी गाथामें बताते हैं।

बादरतेऊवाऊ, पंचिंदियपुण्णगा विगुव्वंति।
ओरालियं शरीरं, विगुव्वणप्पं हवे जेसिं॥ २३३॥

बादरतेजोवायुपञ्चेन्द्रियपूर्णका विगूर्वन्ति।
औरालिकं शरीरं विगूर्वणात्मकं भवेत् येषाम्॥ २३३॥

अर्थ—बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च एवं मनुष्य तथा भोगभूमिज तिर्यक् मनुष्य भी अपने औदारिक शरीरके द्वारा जिनके कि शरीरमें यह योग्यता पाई जाती है विक्रिया किया करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि इन जीवोंका शरीर औदारिक है, देव नारकियोंके समान वैक्रियकवर्गणाओंसे निष्पन्न वैक्रियिक नहीं है। फिर भी इन जीवोंके शरीरमें नाना[1] आकाररूप बननेकी योग्यता पाई जाती है। परन्तु इनके अपृथक् विक्रिया हुआ करती है और भोगभूमिज तथा चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया किया करते हैं।

वैक्रियिक मिश्रकाययोगका स्वरूप बताते हैं—

वेगुव्विय उत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो, वेगुव्वियमिस्सजोगो सो[2]॥ २३४॥

वैगूर्विकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत्।
यस्तेन संप्रयोगो वैगूर्विकमिश्रयोगः सः॥ २३४॥

अर्थ—वैगूर्विकका अर्थ बताया जा चुका है। जब तक वह वैक्रियिक शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक उसको वैक्रियिक मिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होनेवाले योगको—आत्मप्रदेशपरिस्पन्दनको वैक्रियिक मिश्रकाययोग कहते हैं।

---

१. वि—विविधा क्रिया विक्रिया। तस्यां भवः, सा प्रयोजनं यस्येति वा वैक्रियिकः। "यः वैगूर्विककायार्थं तद्रूपपरिणमनयोग्यशरीरवर्गणास्कन्धाकर्षणशक्तिविशिष्टात्मप्रदेशपरिस्पन्दः स वैगूर्विककाययोग इति ज्ञेयः।" जी. प्र.।

२. षट् खं. १ गा. १६३।

भावार्थ—उत्पत्तिके समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत जब कार्मण शरीरकी सहायतासे वैक्रियिक शरीरकी वर्गणाओंके द्वारा योग होता है तब उसको वैक्रियिक मिश्रकाययोग कहते हैं। अर्थात् जबतक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक होनेवाले काययोगको मिश्रकाययोग समझना चाहिये।

आहारक काययोगका निरूपण करते हैं—

आहारस्सुदयेण य, पमत्तविरदस्स होदि आहारं।
असंजमपरिहरणट्ठं, संदेहविणासणट्ठं च ॥ २३५ ॥

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम्।
असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशनार्थं च ॥ २३५ ॥

अर्थ—असंयमका परिहार करनेके लिए तथा संदेहको दूर करनेके लिए आहारक ऋद्धिके धारक छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे आहारक शरीर होता है।

भावार्थ—यह शरीर औदारिक अथवा वैक्रियिक शरीरकी तरह जीवन भर नहीं रहा करता, किन्तु जिनको आहारक ऋद्धि प्राप्त है ऐसे प्रमत्त मुनि अपने प्रयोजन वश उसको उत्पन्न किया करते हैं। इसके लिए मुनियोंके मुख्यतया दो प्रयोजन बताये गये हैं-असंयमका परिहार और संदेहका निवारण। ढाई द्वीपमें पाये जानेवाले तीर्थों आदिकी वन्दनाके लिये जानेमें जो असंयम हो सकता है वह न हो इसलिये। अर्थात् बिना असंयमके अंशके भी तीर्थक्षेत्रों आदिके वन्दनाकर्मकी सिद्धि। इसी तरह कदाचित् श्रुतके किसी अर्थके विषयमें ऐसा कोई सन्देह हो जो कि ध्यानादिके लिये बाधक हो और उसकी निवृत्ति केवली श्रुतकेवलीके बिना हो नहीं सकती हो तो उस सन्देहको दूर करनेके लिये भी आहारक शरीरका निर्माण हुआ करता है। किन्तु यह शरीर आहारक शरीर नामकर्मके उदयके बिना नहीं हुआ करता तथा मुनियोंके ही होता है और उनके भी अप्रमत्त अवस्थामें न होकर प्रमत्त अवस्थामें ही उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीर किस अवस्थामें और किन-किन प्रयोजनोंसे मुनियोंके उत्पन्न हुआ करता है इस बातको आचार्य स्पष्ट करते हैं—

णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे।
परखेत्ते संवित्ते, जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ २३६ ॥

निजक्षेत्रे केवलिद्विकविरहे निःक्रमणप्रभृतिकल्याणे।
परक्षेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहवन्दनार्थं च ॥ २३६ ॥

अर्थ—अपने क्षेत्रमें केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर किन्तु दूसरे क्षेत्रमें जहाँ पर कि औदारिक शरीरसे उस समय पहुँचा नहीं जा सकता केवली या श्रुतकेवलीके विद्यमान रहनेपर अथवा तीर्थंकरोंके दीक्षा कल्याण आदि तीन कल्याणकोंमेंसे किसीके होनेपर तथा जिन जिनगृह-चैत्य चैत्यालयोंकी वन्दनाके लिए भी आहारक ऋद्धिवाले छट्ठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त मुनिके आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे यह शरीर उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीरका स्वरूप बताते हैं—

उत्तम अंगम्हि हवे, धादुविहीणं सुहं असंहणणं ।
सुहसंठाणं धवलं, हत्थपमाणं पसत्थुदयं ।। २३७ ।।

उत्तमाङ्गे भवेद् धातुविहीनं शुभमसंहननम् ।
शुभसंस्थानं धवलं हस्तप्रमाणं प्रशस्तोदयम् ।। २३७ ।।

अर्थ—यह आहारक शरीर रसादिक धातु[1] और संहननोंसे रहित तथा समचतुरस्र संस्थानसे युक्त एवं चन्द्रकांत मणिके समान श्वेत, और शुभ नामकर्मके उदयसे शुभ अवयवोंसे[2] युक्त हुआ करता है। यह एक हस्तप्रमाण[3] वाला और आहारक शरीर आदि प्रशस्त नामकर्मोंके उदयसे उत्तमांग शिरमेंसे उत्पन्न हुआ करता है।

आहारक शरीरके जघन्य और उत्कृष्ट कालका प्रमाण आदि विशेष परिचय देते हैं—

अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे, मरणं पि कदाचि संभवई ।। २३८ ।।

अव्याघाति अन्तर्मुहूर्तकालस्थिती जघन्येतरे ।
पर्याप्तिसंपूर्णायां मरणमपि कदाचित् संभवति ।। २३८ ।।

अर्थ—यह आहारक शरीर दोनों ही तरफसे व्याघात रहित है। न तो इस शरीरके द्वारा किसी भी अन्य पदार्थका व्याघात होता है और न किसी दूसरे पदार्थके द्वारा इस आहारक शरीरका ही व्याघात हुआ करता है, क्योंकि इसमें यह सामर्थ्य है—यह इतना सूक्ष्म हुआ करता है कि वज्रपटलको भी भेद कर जा सकता है। इसकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही है। आहारक शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेपर कदाचित् आहारक ऋद्धिवाले मुनिका मरण भी हो सकता है।

आहारक काययोगका निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं—

आहरदि अणेण मुणी, सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे ।
गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो[4] ।। २३९ ।।

आहरत्यनेन मुनिः सूक्ष्मानर्थान् स्वस्य संदेहे ।
गत्वा केवलिपार्श्वं तस्मादाहारको योगः ।। २३९ ।।

---

१. रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य ।

२. त. सू, अ. २ सू. ४९ में प्रयुक्त शुभ और विशुद्ध शब्दोंका अर्थ सर्वार्थसिद्धिमें इस प्रकार लिखा है—शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशः । शुभकर्मण आहारककाययोगस्य कारणत्वाच्छुभमित्युच्यते । अन्नस्य प्राणव्यपदेशवत् । विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेशः । विशुद्धस्य पुण्यस्य कर्मणः अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते । तन्तूनां कार्पासव्यपदेशवत् ।

३. व्यवहारांगुलकी अपेक्षा २४ अंगुल प्रमाण अथवा अरत्निप्रमाण ।

४. षट् ख. १ गा नं. १६४ ।

अर्थ—छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होनेपर इस शरीरके द्वारा केवलीके पासमें जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण (ग्रहण) करता है इसलिये[1] इस शरीरके द्वारा होनेवाले योगको आहारक कायरयोग कहते हैं।

आहारकमिश्रयोगका निरूपण करते हैं—

आहारयमुत्तत्थं, विजाण मिस्सं तु अपरिपुण्णं तं।
जो तेण संपजोगो, आहारयमिस्सजोगो सो[2] ॥ २४० ॥

आहारकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत्।
यस्तेन संप्रयोग आहारकमिश्रयोगः सः ॥ २४० ॥

अर्थ—आहारक शरीरका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है। जब तक वह पर्याप्त नहीं होता तब तक उसको आहारकमिश्र कहते हैं और उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारकमिश्रयोग कहते हैं।

भावार्थ—अपर्याप्त कालमें आई हुई आहारक वर्गणाएं औदारिकशरीरकी वर्गणाओंसे मिश्रित रहा करती हैं उस समय योग—आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्दन भी अपरिपूर्ण शक्तियुक्त रहा करता है।

कार्मणकाययोगको बताते हैं—

कम्मेव य कम्मभवं, कम्मइयं जो दु तेण संजोगो।
कम्मइयकायजोगो, इगिविगतिगसमयकालेसु[3] ॥ २४१ ॥

कर्म्मैव च कर्मभवं कार्मणं यस्तु तेन संयोगः।
कार्मणकाययोग एकद्विकत्रिकसमकालेषु ॥ २४१ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंके समूहको अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली कायको कार्मणकाय कहते हैं और उसके द्वारा होनेवाले योग-कर्माकर्षण शक्तियुक्त आत्मप्रदेशोंके के परिस्पन्दनको कार्मणकाययोग कहते हैं। यह योग एक दो अथवा तीन समय तक होता है।

भावार्थ—विग्रहगतिमें और केवलि[4] समुद्घातमें भी तीन समय पर्यन्त ही कार्मणकाययोग होता है; किन्तु दूसरे योगोंका ऐसा नियम नहीं है। यह बात गाथामें आये हुए तु शब्दसे सूचित होती है। यहां पर जो समय और काल ये एक ही अर्थके वाचक दो शब्द दिये हैं उससे यह भी सूचित होता है कि शेष योगोंका अव्याघातकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त और व्याघातकी अपेक्षा एक

---

१. ततः कारणात् शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तौ सत्यामाहारकवर्गणाभिः आहारकशरीरयोग्यपुद्गलस्कन्धाकर्षण-शक्तिविशिष्टात्मप्रदेशपरिस्पन्दः आहारककाययोग इति ज्ञातव्यम् ॥ जी. प्र.।

२,३,—षट् खं १ गा. नं. १६५, १६६।

४. दो प्रतर और एक लोकपूर्ण समुद्घातकी अपेक्षा केवलसमुद्घातमें भी कार्मणयोगको तीन ही समय लगते हैं।

समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त काल है। यह काल एक जीवकी अपेक्षासे है। किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षा आठ अन्तर मार्गणाओंको छोड़कर बाकी निरन्तरमार्गणाओंका सब काल है।

योगप्रवृत्तिका प्रकार बताते हैं।

वेगुव्विय-आहारयकिरिया, ण समं पमत्तविरदम्हि।
जोगो वि एक्ककाले, एक्केव य होदि णियमेण ॥ २४२ ॥

वैगूर्विकाहारकक्रिया न समं प्रमत्तविरते।
योगोऽपि एककाले एक एव च भवति नियमेन ॥ २४२ ॥

अर्थ—छट्ठे गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक शरीरकी क्रिया युगपत् नहीं होती और योग भी नियमसे एक कालमें एक ही होता है।

भावार्थ—योगमार्गणाके विषयमें यहाँ पर दो विशेष बातें बताई गई हैं। एक तो यह कि एक समयमें एक ही योग होता है। अर्थात् कोई भी दो या अनेक योग एक साथ नहीं हो सकते। किन्तु इस परसे शंका हो सकती थी कि यद्यपि दो योग एक साथ नहीं होते, परन्तु किसी भी एक योगके साथ दूसरे योगकी क्रिया तो हो सकती है। अतएव दूसरी बात यह स्पष्ट की गई है कि छट्ठे गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक ये दो क्रियाएं भी एक साथ नहीं हुआ करतीं। इस पर से गणधरादिकोंके अन्य ऋद्धियोंकी क्रियाओंका युगपत् होना सभव है ऐसा सूचित होता है।

योगरहित जीव कौन हैं और उनका स्वरूप क्या है इस बातका वर्णन करते हैं—

जेसिं ण संति जोगा, सुहासुहा पुण्णपावसंजणया।
ते होंति अजोगिजिणा, अणोवमाणंतबलकलिया[1] ॥ २४३ ॥

येषां न सन्ति योगाः शुभाशुभाः पुण्यपापसंजनकाः।
ते भवन्ति अयोगिजिना अनुपमानन्तवलकलिताः ॥ २४३ ॥

अर्थ—जिनके पुण्य और पापके कारणभूत शुभाशुभ योग नहीं हैं उनको अयोगिजिन कहते हैं। वे अनुपम और अनन्त बल करके युक्त होते हैं।

भावार्थ—अन्तिम गुणस्थानवर्ती तथा उससे अतीत आत्मा योगसे रहित हैं। अस्मदादिकमें बल योगके आश्रयसे ही देखने या अनुभवमें आता है। अतएव किसीको यह शंका न हो कि जो योगसे रहित हैं वे बलसे भी रहित होंगे। यहाँ कहा गया है कि वे इस तरहके बलसे युक्त हैं कि जो अनुपम है और अनन्त है।

शरीरमें कर्म और नोकर्मका विभाग करते हैं—

ओरालियवेगुव्विय, आहारयतेजणामकम्मुदये।
चउणोकम्मसरीरा, कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥ २४४ ॥

औरालिकवैगूर्विकाहारकतेजोनामकर्मोदये।
चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मैव च भवति कार्मणम् ॥ २४४ ॥

---

१. षट् खं, १ गा. नं. १५३।

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं और कार्मण शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर कहते हैं।

भावार्थ—काय-शरीरके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दनको काययोग कहा है। शरीर पांच हैं। वे दो भागोंमें विभक्त हैं—कर्म और नोकर्म। तैजसशरीर योगमें निमित्त नहीं माना है। नोकर्ममें नो शब्दका अर्थ ईषत् और विरुद्ध होता है। औदारिकादिक कर्मोंके सहायक होनेसे ईषत् कर्म या नोकर्म हैं। अथवा गुणोंका साक्षात् घात करने और आत्माको पराधीन बनानेमें कर्मके समान काम नहीं करते, इसलिये भी नोकर्म हैं।

औदारिक आदि शरीरोंके समयप्रवद्ध आदिकी संख्याको बताते हैं—

परमाणूहिं अणंतेहिं, वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु।
ताहि अणंताहिं णियमा, समयपबद्धो हवे एक्को॥ २४५॥

परमाणुभिरनन्तैर्वर्गणासंज्ञा हि भवत्येका हि।
ताभिरनन्तैर्नियमात् समयप्रबद्धो भवेदेकः॥ २४५॥

अर्थ—अनन्त (अनन्तानन्त) परमाणुओंकी एक वर्गणा होती है और अनन्त वर्गणाओंका निममसे एक समयप्रवद्ध होता है।

भावार्थ—इस गाथामें वर्गणा और समयप्रबद्धका प्रमाण बताया गया है। सिद्धराशिके अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनंतगुणे परमाणुओंकी एक वर्गणा हुआ करती है और उतनी ही वर्गणाओंका एक समयप्रवद्ध हुआ करता है। एक समयमें जितने कर्म-नोकर्मरूपमें पुद्गलस्कन्ध आत्माके साथ बंधते हैं उनके समूहको समयप्रवद्ध[२] कहते हैं।

ताणं समयपबद्धा, सेढिअसंखेज्जभागगुणिदकमा।
णंतेण य तेजदुगा, परं परं होदि सुहुमं खु॥ २४६॥

तेषां समयप्रवद्धाः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितक्रमाः।
अनन्तेन च तेजोद्विका परं परं भवति सूक्ष्मं खलु॥ २४६॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरोंके समयप्रवद्ध उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेणिके असंख्यातवें भागसे गुणित हैं और तैजस तथा कार्मण शरीरोंके समयप्रवद्ध अनन्तगुणे हैं। किन्तु ये पांचों ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं।

भावार्थ—औदारिकसे वैक्रियिकके और वैक्रियिकसे आहारकके समयप्रवद्ध श्रेणिके असंख्यातवें भाग गुणित हैं। किन्तु आहारकसे तैजसके अनन्तगुणे और तैजससे कार्मणशरीरके समयप्रवद्ध

---

१. यद्यपि पुद्गलकी संख्याताणुवर्गणा और असंख्याताणुवर्गणा भी होती हैं। परन्तु यहां शरीरके प्रकरणमें तद्योग्य वर्गणाओंका ही ग्रहण अभीष्ट है।

२. समये समयेन वा कर्मनोकर्मतया आत्मना प्रवध्यते स्म यः पुद्गलस्कन्धः स समयप्रवद्धः।

अनन्तगुणे हैं। इस तरह समयप्रबद्धोंकी संख्याके अधिक अधिक होनेपर भी ये पाँचों ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्म हैं [1]।

औदारिकादिक शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं—

ओगाहणाणि[2] ताणं, समयपबद्धाण वग्गणाणं च।
अंगुलअसंखभागा, उवरुवरिमसंखगुणहीणा ॥ २४७ ॥

अवगाहन नि तेषां समयप्रबद्धानां वर्गणानां च।
अंगुलासंख्यभागा उपर्युपरि असंख्यगुणहीनानि ॥ २४७ ॥

अर्थ—इन शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणओंकी अवगाहनाका प्रमाण सामान्यसे घनांगुलके असंख्यातवें भाग है, किन्तु विशेषतया आगे आगेके शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण क्रमसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा हीन है।

भावार्थ—औदारिकसे वैक्रियिक और वैक्रियिकसे आहारक तथा आहारकसे तैजस एवं तैजससे कार्माण शरीरके समयप्रबद्ध और उनकी वर्गणाओंकी अवगाहना सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणित रूपमें उत्तरोत्तर छोटी छोटी होती गई है।

इस ही प्रमाणको माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव भी कहते हैं—

तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सूइअंगुलासंख-।
भागहिदविंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा ॥ २४८ ॥

तत्समयबद्धवर्गणावगाहः सूच्यगुलासंख्य-।
भागहितवृन्दांगुलमुपर्युपरि तेन भजितक्रमाः ॥ २४८ ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्ध तथा वर्गणाओंका अवगाहन सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे भक्त घनांगुलप्रमाण है और पर्व पूर्वकी अपेक्षा आगे आगेकी अवगाहना क्रमसे असंख्यातगुणी असंख्यातगुणी हीन हैं।

विस्रसोपचयका स्वरूप बताते हैं—

जीवादो णंतगुणा, पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया।
जीवेण य समवेदा, एक्केक्कं पडि समाणा हु ॥ २४९ ॥

जीवतोऽनन्तगुणाः प्रतिपरमाणौ विस्रसोपचयाः।
जीवेन च समवेता एकैकं प्रति समानाः हि ॥ २४९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त कर्म और नोकर्मके प्रत्येक परमाणुपर समान संख्याको लिए हुए जीवराशिसे अनन्तगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवके साथ सम्बद्ध हैं।

---

१. तत्वार्थसूत्र अ. २, सूत्र नं. ३७, ३८, ३९।

२. इस गाथाकी संस्कृतव्याख्या श्रीमदभयचन्द्रसूरिने और हिंदीभाषा टीका विद्वद्वर्य श्रीटोडरमल्लजीने की है, इसलिये हमने भी इसको यहाँपर लिख दिया है। किन्तु केशववर्णी की टीकामें इसकी व्याख्या हमारे देखनेमें नहीं आई है।

भावार्थ—जीवके प्रत्येक प्रदेशोंके साथ जो कर्म और नोकर्म बंधे हैं, उन कर्म और नोकर्मके प्रत्येक परमाणुके साथ जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु भी सम्बद्ध हैं जो कर्मरूप या नोकर्मरूप तो नहीं हैं, किन्तु कर्मरूप या नोकर्मरूप होनेके लिये उम्मेदवार हैं। उन परमाणुओंको विस्रसोपचय[1] कहते हैं।

कर्म और नोकर्मके उत्कृष्ट संचयका स्वरूप तथा स्थान बताते हैं।

उक्कस्सट्ठिदिचरिमे, सगसगउक्कस्ससंचओ होदि।
पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं॥ २५०॥

उत्कृष्टस्थितिचरमे स्वकस्वकोत्कृष्टसंचयो भवति।
पञ्चदेहानां वरयोगादिस्वसामाग्रीसहितानाम्॥ २५०॥

अर्थ—उत्कृष्ट योगको आदि लेकर जो जो सामग्री तत्तत् कर्म या नोकर्मके उत्कृष्ट संचयमें कारण है उस उस सामग्रीके मिलनेपर औदारिकादि पांचों ही शरीरवालोंके उत्कृष्ट स्थितिके अन्तसमयमें अपने अपने कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है।

भावार्थ—स्थितिके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय समयप्रबद्धका बंध होता है और उसके एक एक निषेककी निर्जरा होती है, बाकीके निषेकोंका प्रतिसमय संचय होता जाता है। इस प्रकार उन शेष समयोंमें शेष निषेकोंका संचय होते होते स्थितिके अन्त समयमें आयु कर्मको छोड़कर शेष कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है। इसका प्रमाण डेढ़ गुणहानिके साथ समयप्रबद्धका गुणा करनेपर जो हो उतना हुआ करता है। तथा यह संचय उत्कृष्ट योगादिक अपनी अपनी सामग्रीके मिलनेपर पांचों शरीरवालोंके होता है।

उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेषको श्रीमाधवचन्द्र त्रैविद्यदेव बताते हैं—

आवासया हु भवअद्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य।
ओकट्टुक्कट्टणगा, छच्चेदे गुणिदकम्मंसे॥ २५१॥

आवश्यकानि हि भवाद्धा आयुष्यं योगसंक्लेशौ च।
अपकर्षणोत्कर्षणके षट् चैते गुणितकर्मांशे॥ २५१॥

अर्थ—कर्मोंका उत्कृष्ट संचय करनेके लिये प्रवर्तमान जीवके उनका उत्कृष्ट संचय करनेके लिये ये छह आवश्यक कारण होते है—भवाद्धा, आयुष्य, योग, संक्लेश, अपकर्षण, उत्कर्षण।

पांच शरीरोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

पल्लतियं उवहीणं, तेत्तीसंतोमुहुत्त उवहीणं।
छावट्ठी कम्मट्ठिदि, बंधुक्कस्सट्ठिदी ताणं॥ २५२॥

पल्यत्रयमुदधीनां त्रयस्त्रिंशदन्तर्मुहूर्त उदधीनाम्।
षट्षष्टिः कर्मस्थितिर्बन्धोत्कृष्टस्थितिस्तेषाम्॥ २५२॥

---

१. विस्रसा-स्वभावेन-आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते-तत्तत्कर्मनोकर्मपरमाणुस्निग्ध-रूक्षत्वगुणेन प्रतिपद्यन्ते इति विस्रसोपचयाः। कर्मनोकर्मपरिणतिरहितपरमाणवः।

अर्थ—औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर, आहारक शरीरकी अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीरकी छ्यासठ सागर है। कार्मण शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि कर्मोंके स्थितिबंध प्रकरणमें बताई गई है। वह सामान्यतया तो सत्तर कोडाकोडी सागर है किन्तु विशेषरूपसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम गोत्रकी बीस कोडाकोडी सागर और आयु कर्मकी केवल तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

पाँच शरीरोंकी उत्कृष्ट स्थितिके गुणहानि आयामका प्रमाण बताते हैं—

अंतोमुहुत्तमेत्तं, गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं।
पल्लासंखेज्जदिमं, गुणहाणी तेजकम्माणं ॥ २५३ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रा गुणहानिर्भवति आदिमत्रिकाणाम्।
पल्यासंख्याता गुणहानिस्तेजःकर्मणोः ॥ २५३ ॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे प्रत्येककी उत्कृष्ट स्थिति संबंधी गुणहानि तथा गुणहानि आयामका प्रमाण अपने अपने योग्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है। और तैजस तथा कार्मण शरीरकी उत्कृष्ट स्थितिसम्बन्धी गुणहानिका प्रमाण यथायोग्य पल्यके असंख्यातवें भागमात्र है।

भावार्थ—नानागुणहानि और गुणहानि आयामके प्रमाणकी न्यूनाधिकता समयप्रबद्धमें पड़नेवाली कर्म-नोकर्मकी स्थितिके अनुसार हुआ करती है। फलतः इन तीन शरीरोंके समयप्रबद्धोंमें पड़नेवाली उत्कृष्ट स्थितिके अनुसार ही उनका प्रमाण भी यथायोग्य न्यूनाधिक अन्तर्मुहूर्त मात्र हुआ करता है, क्योंकि औदारिककी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिककी ३३ सागर और आहारककी अन्तर्मुहूर्त मात्र है। किन्तु तैजस शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागर और कार्मण शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति दर्शनमोहकी अपेक्षा सत्तर कोडाकोडी सागर है। अतएव इनकी गुणहानिका प्रमाण भी सामान्यतया पल्यके असंख्यातवें भागमात्र किन्तु विशेषतया न्यूनाधिक प्रमाण ही समझना चाहिये।

औदारिक आदि शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय और सत्त्व अवस्थामें द्रव्य प्रमाण कितना रहता है सो बताते हैं—

एक्कं समयपबद्धं, बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्मि।
गुणहाणीण दिवड्ढं, समयपबद्धं हवे सत्तं ॥ २५४ ॥

एकं समयप्रबद्धं बध्नाति एकमुदेति चरमे।
गुणहानीनां द्वयर्धं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ॥ २५४ ॥

अर्थ—प्रतिसमय एक समयप्रबद्धका बंध होता है और एक ही समयप्रबद्धका उदय होता है। किन्तु फिर भी अन्तमें कुछ कम डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है।

भावार्थ—पांचों शरीरोंमेंसे तैजस और कार्मण शरीरका तो प्रतिसमय बंध उदय सत्त्व पाया जाता है, क्योंकि इन दोनोंके समयप्रबद्धका बंध उदय प्रतिसमय होता है, तथा किसी विवक्षित

समयप्रबद्धके चरम निषेकके समयमें डेढ़ गुणहानिगुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है; परन्तु औदारिक और वैक्रियिक शरीरके समयप्रबद्धोंमें कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि जिस समयमें शरीर ग्रहण किया जाता है उस समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धके प्रथम निषेकका उदय होता है और द्वितीय आदि समयोंमें द्वितीय आदि निषेकोंका उदय होता है। दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धका प्रथम निषेक तथा साथही प्रथम समयमें बद्ध समयप्रबद्धका द्वितीय निषेक भी उदित होता है। इस ही तरह तृतीय आदि समयोंका हिसाब समझना चाहिये। इसलिये इस क्रमसे समयप्रबद्धोंके निषेक शेष रहते रहते अन्तमें द्व्यर्धगुणहानिगुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रह जाती है। आहारक शरीरके विषयमें विशेषता है वह यह कि उसका जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति काल है उसके प्रथम समयसे लेकर अन्त समयमें कुछ कम डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्ध मात्र द्रव्यका उदय और सत्त्व संचय युगपत् हुआ करता है।

औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें पाई जानेवाली विशेषताको बताते हैं—

णवरि य दुसरीराणं, गलिदवसेसाउमेत्तठिदिबंधो।
गुणहाणीण दिवड्ढं, संचयमुदयं च चरिमम्हि॥ २५५॥

नवरि च द्विशरीरयोर्गलितावशेषायुर्मात्रस्थितिबंधः।
गुणहानीनां द्व्यर्धं संचयमुदयं च चरमे॥ २५५॥

अर्थ—औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरोंके बध्यमान समयप्रबद्धोंकी स्थिति भुक्त आयुसे अवशिष्ट आयुकी स्थितिप्रमाण हुआ करती है और इनका आयुके अन्त्य समयमें डेढ़ गुणहानिमात्र उदय तथा संचय रहता है।

भावार्थ—शरीरग्रहणके प्रथम समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति पूर्ण आयुप्रमाण होती है और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति एक समय कम आयुप्रमाण और तीसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति दो समय कम आयु प्रमाण होती है। इस ही प्रकार आगेके समयप्रबद्धोंकी स्थिति समझना चाहिये। इस क्रमके अनुसार अन्त्य समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति एक समयमात्र होती है।

आयुके प्रथम समयसे लेकर अन्त्य समय पर्यन्त बंधनेवाले समयप्रबद्ध आयुपर्यन्त ही रह सकते हैं। उनकी स्थिति आयुके अन्तिम समयके अनन्तर नहीं रह सकती। यही कारण है कि वर्तमान आयुके अन्त्य समयमें कुछ कम डेढ़ गुणहानिमात्र समयप्रबद्धोंका युगपत् उदय तथा संचय रहा करता है। देव नारकियोंके वैक्रियिक शरीर और मनुष्य तिर्यंचोंके औदारिक शरीरमें यही क्रम पाया जाता है।

किस प्रकारकी आवश्यक सामग्रीसे युक्त जीवके किस स्थानपर औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है यह बताते हैं—

ओरालियवरसंचं, देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स।
तिरियमणुस्सस्स हवे, चरिमदुचरिमे तिपल्लठिदिगस्स॥ २५६॥

औदारिकवरसंचयं देवोत्तरकुरूपजातजीवस्य।
तिर्यग्मनुष्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य॥ २५६॥

अर्थ—तीन पल्यकी स्थितिवाले देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्योंके चरम तथा द्विचरम समयमें औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है।

वैक्रियिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं—

वेगुव्वियवरसंचं, बावीससमुद्दआरणदुगम्हि ।
जम्हा वरजोगस्स य, वारा अण्णत्थ ण हि बहुगा ।। २५७ ।।

वैगूर्विकवरसंचयं द्वाविंशतिसमुद्रआरणद्विके ।
यस्मात् वरयोगस्य च वारा अन्यत्र न हि बहुकाः ।। २५७ ।।

अर्थ—वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय, बाईस सागरकी आयुवाले आरण और अच्युत स्वर्गके ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही होता है, क्योंकि वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा उसके योग्य दूसरी सामग्रियाँ अन्यत्र अनेकवार नहीं होतीं।

भावार्थ—आरण अच्युत स्वर्गके उपरितन विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही, जिनकी आयु बाईस सागरकी है, वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा दूसरी सामग्री अनेक वार होती है, इसलिये इन देवोंके ही वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है। अर्थात् वैक्रियिक शरीरके उत्कृष्ट योग बहुत वार अन्यत्र नहीं पाये जाते तथा तद्योग्य अन्य सामग्री भी दूसरी जगह नहीं पाई जाती, अतएव वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय यहीं पर हुआ करता है, न ऊपर तथा नीचेके पटलोंमें और न नरकोंमें ही वह पाया जाता है।

तैजस तथा कार्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं—

तेजासरीरजेट्ठं, सत्तमचरिमम्हि विदियवारस्स ।
कम्मस्स वि तत्थेव य, णिरये बहुवारभमिदस्स ।। २५८ ।।

तैजसशरीरज्येष्ठं सप्तमचरमे द्वितीयवारस्य ।
कार्मणस्यापि तत्रैव च निरये बहुवारभ्रमितस्य ।। २५८ ।।

अर्थ—तैजस शरीरका उत्कृष्ट संचय सप्तम पृथिवीमें दूसरी वार उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है और कार्मण शरीरका उत्कृष्ट संचय अनेक वार नरकोंमें भ्रमण करके सप्तम पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है। आहारक शरीरका उत्कृष्ट संचय आहारक शरीरका उत्थान करनेवाले प्रमत्तविरतके ही होता है।

भावार्थ—ऊपर उत्कृष्ट संचय करनेमें कारणभूत छह आवश्यक बताये गये हैं। भवाद्धा, आयुष्य, योग, संक्लेश, अपकर्षण और उत्कर्षण। इनको भी यहांपर यथायोग्य समझकर घटित कर लेना चाहिये। भवसम्बन्धी कालके प्रमाणको भवाद्धा, आयुके प्रमाणको आयुष्य, योगका अर्थ प्रसिद्ध है। तीन प्रकारके योगोंमें से यथासम्भव कोई भी योगका स्थान होना चाहिये। संक्लेशसे अभिप्राय कषायकी तीव्रतासे है। उपरितन निषेकोंके परमाणुओंको नीचेके निषेकोंमें मिलानेको अपकर्षण और नीचेके निषेकोंके परमाणुओंको उपरितन निषेकोंमें मिलानेका नाम उत्कर्षण है। इस तरह ये छह आवश्यक हैं जिनको कि उत्कृष्ट संचयके सम्बन्धमें यथायोग्य समझ लेना चाहिये।

योगमार्गणामें जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

वादरपुण्णा तेऊ, सगरासीए असंखभागमिदा ।
विक्किरियसत्तिजुत्ता, पल्लासंखेज्जया वाऊ ॥ २५९ ॥

वादरपूर्णा तैजसाः स्वकराशेरसंख्यभागमिताः ।
विक्रियाशक्तियुक्ताः पल्यासंख्याता वायवः ॥ २५९ ॥

अर्थ—वादर पर्याप्तक तैजसकायिक जीवोंका जितना प्रमाण है उनमें असंख्यातवें भाग-प्रमाण विक्रिया शक्तिसे युक्त हैं और वायुकायिक जितने जीव हैं उनमें पल्यके असंख्यातवें भाग विक्रियाशक्तिसे युक्त हैं ।

भावार्थ—घनावलिके असंख्यातवें भागप्रमाण सम्पूर्ण वादर पर्याप्त, तैजस जीवोंका प्रमाण है । उनमें असंख्यातवें भाग विक्रिया शक्तिवाले जीवोंका प्रमाण है । तथा लोकके असंख्यातवें भाग वादर पर्याप्त वातकायिक जीव हैं । उनमें पल्यके असंख्यातवें भाग विक्रियाशक्तिवाले जीव हैं ।

पल्लासंखेज्जाहयविंदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु ।
वेगुव्वियपंचक्खा, भोगभुमा पुह विगुव्वंति ॥ २६० ॥

पल्यासंख्याताहतवृन्दांगुलगुणितश्रेणिमात्रा हि ।
वैगूर्विकपञ्चाक्षा भोगभूमाः पृथक् विगूर्वन्ति ॥ २६० ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातवें भागसे अभ्यस्त (गुणित) घनांगुलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने ही पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्योंमें वैक्रियिक योगके धारक हैं । और भोगभूमिया तिर्यच तथा मनुष्य कर्मभूमियाओंमें चक्रवर्ती[1] पृथक् विक्रिया भी करते हैं ।

भावार्थ—विक्रिया दो प्रकारकी होती है, एक पृथक् विक्रिया दूसरी अपृथक् विक्रिया । अपने शरीरके सिवाय दूसरे शरीरादिक वनाना इसको पृथक् विक्रिया कहते हैं । और अपने शरीरके ही अनेक आकार वनाना इसको अपृथक् विक्रिया कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी विक्रिया-के धारक तिर्यंच तथा मनुष्योंकी संख्या ऊपर कही गई है । यहाँपर कर्मभूमिजोंमें चक्रवर्त्तीकी पृथक् विक्रिया वताई है, इससे शेष कर्मभूमिजोंके अपृथक् विक्रियाका होना ही प्रमाणित होता है ।

देवेहिं सादिरेया, तिजोगिणो तेहिं हीणतसपुण्णा ।
वियजोगिणो तदूणा, संसारी एक्कजोगा हु ॥ २६१ ॥

देवैः सातिरेकाः त्रियोगिनस्तैर्हीनाः त्रसपूर्णाः ।
द्वियोगिनस्तदूना संसारिणः एकयोगा हि ॥ २६१ ॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक त्रियोगियोंका प्रमाण है । पर्याप्त त्रसराशिमेंसे त्रियोगियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना द्वियोगियोंका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे द्वियोगी तथा त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेसे एकयोगियोंका प्रमाण निकलता है ।

---

१. टीकाकारों ने भोगभूमिजोंके समान चक्रवर्तीके भी पृथक् विक्रिया वताई है । किन्तु गाथाके किस शब्दसे यह अर्थ निकलता है यह हमारी समझमें नहीं आया । यह विशेष व्याख्यान हो सकता है ।

भावार्थ—नारकी[1] देव[2] संज्ञीपचेन्द्रिय तिर्यंच[3] पर्याप्त मनुष्य[4] पर्याप्त इनका जितना प्रमाण है उतना ही त्रियोगियोंका प्रमाण है। त्रसराशिमेंसे[5] त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेपर द्वियोगियोंका और संसारराशिमेंसे[6] त्रियोगी तथा द्वियोगियोंका प्रमाण घटानेपर एकयोगियोंका प्रमाण निकलता है।

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा।
तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा॥ २६२॥

अन्तर्मुहूर्तमात्राः चतुर्मनोयोगाः क्रमेण संख्यगुणाः।
तद्योगः सामान्यं चतुर्वचोयोगाः ततस्तु संख्यगुणाः॥ २६२॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार मनोयोगोंमें प्रत्येकका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्तमात्र है तथापि पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका काल क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है और चारोंकी जोड़का जितना प्रमाण है उतना सामान्य मनोयोगका काल है। इस प्रकार चारों मनोयोगोंके जोड़का जितना प्रमाण है उससे संख्यातगुणा काल चारों वचनयोगोंका है। और प्रत्येक वचनयोगका काल भीअन्तर्मुहूर्त है। तथा पूर्व पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका प्रमाण संख्यातगुणा संख्यातगुणा है। और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्त है।

तज्जोगो सामण्णं काओ संखाहदो तिजोगमिदं।
सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी॥ २६३॥

तद्योगः सामान्यं कायः संख्याहतः त्रियोगिमितम्।
सर्वसमासविभक्तं स्वकस्वकगुणसंगुणे तु स्वकराशिः॥ २६३॥

अर्थ—चारों वचनयोगोके जोड़का जो प्रमाण हो वह सामान्य वचनयोगका काल है। इससे संख्यातगुणा काययोगका काल है। तीनों योगोंके कालको जोड़ देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका पूर्वोक्त त्रियोगिजीवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागसे अपने अपने कालके समयोंसे गुणा करने पर अपनी अपनी राशिका प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—कल्पना कीजिये कि सत्यमनोयोगका काल सबसे कम होनेके कारण एक अन्तर्मुहूर्त है और यही गुणाकारके संख्यातका प्रमाण ४ है तो असत्य उभय अनुभय मनोयोगके कालका प्रमाण क्रमसे ४,१६,६४ अन्तर्मुहूर्त होगा और सबका जो ८५ होगा।

इसी प्रकार वचनयोगके सत्य असत्य उभय अनुभय वचनयोगका भी काल क्रमसे ८५×४, ८५×१६, ८५×६४, ८५×२५६ अन्तर्मुहूर्त तथा सबका जोड़ ८५×३४० अन्तर्मुहूर्त और काययोगका काल ८५×१३६० होगा। इन सबके मिलानेसे तीनों योगोंके जोड़का काल ८५×१७०१ अन्तर्मुहूर्तमात्र होता है। इसके जितने समय हों उनका त्रियोगिजीवोंके प्रमाणमें भाग दीजिये। लब्ध एक भागके साथ सत्यमनोयोगोंके कालके जितने समय हैं उनका गुणा कीजिये जो लब्ध आवे वह सत्यमनोयोगवाले जीवोंका प्रमाण है। इस ही प्रकार असत्यमनोयोगीसे लेकर काययोगी पर्यन्त जीवोंमें प्रत्येकका प्रमाण समझना। इस अंक संदृष्टिके अनुसार अर्थ संदृष्टिमें

---

१ से ६ इनका प्रमाण जाननेके लिये देखो क्रमसे गाथा नं. १५३, १६३, १५५-२६१-२६३, १५७-१५८, १४८, १५५।

भी सत्यमनोयोगसे काययोगवालोंतकका उत्तरोत्तर संख्यातगुणा संख्यातगुणा प्रमाण समझ लेना चाहिये ।

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता ।
कम्मोरालियमिस्सयओरालियजोगिणो जीवा ॥ २६४ ॥

कार्मणौदारिकमिश्रकौरालाद्धासु संचितानन्ताः ।
कार्मणौरालिकमिश्रकौरालिकयोगिनो जीवाः ॥ २६४ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोग औदारिकमिश्रयोग तथा औदारिककाययोगके समयमें एकत्रित होनेवाले कार्मणयोगी औदारिकमिश्रयोगी तथा औदारिकाययोगी जीव अनन्तानन्त हैं ।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं—

समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी ।
सगगुणगुणिदे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ॥ २६५ ॥

समयत्रयसंख्यावलिसंख्यगुणावलिसमासहितराशिम् ।
स्वकगुणगुणिते स्तोकः असंख्यसंख्याहतः क्रमशः ॥ २६५ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोगका काल तीन समय, औदारिकमिश्रयोगका काल संख्यात आवली, औदारिक काययोगका काल संख्यात गुणित (औदारिकमिश्रके कालसे) आवली है । इन तीनोंको जोड़ देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका एकयोगिजीवराशिमें भाग देनेसे लब्ध एक भागके साथ कार्मणकालका गुणा करने पर कर्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण निकलता है । इस ही प्रकार उसी एक भागके साथ औदारिक मिश्रकाल तथा औदारिककालका गुणा करने पर औदारिकमिश्र-काययोगी और औदारिककाययोगी जीवोंका प्रमाण होता है । इन तीनों तरहके जीवोंमें सबसे कम कार्मण काययोगी हैं उनसे असंख्यातगुणे औदारिकमिश्रयोगी हैं और उनसे संख्यातगुणे औदारिककाययोगी है ।

चार गाथाओंमें वैक्रियिकमिश्र तथा वैक्रियिककाययोगके धारक जीवोंका प्रमाण वताते हैं—

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे ।
आवलिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो ॥ २६६ ॥

सोपक्रमानुपक्रमकालः संख्यातवर्षस्थितिवाने ।
आवल्यसंख्यभागः संख्यातावलिप्रमः क्रमशः ॥ २६६ ॥

अर्थ—संख्यात वर्षकी स्थितिवाले उसमें भी प्रधानतया जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तर देवोंका सोपक्रम तथा अनुपक्रम काल क्रमसे आवलीके असंख्यातवें भाग और संख्यात आवली प्रमाण है ।

भावार्थ—उत्पत्तिसहित कालको सोपक्रम काल कहते हैं । और उत्पत्तिरहित कालको अनुपक्रम काल कहते हैं । यदि व्यन्तर देव निरन्तर उत्पन्न हों तो आवलीके असंख्यातवें भागमात्र-कालपर्यन्त उत्पन्न होते ही रहें । यदि कोई भी व्यन्तर देव उत्पन्न न हो तो ज्यादेसे ज्यादे संख्यात आवलीमात्र काल पर्यन्त (बारह मुहूर्त) उत्पन्न न हों पीछे कोई न कोई उत्पन्न हो ही ।

तहिं सव्वे सुद्धसला सोवक्कमकालदो दु संखगुणा ।
तत्तो संखगुणूणा अपुण्णकालम्हि सुद्धसला ॥ २६७ ॥

तस्मिन् सर्वाः शुद्धशलाकाः सोवक्रमकालतस्तु संख्यगुणाः ।
ततः संख्यागुणोना अपूर्णकाले शुद्धशलाकाः ॥ २६७ ॥

अर्थ—जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिमें अनुपक्रमकालको छोड़कर पर्याप्त तथा अपर्याप्त कालसम्बन्धी सोपक्रम कालकी शलाकाओंका प्रमाण सोपक्रमकालके प्रमाणसे संख्यात गुणा है और इससे संख्यातगुणा कम अपर्याप्तकालसम्बन्धी सोपक्रमकालकी शलाकाओंका प्रमाण है।

भावार्थ—स्थितिके प्रमाणमें जितनी वार सोपक्रम कालका सम्भव हो उसको शलाका कहते हैं। अनुपक्रम कालको छोड़कर बाकीके पर्याप्त अपर्याप्त समयमें इन सब शुद्ध शलाकाओंका प्रमाण सोपक्रम कालके प्रमाण आवलीके असंख्यातवें भागसे संख्यातगुणा है। तथा इससे संख्यातगुणा कम अपर्याप्तकालकी सोपक्रम शलाकाओंका प्रमाण है।

तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललद्धाहिं ।
सुद्धसलागाहिं गुणे वेंतरवेगुव्वमिस्सा हु ॥ २६८ ॥

तं शुद्धशलाकाहितनिजराशिमपूर्णकाललब्धाभिः ।
शुद्धशलाकाभिर्गुणे व्यन्तरवैगूर्वमिश्रा हि ॥ २६८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त व्यन्तर देवोंके प्रमाणमें उपर्युक्त सर्व कालसम्बन्धी शुद्ध उपक्रम शलाका प्रमाणका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपर्याप्ति-काल-सम्बन्धी शुद्ध उपक्रम शलाकाके साथ गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने ही वैक्रियिकमिश्रयोगके धारक व्यन्तरदेव समझने चाहिये।

भावार्थ—संख्यात वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तर देव अधिक उत्पन्न होते हैं इसलिये उनकी ही मुख्यतासे यहाँ यह प्रमाण बताया है।

तहिं सेसदेवणारयमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं ।
सुरणिरयकायजोगा, वेगुव्वियकायजोगा हु ॥ २६९ ॥

तस्मिन् शेषदेवनारकमिश्रयुते सर्वमिश्रवैगूर्वम् ।
सुरनिरयकाययोगा वैगूर्विककाययोगा हि ॥ २६९ ॥

अर्थ—वैक्रियिक मिश्र काययोगके धारक उक्त व्यन्तरोंके प्रमाणमें शेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक और नारकियोंके मिश्र काययोगवालोंका प्रमाण मिलानेसे सम्पूर्ण मिश्र वैक्रियिक काययोगवालोंका प्रमाण होता है। और देव तथा नारकियोंके काययोगवालोंका प्रमाण मिलनेसे समस्त वैक्रियिक काययोगवालोंका प्रमाण होता है।

आहारककाययोगी तथा आहारकमिश्रयोगियोंका प्रमाण बताते हैं—

आहारकायजोगा, चउवण्णं होंति एकसमयम्हि ।
आहारमिस्सजोगा, सत्तावीसा दु उक्कस्सं ॥ २७० ॥

आहारकाययोगाः चतुष्पञ्चाशत् भवन्ति एकसमये ।
आहारमिश्रयोगाः सप्तविंशतिस्तूत्कृष्टम् ॥ २७० ॥

अर्थ—एक समयमें आहारककाययोगवाले जीव अधिकसे अधिक चौअन होते हैं और आहारक-मिश्रयोगवाले जीव अधिकसे अधिक सत्ताइस होते हैं । यहाँपर जो उत्कृष्ट शब्द है वह मध्यदीपक है।

भावार्थ—जिस प्रकार देहलीपर रक्खा हुआ दीपक बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उस ही प्रकार यह शब्द भी पूर्वोक्त तथा जिसका आगे वर्णन करेंगे ऐसी दोनों ही संख्याओंको उत्कष्ट अपेक्षा समझना यह सूचित करता है ।

इति योगमार्गणाधिकारः ॥

अथ वेदमार्गणा ५

क्रमप्राप्त वेदमार्गणाका निरूपण करते हैं—

पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे ।
णामोदयेण दव्वे, पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७१ ॥

पुरुषस्त्रीषण्ढवेदोदयेन पुरुषस्त्रीषण्ढाः भावे ।
नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः क्वचिद् विषमाः ॥ २७१ ॥

अर्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे भावपुरुष भावस्त्री भावनपुंसक होता है। और नामकर्मके उदयसे द्रव्यपुरुष द्रव्यस्त्री द्रव्यनपुंसक होता है । सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है, परन्तु कहीं कहीं विषम भी होता है ।

भावार्थ—वेदनामक नोकषायके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है, और निर्माण नामकर्म सहित आंगोपांगनामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होता है । ये दोनों ही वेद प्रायःकरके तो समान ही होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वही द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद । परन्तु कहीं कहीं विषमता भी हो जाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा । यह विषमता देवगति और नरकगतिमें तो सर्वथा नहीं पाई जाती । मनुष्य और तिर्यग्गतिमें जो भोगभूमिज हैं उनमें भी नहीं पाई जाती । बाकीके तिर्यग् मनुष्योंमें क्वचित् वैषम्य भी पाया जाता है ।

वेदस्सुदीरणाए, परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।
संमोहेण ण जाणदि, जीवो हि गुणं व दोषं वा ॥ २७२ ॥

वेदस्योदीरणायां परिणामस्य च भवेत् संमोहः ।
संमोहेन न जानाति जीवो हि गुणं वा दोषं वा ॥ २७२ ॥

अर्थ—वेद नोकषायके उदय तथा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोंमें बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है और इस मोहके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोषका विचार नहीं कर सकता ।

पुरुगुणभोगे सेदे, करेदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं ।
पुरुउत्तमो य जम्हा, तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो[1] ॥ २७३ ॥

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म ।
पुरुरुत्तमश्च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः[2] ॥ २७३ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगोंका जो स्वामी हो, अथवा जो लोकमें उत्कृष्ट गुणयुक्त कर्मको करे, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं।

भावार्थ—उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञानादि गुणोंका वह स्वामी होता है, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदोंको भोगता है, चारों पुरुषार्थोंका पालन करता है, परमेष्ठिपदमें स्थित रहता है, इसलिये इसको पुरुष कहते हैं।

छादयदि सयं दोसे, णयदो छाददि परं वि दोसेण ।
छादणसीला जम्हा, तम्हा सा वण्णिया इत्थी[3] ॥ २७४ ॥

छायदति स्वकं दोषैः नयतः छायदति परमपि दोषेण ।
छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता स्त्री ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करे और मृदु भाषण, तिरछी चितवन आदि व्यापारसे जो दूसरे पुरुषोंको भी हिंसा अब्रम्ह आदि दोषोंसे आच्छादित करे, उसको अच्छादन--स्वभावयुक्त होनेसे स्त्री कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि तीर्थंकरोंकी माता, या सम्यक्त्वादि गुणोंसे भूषित दूसरी भी बहुत सी स्त्रियाँ अपनेको तथा दूसरोंको दोषोंसे अच्छादित नहीं भी करती हैं-उनमें यह लक्षण नहीं भी घटित होता है तब भी बहुलताकी अपेक्षा यह निरुक्तिसिद्ध[4] लक्षण किया है। निरुक्तिके द्वारा मुख्यतया प्रकृति प्रत्ययसे निष्पन्न अर्थका बोधमात्र कराया जाता है।

णेवित्थी णेव पुमं, णउंसओ उहयलिंगवदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो[5] ॥ २७५ ॥

नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसकं उभयलिंगव्यतिरिक्तः ।
इष्टापाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः ॥ २७५ ॥

---

१. षट् खं. गा. १७१ ।

२. यद्यपि शीङ् धातुका अर्थ स्वप्न है, तथापि "धातूनामनेकार्थाः" इस नियमके अनुसार स्वामी, करना तथा स्थिति अर्थ मानकर पृषोदरादि गणके द्वारा तालव्य शकारको मूर्धन्य बनाकर यह शब्द सिद्ध किया गया है। पुरुषु शेते इति पुरुष इत्यादि। अथवा पोऽग्तकर्मणि इस धातुसे इस शब्दकी सिद्धि समझना चाहिये। पुरु शब्दका अर्थ उत्तम होता है।

३. षट् खं. १ गाथा १७०। तत्र "दोसेण यदो" इति पाठः।

४. स्वयं परं वा दोषैःस्त्रीणाति आच्छादयति इति स्त्रीः।

५. णेवित्थी णेव पुमं, णवुंसओ उभयलिंगवदिरतो। इट्ठावागसमाणगवेयणगरुओ कलुसचितो ॥१७२॥ षट खं. १।

अर्थ—जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिंगोंसे रहित जीवको नपुंसक[1] कहते हैं। इसके अवा (भट्टा) में पकती हुई ईंटकी अग्निके समान तीव्र कषाय होती है। अतएव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है।

वेदरहित जीवोंको बताते हैं—

तिणकारिसिट्ठपागग्गिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का।
अवगयवेदा जीवा, सगसंभवणंतवरसोक्खा[2] ॥ २७६ ॥

तृणकारीषेष्टपाकाग्निसदृशपरिणावेदनोन्मुक्ताः।
अपगतवेदा जीवाः स्वकसम्भवानन्तरवरसौख्याः ॥ १७६ ॥

अर्थ—तृणकी अग्नि कारीष अग्नि इष्टपाक अग्नि (अवाकी अग्नि) के समान वेदके परिणामोंसे रहित जीवोंको अपगतवेद कहते हैं। ये जीव अपनी आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगते हैं।

भावार्थ—तृणकी अग्निके समान पुरुषवेदकी कषाय और कारीष-कंडेकी अग्निके समान स्त्रीवेदकी कषाय तथा अवा-भट्टेकी अग्निके समान नपुंसक वेदकी कषायसे जो रहित हैं वे दुःखी नहीं हैं; किन्तु आत्मोत्थ सर्वोत्कृष्ट अनन्त सुखके भोक्ता हुआ करते हैं।

अब श्री माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव वेदमार्गणामें पांच गाथाओं द्वारा जीवसंख्याका वर्णन करते है—

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा।
तत्तेउपम्मलेस्सा, संखगुणूणा कमेणेदे ॥ २७७ ॥

ज्योतिष्कवानयोनिनीतिर्यक्पुरुषाश्च संज्ञिनो जीवाः।
तत्तेजःपद्मलेश्याः संख्यगुणोनाः क्रमेणैते ॥ २७७ ॥

अर्थ—ज्योतिषी, व्यन्तर, योनिनी तिर्यंच तिर्यक् पुरुष, संज्ञी तिर्यंच, तेजोलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच तथा संज्ञी तिर्यंच पद्मलेश्यावाले जीव क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे हीन हैं।

भावार्थ—६५५३६ से गुणित प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही ज्योतिषी जीवोंका प्रमाण है। इसमें क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा कम करनेसे आगे आगेकी राशिका प्रमाण निकलता है।

अर्थात् ज्योतिषियोंके प्रमाणसे उत्तरोत्तर व्यन्तर, तिर्यंचयोनिनी, तिर्यक् पुरुष आदिका प्रमाण क्रमसे संख्यातवें भागमात्र है।

इगिपुरिसे बत्तीसं, देवी तज्जोगभजिददेवोघे।
सगगुणगारेण गुणे, पुरुसा महिला य देवेसु ॥ २७८ ॥

एकपुरुषे द्वात्रिंशद्देव्यः तद्योगभक्तदेवौघे।
स्वकगुणकारेण गुणे पुरुषा महिलाश्च देवेषु ॥ २७८ ॥

---

१. न स्त्री न पुमानिति नपुंसकः।

२. कारिसतणिट्ठिवागग्गिसरिसपरिणामवेयणुम्मुक्का ॥ इति षट् खं. १ गा. १७३ ॥

अर्थ—देवगतिमें एक देवकी कमसे कम बत्तीस देवियां होती हैं। इसलिये देव और देवियोंके जोड़रूप तेतीसका समस्त देवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने अपने गुणाकारके साथ गुणा करनेसे देव और देवियोंका प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—समस्त देवराशिमें तेतीसका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका एकके साथ गुणा करने से देवोंका और बत्तीसके साथ गुणा करनेसे देवियोंका प्रमाण निकलता है। अर्थात् सम्पूर्ण देवराशिके ३३ भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण पुरुषवेदी और ३२ भागप्रमाण स्त्रीवेदी जीव हैं। यद्यपि इन्द्रादिकोंकी देवियोंका प्रमाण अधिक है, तथापि प्रकीर्णक देवोंकी अपेक्षा इन्द्रादिका प्रमाण अत्यल्प[1] है, अतः उनकी यहाँ पर विवक्षा नहीं की है।

देवेहिं सादिरेया, पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी।
तेहिं विहीण सवेदो, रासी संढाण परिमाणं॥ २७९॥

देवैः सातिरेका, पुरुषा देवीभिः साधिका स्त्रियः।
तैर्विहीनः सवेदो राशिः षण्ढानां परिमाणम्॥ २७९॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक मनुष्य और तिर्यग्गतिसहित पुंवेदवालोंका प्रमाण है और देवियोंसे कुछ अधिक मनुष्य तथा तिर्यग्गति सहित स्त्रीवेदवालोंका प्रमाण है। सवेद राशिमेंसे पुंवेद तथा स्त्रीवेदका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे वह नपुंसकवेदियोंका प्रमाण है।

गब्भणपुइत्थिसण्णी, सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा।
कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया॥ २८०॥

थोवा तिसु संखगुणा, तत्तो आवलिअसंखभागगुणा।
पल्लासंखेज्जगुणा, तत्तो सव्वत्थ संखगुणा॥ २८१॥

गर्भनपुंस्त्रीसंज्ञिनः सम्मूर्छनसंज्ञिपूर्णका इतरे।
कुरुजा असंज्ञिगर्भजनपुंस्त्रीवानज्योतिष्काः॥ २८०॥

स्तोकाः त्रिषु संख्यगुणाः तत आवल्यसंख्यभागगुणाः।
पल्यासंख्येयगुणाः ततः सर्वत्र संख्यगुणाः॥ २८१॥

अर्थ—गर्भज संज्ञी नपुंसक १ पुल्लिंगी २ तथा स्त्रीलिङ्गी ३, सम्मूर्छन संज्ञी पर्याप्त ४ और अपर्याप्त ५, भोगभूमिया ६, असंज्ञी गर्भज नपुंसक ७ पुल्लिगी ८ तथा स्त्रीलिंगी ९, तथा व्यन्तर १० और ज्योतिषी ११ इन ग्यारह स्थानोंको क्रमसे स्थापन करना चाहिये। जिसमें पहला स्थान सबसे स्तोक है। और उससे आगेके तीन स्थान संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं। पांचवां स्थान आवलीके असंख्यातवें भाग गुणा है। छट्ठा स्थान पल्यके असंख्यातवें भागगुणा है। इससे आगेके पांचों ही स्थान क्रमसे संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं।

भावार्थ—चौथे और पांचवें स्थानवाले जीव नपुंसक ही होते हैं। छट्ठे स्थानवाले पुल्लिंग और स्त्रीलिङ्ग ही होते हैं। ६५५३६ से गुणित प्रतरांगुलका, आठवार संख्यातका, एकवार

[1] इन्द्रोंसे प्रकीर्णक असंख्यातगुणे हैं।

आवलीके असंख्यातवें भागका, एकवार पल्यके असंख्यातवें भागका, जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही पहले स्थानका प्रमाण है। इससे आगेके तीन स्थान क्रमसे संख्यातगुणे संख्यातगुणे हैं। पांचवाँ स्थान आवलीके असंख्यातवें भागगुणा, छट्ठा स्थान पल्यके असंख्यातवें भागगुणा, सातवाँ आठवाँ नौवाँ दशवाँ ग्यारहवाँ स्थान क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है।

इति वेदमार्गणाधिकारः ॥

●

अथ कषायमार्गणा ६

क्रमप्राप्त कषाय मार्गणाके वर्णनकी आदिमें प्रथम कषायका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हैं—

सुहदुक्खसुबहुसस्सं[1], कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं, तेण कसाओ त्ति णं बेंति ॥ २८२ ॥

सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य।
संसारदूरमर्यादं तेन कषाय इतीमं ब्रुवन्ति ॥ २८२ ॥

अर्थ—जीवके सुख दुःख आदि रूप अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है, इसलिये इसको कषाय कहते हैं।

भावार्थ—कृष् विलेखने धातुसे यह कषाय शब्द बना है जिसका अर्थ जोतना होता है। कषाय यह किसानके स्थानापन्न है। जिस तरह किसान लम्बे चौड़े खेतको इसलिये जोतता है कि उसमें बोया हुआ बीज अधिकसे अधिक प्रमाणमें उत्पन्न हो उसी तरह कषाय द्रव्यापेक्षया अनाद्यनिधन कर्मरूपी क्षेत्रको जिसकी कि सीमा बहुत दूर तक है इस तरहसे जोतता है कि शुभाशुभ फल इसमें अधिकसे अधिक उत्पन्न हों।

बंधनेवाले कर्मोंमें अनुभागबंध और स्थितिबंध इसका कार्य है यही बात इस गाथामें क्रमसे दो वाक्यों द्वारा बताई गई है।

कृष् धातुकी अपेक्षासे कषाय शब्दका अर्थ बताकर अब हिंसार्थक कष् धातुकी अपेक्षासे कषाय शब्दकी निरुक्ति बताते हैं—

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे।
घादंति वा कसाया, चउसोल असंखलोगमिदा ॥ २८३ ॥

सम्यक्त्वदेशसकलचरित्रयथाख्यातचरणपरिणामान्।
घातयन्ति वा कषायाः चतुःषोडशासंख्यलोकमिताः ॥ २८३ ॥

---

१. षट् खं. १ गा. ९०।

अर्थ—सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामोंको जो कषे-घाते-न होनेदे उसको कषाय कहते हैं। इसके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण संज्वलन इस प्रकार चार भेद हैं। अनन्तानुबन्धी आदि चारोंके क्रोध मान माया लोभ इस तरह चार चार भेद होनेसे कषायके उत्तर भेद सोलह होते हैं। किन्तु कषायके उदयस्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। जो सम्यक्त्वको रोके उसको अनन्तानुबन्धी, जो देशचारित्रको रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण, जो सकलचारित्रको रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्रको रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं।

भावार्थ—हिंसार्थक कष धातुसे भी कषाय शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् सम्यक्त्वादि-विशुद्धात्मपरिणामान् कषति हिनस्ति इति कषायः। इसके भेद ऊपर लिखे अनुसार होते हैं।

शक्तिकी अपेक्षासे क्रोधादि चार कषायोंके चार गाथाओं द्वारा भेद गिनाते हैं।

सि[1]लपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८४ ॥

शिलापृथ्वीभेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः ॥ १८४ ॥

अर्थ—क्रोध चार[2] प्रकारका होता है। एक पत्थरकी रेखाके समान, दूसरा पृथ्वीकी रेखाके समान, तीसरा धूलिरेखाके समान, चौथा जलरेखा के समान। ये चारों प्रकारके क्रोध क्रमसे नरक तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं।

भावार्थ—ऊपर जो कषायके अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद बताये हैं वे उसके स्वरूप और विषयको बताते हैं। जिससे उनका जातिभेद और वे आत्माके किस किस गुणका घात करते हैं यह मालूम हो जाता है। इस गाथामें सब प्रकारके क्रोधोंमेंसे प्रत्येक क्रोधके उसकी शक्तिके तरतम स्थानोंकी अपेक्षा चार-चार भेद बताये हैं। साथ ही इन तरतम स्थानोंके द्वारा बंधनेवाले कर्मों और प्राप्त होनेवाले संसारफलकी विशेषताको भी दिखाया है। शक्तिकी अपेक्षा क्रोधके चार भेद इस प्रकार हैं—उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट अजघन्य और जघन्य। इन्हीं चार भेदोंको यहाँ पर क्रमसे दृष्टांत-गर्भित शिलाभेद आदि नामसे बताया है। जिस तरह शिला पृथ्वी धूलि और जलमें की गई रेखा उत्तरोत्तर अल्प-अल्प समयमें मिटती है उसी तरह उत्कृष्टादि कषायस्थानोंके विषयमें समझना चाहिये। तथा वे अपने-अपने योग्य आयु गति आनुपूर्वी आदि कर्मोंके बंधनकी योग्यता रखते हैं।

जिस तरह क्रोधके चार भेद यहाँ बताये हैं उसी प्रकार मानादिक कषायोंके भी चार-चार भेद होते हैं। जो कि आगे क्रम से बताये गये हैं—

सेलट्ठिकट्ठवेत्ते[3], णियभेएणणुहरंतओ माणो।
णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८५ ॥

---

१. पट् ख. १ गा. १७४।
२. अनन्तानुबन्धी आदि चार प्रकारके क्रोधमें प्रत्येक क्रोधके ये चार चार भेद समझने चाहिये।
३. पट् खं. १ गा. १७५।

शैलास्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः।
नारकतिर्यग्नरामरगतिषूत्पादकः क्रमशः॥ २८५॥

अर्थ—मान भी चार प्रकारका होता है। पत्थरके समान, हड्डोके समान, काठके समान तथा वेंतके समान। ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवगतिके उत्पादक हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता इस ही प्रकार जिसके उदयसे जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैलसमान [पत्थरके समान] मान कहते हैं। ऐसे मानके उदयसे नरकगति उत्पन्न होती है। इस ही तरह अस्थिसमान [हड्डोके समान] आदिक मानको भी समझना चाहिये।

वेणुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तए य खोरप्पे।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिवदि जियं[1] ॥ २८६॥

वेणूपमूलोरभ्रकशृंगेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण।
सदृशी माया नारकतिर्यग्नरामरगतिषु क्षिपति जीवम्॥ २८६॥

अर्थ—माया भी चार प्रकारकी होती है। बाँसकी जड़के समान, मेढेके सींगके समान, गोमूत्रके समान, खुरपाके समान। यह चार तरहकी माया भी क्रमसे जीवको नरक तिर्यंच मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है।

भावार्थ—मायाके ये चार भेद कुटिलताकी अपेक्षासे हैं। जितनी अधिक कुटिलता जिसमें पाई जाय वह उतनी ही उत्कृष्ट माया कही जाती है और वह उक्त क्रमानुसार गतियोंकी उत्पादक होती है। वेणुमूलमें सबसे अधिक वक्रता पाई जाती है, इसलिये शक्तिकी अपेक्षा उत्कृष्ट मायाका यह दृष्टांत है। इसी प्रकार अनुत्कृष्ट मायाका मेषशृङ्ग, अजघन्य मायाका गोमूत्र और जघन्य मायाका खुरपा दृष्टांत समझना चाहिये।

किमिरायचक्कतणुमलहरिद्दराएण सरिसओ लोहो।
णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो[2] ॥ २८७॥

क्रिमिरागचक्रतनुमलहरिद्रारागेण सदृशो लोभः।
नारकतिर्यग्मानुषदेवेषूत्पादकः क्रमशः॥ २८७॥

अर्थ—लोभ कषाय भी चार प्रकारका है। क्रिमिरागके समान, चक्रमल (रथ आदिकके पहियोंके भीतरका ओंगन) के समान, शरीरके मलके समान, हल्दीके रंगके समान। यह भी क्रमसे नरक तिर्यंच मनुष्य देवगतिका उत्पादक है।

भावार्थ—जिस प्रकार किरिमिजीका रंग अत्यंत गाढ़ होता है—बड़ी ही मुश्किलसे छूटता है उसी प्रकार जो लोभ सबसे जादे गाढ़ हो उसको किरिमिजीके समान कहते हैं। इससे जो जल्दी-जल्दी छूटनेवाले हैं उनको क्रमसे ओंगन, शरीरमल, हल्दीके रंगके सदृश समझना चाहिये।

१. पट् खं. १ गा. १७६। २. पट् खं. १ गा. १७७।

नरकादि गतियोंमें उत्पत्तिके प्रथम समयमें बहुलता अथवा आचार्योंके भिन्न-भिन्न मतकी अपेक्षासे क्रोधादिकके उदयका नियम क्या है सो बताते हैं—

णारयतिरिक्खिणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥ २८८ ॥

नारकतिर्यग्नरसुरगतिषूत्पन्नप्रथमकाले ।
क्रोधो माया मानो लोभोदयः अनियमो वापि ॥ २८८ ॥

अर्थ—नरक तिर्यंच मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रमसे क्रोध माया मान और लोभका उदय होता है। अथवा यह नियम नहीं भी है।

भावार्थ—नरकतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समयमें नियमसे क्रोधका उदय होता है। इस ही प्रकार तिर्यग्गतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समयमें नियमसे माया कषायका उदय होता है और मनुष्यगतिके प्रथम समयमें नियमसे मानका तथा देवगतिके प्रथम समयमें नियमसे लोभ कषायका उदय होता है। यह नियम कषायप्राभृत द्वितीय सिद्धांतके व्याख्याता यतिवृषभाचार्यके अभिप्रायानुसार है। किन्तु महाकर्म प्रकृतिप्राभृत प्रथम सिद्धांतके व्याख्याता भूतवली आचार्यके अभिप्रायसे यह नियम नहीं है[1]।

कषायरहित जीवोंको बताते हैं—

अप्पपरोभयबाधणबंधासंजमणिमित्तकोहादी ।
जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा[2] ॥ २८९ ॥

आत्मपरोभयबाधनबन्धासंयमनिमित्तक्रोधादयः ।
येषां न सन्ति कषाया अमला अकषायिणो जीवाः ॥ २८९ ॥

अर्थ—जिनके स्वयंको दूसरेको तथा दोनोंको ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं हैं तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि गाथामें कषाय शब्दका ही उल्लेख है तथापि यहां नोकषयका भी ग्रहण कर लेना चाहिये। गुणस्थानोंकी[3] अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थानसे लेकर सभी जीव अकषाय हैं।

क्रोधादि कषायोंके शक्ति आदिकी अपेक्षासे स्थान बताते हैं।

कोहादिकसायाणं, चउ चउदस वीस होंति पद संखा ।
सत्तीलेस्साआउगबंधाबंधगदभेदेहिं ॥ २९० ॥

क्रोधादिकषायाणां चत्वारश्चतुर्दश विंशतिः भवन्ति पदसंख्याः ।
शक्तिलेश्याऽऽयुष्कबंधाबधगतभेदैः ॥ २९० ॥

---

१. देखो जी. प्र. तथा मन्द प्र. टीका। २. पट्खं. १ गा. १७८।

३. यद्यपि सिद्ध परमेष्ठी भी अकषाय ही हैं। फिर भी गुणस्थानोंकी अपेक्षासे अन्तिम चार गुणस्थान वाले ही आगममें अकषाय शब्द से कहे गये हैं। देखो पट् खं. १ सू. १४४।

अर्थ—शक्ति, लेश्या तथा आयुके बन्धाबन्ध गत भेदोंकी अपेक्षासे क्रोधादि कषायोंके क्रमसे चार चौदह और बीस स्थान होते हैं।

भावार्थ—शक्तिकी अपेक्षा चार, लेश्याकी अपेक्षा चौदह और आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंके बीस स्थान होते हैं।

शक्तिकी अपेक्षासे होनेवाले चार स्थानोंको गिनाते हैं—

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि।
कोहादिकसायाणं सत्तिं पडि होंति णियमेण॥ २९१॥

शिलाशैलवेणुमूलक्रिमिरागादीनि क्रमेण चत्वारि।
क्रोधादिकषायाणां शक्तिं प्रति भवन्ति नियमेन॥ २९१॥

अर्थ—शिलाभेद आदिक चार प्रकारका क्रोध, शैलसमान आदिक चार प्रकारका मान, वेणु (बांस) मूलके समान आदिक चार तरहकी माया, क्रिमिरागके समान आदिक चार प्रकारका लोभ, इस तरह क्रोधादिक कषायोंके उक्त नियमके अनुसार क्रमसे शक्तिकी अपेक्षा चार-चार स्थान हैं।

लेश्याकी अपेक्षा होनेवाले चौदह स्थानोंको गिनाते हैं—

किण्हं सिलासमाणे, किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि।
छक्कादी सुक्को त्ति य, धूलिम्मि जलम्मि सुक्केक्का॥ २९२॥

कृष्णा शिलासमाने कृष्णादयः षट् क्रमेण भूमौ।
षट्कादिः शुक्लेति च धूलौ जले शुक्लैका॥ २९२॥

अर्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्ण लेश्याकी अपेक्षासे एक ही स्थान होता है। पृथ्वी-समान क्रोधमें कृष्ण आदिक लेश्याकी अपेक्षा छह स्थान हैं। धूलिसमान क्रोधमें छह लेश्याओंसे लेकर शुक्ललेश्या पर्यंत छह स्थान होते हैं। और जल समान क्रोधमें केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है।

भावार्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्णलेश्याका एक ही स्थान होता है। पृथ्वीभेद समान क्रोधमें छह स्थान होते हैं, पहला कृष्णलेश्याका, दूसरा कृष्ण नील लेश्याका, तीसरा कृष्ण नील कपोत लेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याका, पांचवाँ कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याका, छट्ठा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म शुक्ललेश्याका। इस ही प्रकार धूलिरेखा समान क्रोधमें भी छह स्थान होते हैं। पहला कृष्णादिक छह लेश्याका, दूसरा कृष्णरहित पाँच लेश्याका, तीसरा कृष्ण नीलरहित चार लेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोतरहित अन्तकी तीन शुभ लेश्याओंका, पाँचवाँ पद्म और शुक्ल लेश्याका, छट्ठा केवल शुक्ल लेश्याका। जलरेखा समान क्रोधमें एक शुक्ल लेश्याका ही स्थान होता है। जिस प्रकार क्रोधके लेश्याओंकी अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये हैं उस ही तरह मानादिक कषायमें भी चौदह भेद समझना चाहिये।

आयुके बंधाबंधकी अपेक्षासे तीन गाथाओं द्वारा बीस स्थानोंको गिनाते हैं—

सेलगकिण्हे सुण्णं, णिरयं च य भूगएगविट्ठाणे।
णिरयं इगिबितिआऊ, तिट्ठाणे चारि सेसपदे॥ २९३॥

शलगकृष्णे शून्य निरयं च च भूगैकद्विस्थाने ।
निरयमेकद्वित्र्यायुस्त्रिस्थाने चत्वारि शेषपदे ॥ २९३ ॥

अर्थ—शैलगत कृष्णलेश्यामें कुछ स्थान तो ऐसे हैं कि जहाँ पर आयुबन्ध नहीं होता। इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयुका बन्ध होता है। इसके बाद पृथ्वीभेदगत पहले और दूसरे स्थानमें नरक आयुका ही बन्ध होता है। इसके भी बाद कृष्ण नील कपोत लेश्याके तीसरे भेदमें (स्थानमें) कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ नरक आयुका ही बन्ध होता है और कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँपर नरक तिर्यंच दो आयुका बन्ध हो सकता है तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँपर नरक तिर्यंच तथा मनुष्य तीनों ही आयुका बन्ध हो सकता है। शेषके तीन स्थानोंमें चारों आयुका बन्ध हो सकता है।

धूलिगछक्कट्ठाणे, चउराऊतिगदुगं च उवरिल्लं।
पणचदुठाणे देवं, देवं सुण्णं च तिट्ठाणे ॥ २९४ ॥

धूलिगषट्कस्थाने चतुरायूंषि त्रिकद्विकं चोपरितनम्।
पञ्चचतुर्थस्थाने देवं देवं शून्यं च तृतीयस्थाने ॥ २९४ ॥

अर्थ—धूलिभेदगत छह लेश्यावाले प्रथम भेदके कुछ स्थानोंमें चारों आयुका बन्ध होता है। इसके अनन्तर कुछ स्थानोंमें नरक आयुको छोड़कर शेष तीन आयुका और कुछ स्थानोंमें नरक तिर्यञ्चको छोड़कर शेष दो आयुका बन्ध होता है। कृष्णलेश्याको छोड़कर पांचलेश्यावाले दूसरे स्थानमें तथा कृष्ण नीललेश्याको छोड़कर शेष चार लेश्यावाले तृतीयस्थानमें केवल देव आयुका बंध होता है। अन्तकी तीन लेश्यावाले चौथे भेदके कुछ स्थानोंमें देवायुका बन्ध होता है और कुछ स्थानोंमें आयुका अबन्ध है।

सुण्णं दुगइगिठाणे, जलम्हि सुण्णं असंखभजिदकमा।
चउचोदसवीसपदा, असंखलोगा हु पत्तेयं ॥ २९५ ॥

शून्यं द्विकैकस्थाने जले शून्यमसंख्यभजितक्रमाः।
चतुश्चतुर्दशविंशतिपदा असंख्यलोका हि प्रत्येकम् ॥ २९५ ॥

अर्थ—इस ही के (धूलि भेदगत ही के) पद्म और शुक्ललेश्यावाले पांचवें स्थानमें और केवल शुक्ललेश्यावाले छट्ठे स्थानमें आयुका अबन्ध है। तथा जलभेदगत केवल शुक्ललेश्यावाले एक स्थानमें भी आयुका अबन्ध है। इस प्रकार कषायोंके शक्तिको अपेक्षा चार भेद, लेश्याओंकी अपेक्षा चौदह भेद, आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा बीस भेद होते हैं। इनमें प्रत्येकके अवान्तर भेद असंख्यात लोकप्रमाण हैं। तथा अपने-अपने उत्कृष्टसे अपने अपने जघन्य पर्यन्त क्रमसे असंख्यातगुणे असंख्यातगुणे हीन हैं।

भावार्थ—इन चार चौदह और बीस भेदोंका यंत्र यहीं आगे दिया जा रहा है। उससे विशेष स्पष्ट जाना जा सकता है।

पृथक् पृथक् कषायकाल: निरये अन्तर्मुहूर्तपरिमाणः ।
लोभादिः संख्यगुणो देवेषु च क्रोधप्रभृतितः ॥ २९६ ॥

अर्थ—नरकमें नारकियोंके लोभादि कषायका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्तमात्र होने पर भी पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर कषायका काल पृथक्-पृथक् संख्यातगुणा संख्यातगुणा है और देवोंमें क्रोधादिक लोभपर्यन्त कषायोंका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त किंतु विशेषरूपसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका संख्यातगुणा संख्यातगुणा काल है।

भावार्थ—यद्यपि सामान्यसे प्रत्येक कषायका काल अन्तर्मुहूर्त है, तथापि नारकियोंके जितना लोभका काल है उससे संख्यातगुणा मायाका काल है, और जितना मायाका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानके कालसे भी संख्यातगुणा क्रोधका काल है। किन्तु देवोंमें इससे विपरीत है। अर्थात् जितना क्रोधका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानसे संख्यातगुणा मायाका और मायासे संख्यातगुणा लोभका काल है।

सव्वसमासेणवहिदसगसगरासी पुणो वि संगुणिदे ।
सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीण परिमाणं ॥ २९७ ॥

सर्वसमासेनावहितस्वकस्वकराशौ पुनरपि संगुणिते ।
स्वकस्वकगुणकारैश्च स्वकस्वकराशीनां परिमाणम् ॥ २९७ ॥

अर्थ—अपनी-अपनी गतिमें सम्भव जीवराशिमें समस्त कषायोंके उदयकालके जोड़का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने-अपने गुणाकारसे गुणन करने पर अपनी अपनी राशिका परिमाण निकलता है।

भावार्थ—कल्पना कीजिये कि देवगतिमें देव राशिका प्रमाण १७०० है और क्रोधादिकके उदयका काल क्रमसे ४,१६,६४,२५६ है। इसलिये समस्त कषायोदयके कालका जोड़ ३४० हुआ। इसका उक्त देवराशिमें भाग देनेसे लब्ध ५ आते हैं। इस लब्ध राशिका अपने-अपने कषायोदय-कालसे गुणा करने पर अपनी-अपनी राशिका प्रमाण निकलता है। यदि क्रोधकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो ४ से गुणा करने पर बीस निकलता है, यदि मानकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो १६ से गुणा करने पर ८० प्रमाण निकलता है। इस ही प्रकार आगे भी समझना। जिस तरह यह देवोंकी अंकसंदृष्टि कही उस ही तरह नारकियोंकी भी समझना, किन्तु अंकसंदृष्टिको ही अर्थसदृष्टि नहीं समझना। क्रोधादि कषायवाले जीवोंकी संख्या निकालनेका यह क्रम केवल देव तथा नरकगतिमें ही समझना।

मनुष्य तथा तिर्यंचोंमें कषायवाले जीवोंका प्रमाण बताते हैं—

णरतिरिय लोहमायाकोहो माणो विइंदियादिव्व ।
आवलिअसंखभज्जा, सगकालं वा समासेज्ज ॥ २९८ ॥

नरतिरश्चोः लोभमायाक्रोधो मानो द्वीन्द्रियादिवत् ।
आवल्यसंख्यभाज्याः स्वघककालं वा समासाद्य ॥ २९८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या पहले

निकाली है उस ही क्रमसे मनुष्य तथा तिर्यंचोंके लोभ माया क्रोध और मानवाले जीवोंका प्रमाण आवलीके असंख्यातवें भाग क्रमसे निकालना चाहिये। अथवा अपने-अपने कालकी अपेक्षासे उक्त कषायवाले जीवोंका प्रमाण निकालना चाहिये।

भावार्थ—चारों कषायोंका जितना प्रमाण है उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको छोड़कर बहुभागको चारों जगह समान रूपसे विभक्त करना और शेष एक भागका "बहुभागे समभागो" इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार विभाग करनेसे चारों कषायवालोंका प्रमाण निकलता है। अथवा यदि इतने कालमें इतने जीव रहते हैं तो इतने कालमें कितने रहेंगे इस त्रैराशिक विधानसे भी कषायवालोंका प्रमाण निकलता है।

इति कषायमार्गणाधिकारः

०

अथ ज्ञानमार्गणाधिकारः ७

क्रमप्राप्त ज्ञानमार्गणाके प्रारम्भमें ज्ञानका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण कहते हैं—

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे[1]।
पच्चक्खं च परोक्खं, अणेण णाणं ति णं बेंति ॥ २९९ ॥

जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान्।
प्रत्यक्षं च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ २९९ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत भविष्यत् वर्तमान कालसम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जाने उसको ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष।

भावार्थ—छह द्रव्य—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल, पंच अस्तिकाय—कालको छोड़कर बाकी द्रव्य, सात तत्त्व—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष, नव पदार्थ—पुण्य-पाप-सहित सात तत्त्व, इनके गुण और इन द्रव्यों आदिकी अनेक प्रकारकी पर्यायों-अवस्थाओंके त्रैकालिक स्वरूपको जिसके द्वारा जाना जाय उसको ज्ञान कहते हैं। अववोधार्थक ज्ञा धातुसे यह शब्द निष्पन्न हुआ है। जीवकी चैतन्यशक्तिके साकार परिणमनरूप उपयोगको ही ज्ञान कहते हैं। द्रव्य गुण और उनकी त्रैकालिक अवस्थाएं उसके विषय हैं। इस ज्ञानके सामान्यतया दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आत्माके सिवाय—उससे भिन्न इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा—सहायतासे जो होता है उसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। जो विशद है स्पष्ट है इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना ही अपने विषयको ग्रहण करता है उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानके भेदोंको दिखाते हुए उनका क्षायोपशमिक और क्षायिकरूपसे विभाग करते हैं—

पंचेव होंति णाणा, मदिसुदओहीमणं च केवलयं।
खयउवसमिया चउरो, केवलणाणं हवे खइयं ॥ ३०० ॥

---

१. षट् खं. १ गा. नं. ९१ "जाणइ तियालसहिए, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेए।" इत्यादि।

पंचैव भवन्ति ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।
क्षायोपशमिकानि चत्वारि केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ॥ ३०० ॥

अर्थ—ज्ञानके पांच भेद हैं—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय तथा केवल। इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षायिक है।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान पाँच ही हैं। इनमेंसे आदिके चार ज्ञान जो क्षायोपशमिक हैं वे अपने-अपने प्रतिपक्षी मतिज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं। सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय सदवस्थारूप उपशम और देवघातिका उदय हो तो क्षयोपशम कहा जाता है। प्रतिपक्षी कर्मकी इस अवस्थामें होनेवाले ज्ञानको क्षायोपशमिक कहते हैं। अन्तिम केवलज्ञान क्षायिक है। वह सम्पूर्ण ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट हुआ करता है।

मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी बताते हैं—

अण्णाणतियं होदि हु, सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये ।
णवरि विभंगं णाणं, पंचिंदियसण्णिपुण्णेव ॥ ३०१ ॥

अज्ञानत्रिकं भवति खलु[1] सद्ज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वानोदये ।
नवरि विभंगं ज्ञानं पंचेन्द्रियसंज्ञिपूर्ण एव ॥ ३०१ ॥

अर्थ—आदिके तीन [मति श्रुत अवधि] ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं। ज्ञान के मिथ्या होनेका अन्तरंग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धीकषायका उदय है। मिथ्या अवधिको विभंग भी कहते हैं। इसमें यह विशेषता है कि यह विभंगज्ञान संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रियके ही होता है।

भावार्थ—यहाँपर मिथ्याज्ञानका सकारण स्वरूप पहले और दूसरे गुणस्थानवर्ती ज्ञानको दृष्टिमें रखकर कहा गया है।

मिश्रज्ञानका कारण और मन.पर्ययज्ञानका स्वामी बताते हैं—

मिस्सुदये सम्मिस्सं, अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।
संजमविसेससहिए, मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं ॥ ३०२ ॥

मिश्रोदये संमिश्रमज्ञानत्रयेण ज्ञानत्रयमेव ।
संयमविशेषसहिते मनःपर्ययज्ञानमुद्दिष्टम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—मिश्र प्रकृतिके उदयसे आदिके तीन ज्ञानोंमें समीचीनता तथा मिथ्यापना दोनों ही पाये जाते हैं, इसलिये इस तरहके इन तीनों ही ज्ञानोंको मिश्रज्ञान कहते हैं। मनःपर्यय ज्ञान जिनके संयम होता है उन्हींके होता है।

भावार्थ—मनःपर्ययज्ञान प्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त सात

१. हु का अर्थ खलु होता है। इस तरह इस गाथामें दो बार खलु शब्द आ जाता है। दूसरे खलु शब्दसे अधिकतया स्पष्ट प्रतिपत्ति अर्थ सूचित करना बताया है।

गुणस्थानोमें होता है, परन्तु इनमें भी जिनका चारित्र उत्तरोत्तर वर्धमान होता है उन्हींके होता है।

तीन गाथाओंमें दृष्टांत द्वारा मिथ्याज्ञानोंको स्पष्ट करते हैं—

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण ।
जा खलु पवट्टइ मई, मइअण्णाणं ति णं बेंति[1] ॥ ३०३ ॥

विषयन्त्रकूटपंजरबंधादिषु विनोपदेशकरणेन ।
या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०३ ॥

अर्थ—दूसरेके उपदेशके विना ही विष यन्त्र कूट पंजर तथा बंध आदिकके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—जिसके खानेसे जीव मर सके उस द्रव्यको विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बन्द हो जाँय और जिसके भीतर बकरी आदिको बाँधकर सिंह आदिकको पकड़ा जाता है उसको यन्त्र कहते हैं जिससे चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं। उसको कूट कहते हैं। रस्सीमें गाँठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं। हाथी आदिको पकड़नेके लिए जो गड्ढे आदिक बनाये जाते हैं उनको बंध कहते हैं। इत्यादि पदार्थोंमें दूसरेके उपदेशके विना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं, क्योंकि उपदेशपूर्वक होनेसे वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायगा।

आभीयमासुरक्खं[2], भारहरामायणादिउवएसा ।
तुच्छा असाहणीया, सुयअण्णाणं ति णं बेंति ॥ ३०४ ॥

आभीतमासुरक्षं[3] भारतरामायणाद्युपदेशाः ।
तुच्छा असाधनीया श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०४ ॥

अर्थ—चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र, भारत, रामायण आदि के परमार्थशून्य अतएव अनादरणीय उपदेशोंको मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं।

भावार्थ—आदि शब्दसे सभी हिंसादि पाप कर्मोंके विधायक तथा असमीचीन तत्त्वके प्रतिपादक ग्रन्थोंको कुश्रुत और उनके ज्ञान को श्रुतज्ञान समझना चाहिये।

विवरीयमोहिणाणं, खओवसमियं च कम्मबीजं च ।
वेभंगो त्ति पउच्चइ, समत्तणाणीण समयम्हि[4] ॥ ३०५ ॥

---

१. षट् खं. १ गा. १७९।

२. षट् खं. १ गा. १८०।

३. आ समन्तात् भीताः आभीताश्चौरास्तेषां शास्त्रमाभीतम्। असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षास्तलवरास्तेषां शास्त्रमासुरक्षम्।

४. षट् खं. १ गा. १८१।

विपरीतमवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्म्मबीजं च ।
विभंग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ।। ३०५ ।।

अर्थ—सर्वज्ञोंके उपदिष्ट आगममें विपरीत अवधिज्ञानको विभंग कहते हैं। इसके दो भेद हैं--एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय।

भावार्थ—देव नारकियोंके विपरीत अवधिज्ञानको भवप्रत्यय विभंग कहते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यंचोंके विपरीत अवधिज्ञानको क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं। इस विभंगका अंतरंग कारण मिथ्यात्व आदिक कर्म है। विभंग शब्दका निरुक्तिसिद्ध[1] अर्थ यह है कि मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे अवधिज्ञान की विशिष्टता-समीचीनताका भंग होकर उसमें अयथार्थता आ जाती है, इसलिए उसको विभंग कहते हैं। इसको कर्मबीज इसलिए कहा है कि मिथ्यात्वादि कर्मोंके बन्धका वह कारण है। परन्तु साथ ही च शब्दका उच्चारण करके यह भी सूचित कर दिया गया है कि कदाचित् नरकादि गतियोंमें पूर्वभवका ज्ञान कराकर वह सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें भी निमित्त हो जाता है।

अब नौ गाथाओंमें मतिज्ञानका स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद और विषय दिखाते हैं—

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहयमणिंदिइंदियजं ।
अवगहईहावायाधारणगा होंति[2] पत्तेयं ।। ३०६ ।।

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम् ।
अवग्रहेहावायधारणका भवन्ति प्रत्येकम् ।। ३०६ ।।

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक कहते हैं। इसमें प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार-चार भेद हैं।

भावार्थ—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको अभिमुख कहते हैं। और जैसे चक्षुका रूप विषय नियत है इस ही तरह जिस जिस इन्द्रियका जो-जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं। इस तरहके पदार्थोंका मन अथवा स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक मतिज्ञान[3] कहते हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रिय रूप सहकारी निमित्तभेदकी अपेक्षासे मतिज्ञानके छह भेद हो जाते हैं। इसमें भी प्रत्येकके अहग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार-चार भेद हैं। प्रत्येकके चार-चार भेद होते हैं, इसलिये छहको चारसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद हो जाते हैं—

अवग्रहके भी भेद आदिक दिखाते हैं।

---

१. वि–विशिष्टस्य अवधिज्ञानस्य भंगः विपर्ययः इति विभंगः।

२. षट् खं. १ गा १८२।

३. मतिज्ञानका ही निरुक्ति सिद्ध अर्थ बतानेवाला पर्यायवाचक शब्द अभिनिबोध हैं। अभि–नि–बोध इन तीन शब्दोंको और उनके अर्थको दृष्टिमें रखकर आभिनिबोधिक शब्दके द्वारा इस गाथामें मतिज्ञानका अर्थ और स्वरूप बताया गया है।

वेंजणअत्थअवग्गहभेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे।
कमसो ते वावरिदा, पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ॥ ३०७ ॥

व्यञ्जनार्थावग्रहभेदौ हि भवतः प्राप्ताप्राप्तार्थं।
क्रमशस्तौ व्यापृतौ प्रथमो न हि चक्षुर्मनसोः ॥ ३०७ ॥

अर्थ—अवग्रहके दो भेद हैं, एक व्यञ्जनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह। जो प्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं और जो अप्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं। और ये पहले व्यंजनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रमसे होते हैं। तथा व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता।

भावार्थ—इन्द्रियोंसे प्राप्त-सम्बद्ध अर्थको व्यंजन कहते हैं, और अप्राप्त—असम्बद्ध पदार्थको अर्थ कहते हैं। और इनके ज्ञानको क्रमसे व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह कहते हैं। शंका-राजवार्तिकादिकमें व्यञ्जन शब्दका अर्थ अव्यक्त किया है, और यहाँ पर प्राप्त अर्थ किया है, इसलिए परस्पर विरोध आता है। उत्तर-व्यञ्जन शब्दके अनभिव्यक्ति तथा प्राप्ति दोनों अर्थ होते हैं। इसलिए इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होने पर भी जब तक प्रकट न हो तब तक उसको व्यञ्जन कहते हैं, प्रकट होने पर अर्थ कहते हैं। अतएव चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। जिस तरह नवीन मट्टीके सकोरा आदिपर एक दो पानी की बूंद पड़नेसे वह व्यक्त नहीं होतीं, किन्तु अधिक बूंद पड़नेसे वही व्यक्त हो उठती हैं। इस ही तरह श्रोत्रादिकके द्वारा प्रथम अव्यक्त शब्दादिकके ग्रहणको व्यञ्जनावग्रह, और पीछे उसहीको प्रकटरूपसे ग्रहण करने पर अर्थावग्रह कहते हैं। व्यञ्जन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, और वह चक्षु तथा मनसे नहीं होता, शेष इन्द्रियोंसे ही होता है। इसलिए चार इन्द्रियोंकी अपेक्षा व्यञ्जनावग्रहके चार ही भेद होते हैं। पूर्वोक्त चौबीस भेदोंमें इन चार भेदोंको भी मिलाने पर मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। ऊपरके गाथामें जो २४ भेद वताये हैं वे केवल अर्थके विषयमें हैं। इस गाथामें व्यञ्जन विषयक अवग्रहके ४ भेद गिनाये हैं। इस तरह दोनोंके मिलाकर २८ भेद हो जाते हैं।

विसयाणं विसईणं, संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं गहिदे, विसेसकंखा हवे ईहा ॥ ३०८ ॥

विषयाणां विषयिणां संयोगानन्तरं भवेत् नियमात्।
अवग्रहज्ञानं गृहीते विशेषकांक्षा भवेदीहा ॥ ३०८ ॥

अर्थ—पदार्थ और इन्द्रियोंका योग्य क्षेत्रमें अवस्थानरूप सम्बन्ध होने पर सामान्य अवलोकन या निर्विकल्प ग्रहणरूप दर्शन होता है और इसके अन्तर विशेष आकार आदिकको ग्रहण करने वाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया है उसहीके किसी विशेष अंशको ग्रहण करनेवाला ईहा ज्ञान होता है।

भावार्थ—जिस तरह किसी दाक्षणात्य पुरुषको देखकर यह कुछ है इस तरहका जो महा सामान्य रूप अवलोकन होता है उसको दर्शन कहते हैं। इसके अनन्तर 'यह पुरुष है' इस

तरहके ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। और इसके अनन्तर "यह दाक्षिणात्य ही होना चाहिये" इस तरहके विशेष ज्ञानको ईहा कहते हैं।

ईहणकरणेण जदा, सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालांतरे वि णिण्णिदवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं ॥ ३०९ ॥

ईहनकरणेन यदा सुनिर्णयो भवति स अवायस्तु।
कालान्तरेऽपि निर्णीतवस्तुस्मरणस्य कारणं तुर्यम् ॥ ३०९ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष चिन्होंको देखकर जो उसका विशेप निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेष विन्यास आदिको देखकर "यह दाक्षिणात्य ही है" इस तरहके निश्चयको अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमें भी विस्मरण न हो उसको धारणाज्ञान कहते हैं।

उक्त चार तरहके ज्ञानोंका वारह तरहका विषय दिखाते हैं—

वहु वहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे, छत्तीसं तिसयभेदं तु ॥ ३१० ॥

वहु वहुविधं च क्षिप्रानिःसृतानुक्तं ध्रुवं च इतरच्च।
तत्रैकैकस्मिन् जाते षट्त्रिंशत् त्रिशतभेदं तु ॥ ३१० ॥

अर्थ—उक्त मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थके बाहर भेद हैं। वहु, अल्प, वहुविध, एकविध या अल्पविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, अनुक्त, उक्त, ध्रुव, अध्रुव। इनमेंसे प्रत्येक विषयमें मतिज्ञानके उक्त अट्ठाईस भेदोंकी प्रवृत्ति होती है, इसलिये बारहको अट्ठाईससे गुणा करनेपर मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं।

वहुवत्तिजादिगहणे, वहुवहुविहमियरमियरगहणम्हि।
सगणामादो सिद्धा, खिप्पादी सेदरा य तहा ॥ ३११ ॥

वहुव्यक्तिजातिग्रहणे वहु वहुविधमितरदितरग्रहणे।
स्वकनामतः सिद्धाः क्षिप्रादयः सेतराश्च तथा ॥ २११ ॥

अर्थ—एक जातिकी वहुत सी व्यक्तियोंको वहु कहते हैं। अनेक जातिके वहुत पदार्थोंको वहुविध कहते हैं। एक जातिकी एक दो व्यक्तिको अल्प (एक) कहते हैं। एक जातिकी अनेक व्यक्तियोंको एकविध कहते हैं अथवा दो जातियोंके अनेक व्यक्तियोंको अल्पविध कहते हैं। क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियोंका उनके नामसे ही अर्थ सिद्ध है।

भावार्थ—शीघ्र पदार्थको क्षिप्र कहते हैं जैसे तेजोसे वहता हुआ जलप्रवाह। मन्द गतिसे चलनेवाले पदार्थको अक्षिप्र कहते हैं, जैसे कछुआ अथवा धीरे-धीरे चलनेवाला घोड़ा, मनुष्य आदि छिपे हुए अप्रकट पदार्थको अनिःसृत कहते हैं, जैसे जलमें डूवा हुआ हस्ती आदि। प्रकट पदार्थको निःसृत कहते हैं, जैसे सामने खड़ा हुआ हस्ती। जो पदार्थ अभिप्रायसे समझा जाय उसको अनुक्त कहते हैं। जैसे किसीके हाथ या शिरसे इशारा करनेपर किसी कामके विषयमें हां या ना

भावार्थ—विषयसामान्यसे यदि इन चारका गुणा किया जाय तो क्रमसे एक चार चौवीस और अट्ठावीस स्थान होते हैं। और यदि इन चार ही का वहु आदिक छहसे गुणा किया जाय तो मतिज्ञानके अर्ध स्थान[1] होते हैं। और बहु आदिक वारहसे यदि गुणा किया जाय तो पूर्ण स्थान[2] होते हैं।

क्रमप्राप्त श्रुतज्ञानका विशेष वर्णन करनेसे पहले उसका सामान्य लक्षण कहते हैं—

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिवोहियपुव्वं, णियमेणिह सद्दजं पमुहं[3] ॥ ३१५ ॥

अर्थादर्थान्तरमुपलभमानं भणन्ति श्रुतज्ञानम्।
आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेनेह शब्दजं प्रमुखम् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थसे भिन्न पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह, अथवा शब्दजन्य और लिंगजन्य इस तरहसे दो भेद हैं, किन्तु इनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है।

भावार्थ—मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर किन्तु उससे भिन्न ही अर्थको श्रुतज्ञान विषय किया करता है। अतएव यह नियम है कि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान हुआ करता है। मतिज्ञानके विषयका अवलम्बन लिये बिना श्रुतज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ करता। यद्यपि उसका मूल कारण श्रुतज्ञानावरणकर्मका क्षयोपक्षम है। फिर भी उसको मतिज्ञानके विषयका अवलम्वन चाहिये।

श्रुतज्ञानके यद्यपि अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दज और लिंगज, इस तरह दो भेद हैं। किन्तु अक्षरात्मक-शब्दजन्य श्रुतज्ञान ही मुख्य माना है, क्योंकि प्रथम तो निरुक्त्यर्थ करने पर उसके विषयमें शब्दप्रधानता स्वयं व्यक्त हो जाती है। दूसरी वात यह कि नामोच्चारण लेन-देन आदि समस्त लोकव्यवहारमें तथा उपदेश शास्त्राध्ययन ध्यान आदिकी अपेक्षा मोक्षमार्गमें भी शब्द और तज्जन्य बोध-श्रुतज्ञानकी ही मुख्यता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतक सभी जीवोंके पाया जाता है, परन्तु वह लोक व्यवहार और मोक्षमार्गमें भी उस तरह उपयोगी न होनेके कारण मुख्य नहीं है। फिर भी यहाँ आचार्यने उसके स्वरूपका परिज्ञान कराया है।

श्रुतज्ञानके उन्हीं अक्षरात्मक अनक्षरात्मक दो भेदोंके स्वरूपको दृष्टिमें रखकर उनका भिन्न-भिन्न प्रमाण वताते हैं—

लोगाणमसंखमिदा, अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं ॥ ३१६ ॥

लोकानामसंख्यमितानि अनक्षरात्मके भवन्ति षट् स्थानानि।
द्विरूपषष्ठवर्गप्रमाणं रूपोनमक्षरगम् ॥ ३१६ ॥

१—६, २४, १४४, १६८। २—१२, ४८, २८८, ३३६। ३—षट् खं. १गा. १८३।

अर्थ—अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि इन षट्स्थानपतित वृद्धिकी अपेक्षासे पर्याय पर्यायसमासरूप अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके सबसे जघन्य स्थानसे लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं। द्विरूपवर्गधारामें छट्ठे वर्गका जितना प्रमाण है (एकट्ठी[1]) उसमें एक कम करनेसे जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञानका प्रमाण है।

भावार्थ—अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं। अपुनरुक्त अक्षरात्मक श्रुतज्ञानके संख्यात भेद हैं, और पुनरुक्त अक्षरात्मकका प्रमाण इससे कुछ अधिक है।

दूसरी तरहसे श्रुतज्ञानके भेद दो गाथाओंमें गिनाते हैं—

पज्जायक्खरपदसंघादं[2] पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य, पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥ ३१७॥
तेसिं च समासेहि य, वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं।
आवरणस्स वि भेदा, तत्तियमेत्ता हवंति त्ति॥ ३१८॥

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च॥ ३१७॥
तेषां च समासैश्च विंशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम्।
आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवन्ति इति॥ ३१८॥

अर्थ—पर्याय पर्यायसमास अक्षर अक्षरसमास पद पदसमास संघात संघातसमास प्रतिपत्तिक प्रतिपत्तिकसमास अनुयोग अनुयोगसमास प्राभृतप्राभृत प्राभृतप्राभृतसमास प्राभृत प्राभृतसमास वस्तु वस्तुसमास पूर्व पूर्वसमास, इस तरह श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं। इस ही लिये श्रुतज्ञानावरण कर्मके भी बीस भेद होते हैं। किन्तु पर्यायावरण कर्मके विषयमें कुछ भेद है उसको आगेकी गाथामें बतावेंगे।

चार गाथाओंमें पर्यायज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं—

णवरि विसेसं जाणे, सुहमजहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं पुण, तदणंतरणाणभेदम्हि॥ ३१९॥

नवरि विशेषं जानीहि सूक्ष्मजघन्यं तु पर्यायं ज्ञानम्।
पर्यायावरणं पुनः तदनन्तरज्ञानभेदे॥ ३१९॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं। इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करनेवाले कर्मके उदयका फल इसमें (पर्याय ज्ञानमें) नहीं होता; किन्तु इसके अनन्तर ज्ञानके (पर्यायसमास) प्रथम भेदमें ही होता है।

भावार्थ—यदि पर्यायावरण कर्मका फल पर्यायज्ञान होजाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे

---

१. देखो "एकट्ठ च च य" आदि गाथा नं. ३५४।

२. षट् खं. ६ पृ. २१।

जीवका भी अभाव होजाय, इसलिये कम-से-कम पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है। श्रुतज्ञानका सबसे जघन्य भेद यह पर्यायज्ञान ही है। इसका स्वामी सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव है, किन्तु इसमें और भी जो विशेषता है उसको आगेकी गाथामें बताते हैं—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं[1] ॥ ३२० ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
भवति हि सर्वजघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणम् ॥ ३२० ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसीको पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशह निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

पर्याय ज्ञानके स्वामीकी और भी विशेषता दिखाते हैं—

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसंभवेसु भमिऊण ।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे ॥ ३२१ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकेषु स्वकसम्भवेषु भ्रमित्वा ।
चरमापूर्णत्रिवक्राणामादिमवक्रस्थिते एव भवेत् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवके अपने जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोड़ाओंके द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोड़ाके समयमें यह सर्व जघन्य ज्ञान होता है।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं[2] ॥ ३२२ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।
स्पर्शेन्द्रियमतिपूर्वं श्रुतज्ञानं लब्ध्यक्षरकम् ॥ ३२२ ॥

अर्थ—सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है।

भावार्थ—लब्धि नाम श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका[3] है, और अक्षर नाम अविनश्वरका है; इसलिये इस ज्ञानको लब्ध्यक्षर कहते है; क्योंकि इस क्षयोपशमका कभी विनाश नहीं होता, कमसे कम इतना क्षयोपशम तो जीवके रहता ही है[4]।

पर्यायसमास ज्ञानका निरूपण करते हैं—

---

१ २ षट् खं. ६ २२ पृ.। ३. अर्थ ग्रहणशक्तिको भी लब्धि कहते हैं।

४. "लब्ध्यक्षरत्वात्" राजवार्तिक अ. १ सू. १६ वार्तिक नं. १७ से मालूम होता है कि पर्याय ज्ञानसे अधिक ज्ञानको भी लब्ध्यक्षर कहते हैं। यहाँ भी आगे गाथा नं. ३३१ की व्याख्यासे यही बात मालूम हो सकेगी।

अवरुवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए ।
संखमसंखमणंतं, गुणवड्ढी होंति हु कमेण ॥ ३२३ ॥

अवरोपरि अनन्तमसंख्यं संख्यं च भागवृद्धयः ।
संख्यमसंख्यमनन्तं गुणवृद्धयो भवन्ति हि क्रमेण ॥ ३२३ ॥

अर्थ—सर्व जघन्य पर्याय ज्ञानके ऊपर क्रमसे अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं ।

जीवाणं च य रासी, असंखलोगा वरं खु संखेज्जं ।
भागगुणम्हि य कमसो, अवट्ठिदा होंति छट्ठाणे ॥ ३२४ ॥

जीवानां च च राशिः असंख्यलोका वरं खलु संख्यातम् ।
भागगुणयोश्च क्रमशः अवस्थिता भवन्ति षट्स्थाने ॥ ३२४ ॥

अर्थ—समस्त जीवराशि, असंख्यात लोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोंमें भागहार और गुणाकारकी क्रमसे अवस्थित राशि हैं ।

भावार्थ—अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशिप्रमाण अवस्थित है, असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण अवस्थित है । संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है ।

लाघवके लिये छह वृद्धियोंकी छह संज्ञा रखते हैं—

उव्वंकं चउरंकं, पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च ।
छव्वड्ढीणं सण्णा, कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं ॥ ३२५ ॥

उर्वंकश्चतुरङ्कः पंचषट्सप्तांकः अष्टांकश्च ।
षड्वृद्धीनां संज्ञा क्रमशः संदृष्टिकरणार्थम् ॥ ३२५ ॥

अर्थ—लघुरूप संदृष्टिकेलिये क्रमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञाएं हैं । अनन्तभागवृद्धिकी-उर्वङ्क असंख्यातभागवृद्धिकी चतुरङ्क, संख्यातभागवृद्धिकी पंचाङ्क संख्यातगुणवृद्धिकी षडङ्क, असंख्यातगुणवृद्धिकी सप्ताङ्क, अनन्तगुणवृद्धिकी अष्टाङ्क ।

भावार्थ—अनन्तभाग आदि ६ वृद्धियोंके सूचक क्रमसे ये छह संकेत हैं । ३, ४, ५, ६, ७ और ८ ।

अंगुलअसंखभागे, पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी ।
एक्क वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती ॥ ३२६ ॥

अंगुलासंख्यातभागे पूर्वगवृद्धिगते तु परवृद्धिः ।
एकं वारं भवति हि पुनः पुनः चरमवृद्धिरिति ॥ ३२६ ॥

अर्थ—सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण पूर्ववृद्धि होजानेपर एक वार उत्तर वृद्धि होती है । यह नियम अंतकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये ।

भावार्थ—सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागका जितना प्रमाण है उतनी वार अनन्तभागवृद्धि हो जाने पर एक वार असंख्यातभागवृद्धि होती है, इसके अनन्तर पुनः सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागका जितना प्रमाण है उतनी वार अनन्तभागवृद्धि होनेपर फिर एकवार असंख्यातभागवृद्धि होती है। इसी क्रमसे असंख्यात भागवृद्धि भी जब सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण बार होजाय तब सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होने पर एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस ही तरह अन्तकी वृद्धिपर्यन्त जानना।

आदिमछट्ठाणम्हि य, पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु।
छव्वड्ढीओ होंति हु, सरिसा सवत्थ पदसंखा ॥ ३२७ ॥

आदिमषट्स्थाने च पञ्च च वृद्धयो भवन्ति शेषेषु।
षड्वृद्धयो भवन्ति हि सदृशा सर्वत्र पदसंख्या ॥ ३२७ ॥

अर्थ—असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानोंमेंसे प्रथम षट्स्थानमें पाँच ही वृद्धि होती हैं; अष्टांक वृद्धि नहीं होती। शेष सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें अष्टाङ्कसहित छहों वृद्धि होती हैं। सूच्यंगुलका असंख्यातवाँ भाग अवस्थित है, इसलिये पदोंकी संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिये।

प्रथम षट्स्थानमें अष्टाङ्कवृद्धि क्यों नहीं होती ? इसका हेतु लिखते हैं—

छट्ठाणाणं आदी, अट्ठंकं होदि चरिमुव्वंकं।
जम्हा जहण्णणाणं, अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं ॥ ३२८ ॥

षट्स्थानानामादिरष्टाङ्कं भवति चरममुर्वङ्कम्।
यस्माज्जघन्यज्ञानमष्टांकं भवति जिनदृष्टम्[1] ॥ ३२८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टांक और अन्तके स्थानको उर्वङ्क कहते हैं, क्योंकि जघन्य पर्यायज्ञान भी अगुरुलघु गुणके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टाङ्क प्रमाण होता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने प्रत्यक्ष देखा है।

एक्कं खलु अट्ठंकं, सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा।
रूवहियकंडएण य, गुणिदकमा जावमुव्वंकं ॥ ३२९ ॥

एकं खलु अष्टाङ्कं सप्ताङ्कं काण्डकं ततोऽधः।
रूपाधिककाण्डकेन च गुणितक्रमा यावदुर्वङ्कः ॥ ३२९ ॥

अर्थ—एक षट्स्थानमें एक अष्टाङ्क होता है। और सप्ताङ्क अर्थात् असंख्यातगुणवृद्धि, काण्डक--सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण हुआ करती है। इसके नीचे षडंक अर्थात् संख्यातगुणवृद्धि और पंचांक अर्थात् संख्यातभागवृद्धि तथा चतुरंक–असंख्यातभागवृद्धि एवं उर्वंक–अनंतभागवृद्धि ये चार वृद्धियां उत्तरोत्तर क्रमसे एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग से गुणित हैं।

भावार्थ—असंख्यातगुणवृद्धिका प्रमाण सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है। इसको एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर जो प्रमाण हो उतनी वार संख्यातगुणवृद्धि

१—'जिणदिट्ठं' का अर्थ जिनदिष्टं' और जिनदृष्टं दोनों ही तरह से किया गया है।

होंगी। पुनः इसका भी एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतनी बार संख्यातभागवृद्धि होंगी। इसी तरह आगे भी पूर्व प्रमाणको एक-एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर जो प्रमाण हो उतनी उतनी बार क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि और अनन्तभागवृद्धि होंगी। उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागका प्रमाण २ है। तो एक षट् स्थानमें सप्तांक २ बार, षडंक २×३=६ बार, पंचांक ६×३=१८ बार, चतुरंक १८×३=५४ बार और उर्वंक ५४×३=१६२ बार आवेगा।

सम्पूर्ण षड्वृद्धियोंका जोड़ बताते हैं—

सव्वसमासो णियमा, रूवाहियकंडयस्स वग्गस्स।
विंदस्स य संवग्गो, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥ ३३०॥

सर्वसमासो नियमात् रूपाधिककाण्डकस्य वर्गस्य।
वृन्दस्य च संवर्गो भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम्॥ ३३०॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थानपतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड़ है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भावार्थ—एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागको पांच जगह रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतनी बार एक षट्स्थानमें अनन्तभागवृद्धि आदि होते हैं।

उक्कस्ससंखमेत्तं, तत्तिचउत्थेक्कदालछप्पण्णं।
सत्तदसमं च भागं, गंतूण[1] य लद्धिअक्खरं दुगुणं॥ ३३१॥

उत्कृष्टसंख्यातमात्रं तत्त्रिचतुर्थैकचत्वारिंशत्षट्पञ्चाशम्।
सप्तदशमं च भागं गत्वा च लब्ध्यक्षरं द्विगुणम्॥ ३३१॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण असंख्यातवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके ऊपर हो जानेपर एक बार संख्यातभागवृद्धिका स्थान होता है। इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभागवृद्धियोंके होजानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना हो जाता है। परन्तु प्रक्षेपककी वृद्धि कहाँ-कहाँ पर कितनी कितनी होती है यह बताते हैं। उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धिके स्थानोंमेंसे तीन—चौथाई भागप्रमाण स्थानोंके होजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके ऊपर होजानेसे लब्ध्यक्षर-का प्रमाण दूना हो जाता है। पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंके छप्पन भागोंमेंसे इकतालीस भागोंके बीत जानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपकको वृद्धि होनेसे साधिक (कुछ अधिक) जघन्यका दूना प्रमाण होजाता है। अथवा संख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंमेंसे दशभागमें सातभाग प्रमाण स्थानोंके अनन्तर प्रक्षेपक प्रक्षेपकप्रक्षेपकके तथा पिशुली इन तीन वृद्धियोंको साधिक जघन्यके ऊपर करनेसे साधिक जघन्यका प्रमाण दूना होता है।

---

१. गंतूणय—गत्वा चेति चशब्देन सप्तदशमभागादिषु स्थानेषु गत्वा द्विगुणं द्विगुणं भवतीति वीप्सालक्षणः समुच्चयो ज्ञाप्यते मं. प्र.।

एवं असखलोगा, अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा ।
ते पज्जायसमासा, अक्खरगं उवरि वोच्छामि[1] ॥ ३३२ ॥

एवमसंख्यलोका अनक्षरात्मके पट्स्थानानि ।
ते पर्यायसमासा अक्षरगमुपरि वक्ष्यामि ॥ ३३२ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं। ये सब ही पर्यायसमास ज्ञानके भेद हैं। अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुतज्ञानका वर्णन करेंगे।

अर्थाक्षर श्रुतज्ञानको बताते हैं।

चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंकं ।
अत्थक्खरं तु णाणं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं[2] ॥ ३३३ ॥

चरिमोर्वंकेणावहितार्थाक्षरगुणितचरमोर्वङ्कम् ।
अर्थाक्षरं तु ज्ञानं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अन्तके उर्वंकका अर्थाक्षरसमूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वंकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भावार्थ—असंख्यात-लोकप्रमाण षट्स्थानोंमें अन्तके षट्स्थानकी अन्तिम उर्वंक-वृद्धिसे युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञानसे अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है। यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुत-ज्ञानरूप है। इसमें एक कम एकट्ठीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है

श्रुतनिवद्ध विषयका प्रमाण बताते हैं।

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिवद्धो[3] ॥ ३३४ ॥

प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलप्यानाम् ।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिवद्धः ॥ ३३४ ॥

अर्थ—अनभिलप्य पदार्थोंके अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं। और प्रज्ञा-पनीय पदार्थोंके अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुतमें निवद्ध हैं।

भावार्थ—जो केवल केवलज्ञानके द्वारा जाने जा सकते हैं; किन्तु जिनका वचनके द्वारा निरू-पण नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त है। इस तरहके पदार्थोंसे अनन्तमें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि जिनका वचनके द्वारा निरूपण हो सकता है, उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तवां भाग श्रुतमें निरूपित है।

एयक्खरादु उवरिं, एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।
संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुदणाणं[4] ॥ ३३५ ॥

१, २ षट् खं. ६, पृ. २२। ३. षट् खं. ८, पृ. ५७। ४,—ष. खं. ६ पृ. २१।

एकाक्षरात्तूपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः
संख्येये खलु वृद्धे पदनाम भवति श्रुतज्ञानम् ।। ३३५ ।।

अर्थ—अक्षर ज्ञानके ऊपर क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होजाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है । अक्षर ज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पूर्व तक जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अक्षरसमास ज्ञानके भेद हैं ।

एक पदके अक्षरोंका प्रमाण बताते हैं—

सोलससयचउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चेव ।
सत्तसहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा[1] ।। ३३६ ।।

षोडशशतचतुस्त्रिंशत्कोटयः त्र्यशीतिलक्षकं चैव ।
सप्तसहस्राण्यष्टशतानि अष्टाशीतिश्च पदवर्णाः ।। ३३६ ।।

अर्थ—सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी (१६३४८३०७-८८८) एक पदमें अक्षर होते हैं ।

भावार्थ—पद तीन तरहके होते हैं—अर्थ पद, प्रमाण पद, मध्यम पद । इनमेंसे "सफेद गौको रस्सीसे बांधो" "अग्निको लाओ" इत्यादि अनियत अक्षरोंके समूहरूप किसी अर्थविशेषके बोधक वाक्यको अर्थपद कहते हैं । आठ आदिक अक्षरोंके समूहको प्रमाणपद कहते हैं, जैसे अनुष्टुप् श्लोक के एक पादमें आठ अक्षर होते हैं । इस ही तरह दूसरे छन्दोंके पदोंमें भी तत्तत् छन्दके लक्षणके अनुसार नियत संख्यामें अक्षरोंका प्रमाण न्यूनाधिक होता है । परन्तु इस गाथामें कहे हुए पदके अक्षरोंका प्रमाण सर्वदाके लिये निश्चित है, इस ही को मध्यमपद कहते हैं । परमागममें द्रव्यश्रुतका ज्ञान करानेके लिये जहां पदोंका प्रमाण बताया गया है वहां यह मध्यम पद ही समझना चाहिये । शेष अर्थपद और प्रमाणपद लोक व्यवहारके अनुसार हुआ करते हैं ।

संघात श्रुतज्ञानको बताते हैं—

एयपदादो उवरिं, एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।
संखेज्जसहस्सपदे, उड्ढे संघादणाम सुदं[2] ।। ३३७ ।।

एकपदादुपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः ।
संख्यातसहस्रपदे वृद्धे संघातनाम श्रुतम् ।। ३३७ ।।

अर्थ—एक पदके आगे भी क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदोंकी वृद्धि होजाय उसको संघातनामक श्रुतज्ञान कहते हैं । एक पदके ऊपर और संघातनामक ज्ञानके

१,—प. खं. ६ पृ. २३ ।

२—प. खं. पृ. २३ ।

तच्च चतसृणां गतीनां मध्ये एकतमगतिस्वरूपनिरूपकमध्यमपदसमुदायरूपसंघातश्रवणजनितार्थज्ञानं मं. प्र. तथा जी. प्र. । "तत्थ णिरयगईए जत्तिएहि पदेहि एगा पुढवी परूविज्जदि तत्तियाणं पदाणं तेहिंतो उप्पण्णसुदणाणस्स य संघायसण्णा ति उत्तं होदि ।" इति षट्. खं. ६ पृ. २३ ।

पूर्व जितने ज्ञानके भेद हैं वे सब पदसमासके भेद हैं। यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतिमेंसे एक गतिके स्वरूपका निरूपण करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदोंके समूहसे उत्पन्न अर्थज्ञानरूप है।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं—

एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु[1] उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती ॥ ३३८ ॥

एकतरगतिनिरूपकसंघातश्रुतादुपरि पूर्वं वा।
वर्णे संख्येये संघाते वृद्धे प्रतिपत्तिः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—चार गतिमेंसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक-एक अक्षरकी तथा पदों और संघातोंकी वृद्धि होते होते जब संख्यात[2] हजार संघातकी वृद्धि हो जाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है। संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके मध्य में जितने ज्ञानके विकल्प हैं उतने ही संघातसमासके भेद हैं। यह ज्ञान नकरादि चार गतियोंका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं—

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो[3] दु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं ॥ ३३९ ॥

चतुर्गतिस्वरूपरूपकप्रतिपत्तितस्तु उपरि पूर्वं वा।
वर्णे संख्याते प्रतिपत्तिवृद्धे अनुयोगम् ॥ ३३९ ॥

अर्थ—चारों गतियोंके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर क्रमसे पूर्वकी तरह एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि होजाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्तिसमास ज्ञानके भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्तिसमासज्ञानके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओंका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतकका स्वरूप दो गाथाओं द्वारा बताते हैं—

चोद्दसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि[4] ॥ ३४० ॥

चतुर्दशमार्गणासंपुतानुयोगादुपरि वर्धिते वर्णे।
चतुराद्यनुयोगे द्विकवारं प्राभृतं भवति ॥ ३४० ॥

अर्थ—चौदह मार्गणाओंका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब चतुरादि अनुयोगोंकी वृद्धि हो जाय तब प्राभृतप्राभृतक श्रुत-

---

१, २—संख्यातसहस्रेषु वृद्धेषु, इति म. प्र., जी. प्र.।

३. ष. खं. पृ. २४ जत्तिएहि पदेहि एयगइइन्द्रियकायजोगादओ परूविज्जंति तेसिं पडिवत्ती सण्णा।

४—ष. खं. ६ पृ. २४।

ज्ञान होता है। इसके पहले और अनुयोग ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अनुयोग-समासके भेद जानना।

अहियारो पाहुडयं, एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो।
पाहुडपाहुडणामं, होदि त्ति जिणेहिं णिदिट्ठं ॥ ३४१ ॥

अधिकारः प्राभृतमेकार्थः प्राभृतस्याधिकारः।
प्राभृतप्राभृतनामा भवतीति जिनैर्निष्टम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—प्राभृत और अधिकार ये दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अत एव प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

भावार्थ—वस्तुनाम श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और अधिकारके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

प्राभृतका स्वरूप बताते हैं—

दुगवारपाहुडादो, उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।
दुगवारपाहुडे संउड्ढे खलु होदि पाहुडयं[1] ॥ ३४२ ॥

द्विकवारप्राभृतादुपरि वर्णे क्रमेण चतुर्विंशतौ।
द्विकवारप्राभृते संवृद्धे खलु भवति प्राभृतकम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब चौबीस प्राभृतप्राभृतकी वृद्धि होजाय तब एक प्राभृतक श्रुतज्ञान होता है। प्राभृतके पहले और प्राभृतप्राभृतके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमासके भेद जानना। उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृत ज्ञान होता है।

वस्तु श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं।

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो।
एक्केक्कवण्णउड्ढी, कमेण सव्वत्थ णायव्वा[2] ॥ ३४३ ॥

विंशतौ विंशतौ प्राभृताधिकारे एको वस्त्वधिकारः।
एकैकवर्णवृद्धिः क्रमेण सर्वत्र ज्ञातव्या ॥ ३४३ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञानके ऊपर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते होते जब क्रमसे बीस प्राभृतकी वृद्धि हो जाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है। वस्तु ज्ञानके पहले और प्राभृत ज्ञानके ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञानके भेद हैं। उत्कृष्ट प्राभृतसमासमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे वस्तु नामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है।

भावार्थ—गाथामें "वीसं वीसं" ऐसा वीप्सा वचन दिया है। इससे ऐसा समझना चाहिये कि

१, प. खं. ६ पृ. २५।
२. प. खं. ६ पृ. २५।

एक एक वस्तु अधिकारमें वीस वोस प्राभृत होते हैं और एक एक प्राभृतमें चौबीस चौवीस प्राभृत-प्राभृत होते हैं। अक्षरसमासके प्रथम भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त एक एक अक्षरकी वृद्धि होती है। उसके वाद पद संघातादिककी भी वृद्धि उसी क्रमसे पूर्वसमासके अन्तिम भेद तक—क्रिया-विशालसमासके उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त होती जाती है।

पूर्व ज्ञानके भेदोंकी संख्या वताते हैं—

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४४ ॥

दश चतुर्दशाष्ट अष्टादशकं द्वादश च द्वादश षोडश च।
विंशतिः त्रिशत् पञ्चदश च दश चतुर्षु वस्तूनाम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, वारह, सोलह, वीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

चौदह पूर्वके नाम गिनाते हैं—

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४५ ॥
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य ॥ ३४६ ॥

उत्पादपूर्वाग्रायणीयवीर्यप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि।
ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च ॥ ३४५ ॥
प्रात्याख्यानं वीर्यानुवादकल्याप्राणवादानि च।
क्रियाविशालपूर्वं क्रमशः अथ त्रिलोकविन्दुसारं च ॥ ३४६ ॥

अर्थ—उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल, त्रिलोक-विन्दुसार, इस तरहसे ये क्रमसे पूर्वज्ञानके चौदह भेद हैं।

भावार्थ—वस्तुज्ञानके ऊपर एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे पद संघातआदिकी वृद्धि होते-होते जव क्रमसे दश वस्तुकी वृद्धि होजाय तव पहला उत्पादपूर्व होता है। इसके आगे क्रमसे अक्षर पद संघात आदिककी वृद्धि होते-होते जव चौदह वस्तुकी वृद्धि होजाय तव दूसरा आग्रायणीय पूर्व होता है। इसके आगे भी उसी प्रकार क्रमसे अक्षर पद संघात आदिकी वृद्धि होते-होते जव क्रमसे आठ वस्तुकी वृद्धि होजाय तव तीसरा वीर्यप्रवाद होता है। इसके आगे क्रमसे अक्षरादिककी वृद्धि होते होते जव अठारह वस्तुकी वृद्धि होजाय तव चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद होता है। इस ही तरह आगेके पाचवें आदिक पूर्व भी क्रमसे वारह, वारह, सोलह, वीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश, वस्तुकी वृद्धिके होनेसे होते हैं। अर्थात् अस्तिनास्तिप्रवादके ऊपर क्रमसे वारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे पाँचवाँ ज्ञानपवाद और ज्ञानप्रवादके ऊपर भी क्रमसे वारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे सत्यप्रवाद होता है। इस ही तरह आगेके आत्मप्रवाद आदिकका प्रमाण भी समझना चाहिये।

चौदह पूर्वके समस्त वस्तु और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतोंके जोड़का प्रमाण बताते हैं।

पणणउदिसया वत्थू, पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि, पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि॥ ३४७॥

पञ्चनवतिशतानि वस्तूनि प्राभृतकानि त्रिसहस्रनवशतानि।
एतेषु चतुर्दशस्वपि पूर्वेषु भवन्ति मिलितानि॥ ३४७॥

अर्थ—इन चौदह पूर्वोके सम्पूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पंचानवे (१९५) होता है। और एक एक वस्तुमें बीस बीस प्राभृत होते हैं, इसलिये सम्पूर्ण प्राभृतोंका प्रमाण तीन हजार नौ सौ (३९००) होता है।

पहले बीस प्रकारका जो श्रुतज्ञान बताया था उस ही का दो गाथाओंमें उपसंहार करते हैं—

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च॥ ३४८॥
कमवण्णुत्तरवड्ढिय, ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं गंथे, बारस य चोद्दसयं॥ ३४९॥

अर्थाक्षरं च पदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च।
द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च॥ ३४८॥

क्रमवर्णोत्तरवर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगताः।
ज्ञानविकल्पे विंशतिः ग्रन्थे द्वादश च चतुर्दशकम्॥ ३४९॥

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व, ये नव तथा क्रमसे एक-एक अक्षरकी वृद्धिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले अक्षरसमास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्यश्रुतके होते हैं। पर्याय और पर्यायसमासके मिलानेसे बीस भेद ज्ञानरूप श्रुतके होते हैं। यदि ग्रन्थरूप श्रुतकी विवक्षा की जाय तो आचाराङ्ग आदि बारह और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

भावार्थ—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत इस तरहसे श्रुतके जो दो भेद किये गये हैं उनमें शब्दरूप और ग्रन्थरूप सब द्रव्यश्रुत है और जो ज्ञानरूप है वह सब भावश्रुत है। गाथाके अन्तमें जो "च" है उससे अंगबाह्य सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णकोंका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

द्वादशाङ्गके समस्त पदोंकी संख्या बताते हैं—

बारुत्तरसयकोडी, तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं॥ ३५०॥

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिस्तथा भवन्ति लक्षाणाम्।
अष्टापंचाशत्सहस्राणि पंचैव पदानि अङ्गानाम्॥ ३५०॥

अर्थ—द्वादशांगके समस्त पद एक सौ बारह करोड़ त्र्यासी लाख अट्ठावन हजार पांच (११२८३५८००५) होते हैं।

अंगवाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण वताते हैं—

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च ।
पण्णत्तरि वण्णाओ, पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५१ ॥

अष्टकोटयेकलक्षाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च ।
पंचसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५१ ॥

अर्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) प्रकीर्णक (अंगवाह्य) अक्षरोंका प्रमाण है।

चार गाथाओं द्वारा उक्त अर्थको समझनेकी प्रक्रिया वताते हैं—

तेत्तीस वेंजणाइं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।
चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५२ ॥

त्रयस्त्रिंशत् व्यंजनानि सप्तविंशतिः स्वरास्तथा भणिताः ।
चत्वारश्च योगवहाः चतुःषष्टिः मूलवर्णाः ॥ ३५२ ॥

अर्थ—तेतीस व्यंजन सत्ताईस स्वर चार योगवाह इस तरह कुल चौंसठ मूलवर्ण होते हैं।

भावार्थ—स्वरके विना जिनका उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धाक्षरोंको व्यंजन कहते हैं। उनके क् ख् से ह् पर्यन्त तेतीस भेद हैं। अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ये नव स्वर हैं, इनके ह्रस्व दीर्घ प्लुतकी अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं। अनुस्वार विसर्ग जिव्हामूलीय उपध्मानीय ये चार योगवाह हैं। सव मिलकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवर्ण हैं।

यद्यपि दीर्घ ऌ वर्ण संस्कृतमें नहीं है तव भी अनुकरणमें अथवा देशान्तरोंकी भाषामें आता है, इसलिये चौंसठ वर्णोंमें इसका भी पाठ है।

चउसट्ठिपदं विरलिय, दुगं च दाउण संगुणं किच्चा ।
रूऊणं च कए पुण, सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५३ ॥

चतुःषष्ठिपदं विरलयित्वा द्विकं च दत्वा संगुणं कृत्वा ।
रूपोने च कृते पुनः श्रुतज्ञानस्याक्षराणि भवन्ति ॥ ३५३ ॥

अर्थ—उक्त चौंसठ अक्षरोंका विरलन करके प्रत्येकके ऊपर दो अङ्क देकर परस्पर सम्पूर्ण दोके अङ्कोंका गुणा करनेसे लब्ध राशिमें एक घटा देनेपर जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुतज्ञानके अपुनरुक्त अक्षर होते हैं।

वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण वताते हैं[1]—

१—इनके संयोगका विस्तृत विधान उदाहरणपूर्वक वड़ी टीकामें दिखाया गया है। वहाँसे देखकर समझ लेना चाहिये जिससे मालूम हो सकेगा कि किस-किस अक्षरके कितने-कितने संयोगी भंग वनते हैं और वे किस प्रकार से वनते हैं।

एकट्ठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च ॥ ३५४ ॥

एकाष्ट च च च षट्सप्तकं च च च शून्यसप्तत्रिकसप्त ।
शून्यं नव पंच पंच च एकं षट्कैककश्च पंचकं च ॥ ३५४ ॥

अर्थ—परस्पर गुणा करनेसे उत्पन्न होनेवाले अक्षरोंका प्रमाण इस प्रकार—एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पांच पांच एक छह एक पांच ।

भावार्थ—१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अंगप्रवृष्ट और अंगवाह्य श्रुतके समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं । पुनरुक्त अक्षरोंकी संख्याका नियम नहीं है ।

इन अक्षरोंमेंसे अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतके अक्षरों का विभाग करते हैं--

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।
सेसक्खरसंखा ओ, पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५५ ॥

मध्यमपदाक्षरावहितवर्णास्ते अंगपूर्वपदानि ।
शेषाक्षरसंख्या अहो प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५५ ॥

अर्थ—मध्यमपदके अक्षरोंका जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरोंके प्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने अंग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं । शेष जितने अक्षर रहें उतना अंगबाह्य अक्षरोंका प्रमाण है ।

भावार्थ—पहले मध्यम पदके अक्षरोंका प्रमाण वताया है कि एक मध्यम पदमें सौलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर होते हैं । जब इतने अक्षरोंका एक पद होता है तब समस्त अक्षरोंके कितने पद होंगे इस तरह त्रैराशिक करनेसे—अर्थात् फलराशि एक मध्यम पद और इच्छाराशि समस्त अक्षरोंके प्रमाणका परस्पर गुणा कर उसमें प्रमाण राशि-एक मध्यम पदके समस्त अक्षरोंके प्रमाणका भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह समस्त मध्यम पदोंका प्रमाण[1] होता है । इन समस्त मध्यम पदोंके जितने अक्षर हुए वे अंगप्रविष्ट अक्षर हैं और जो शेष अक्षर रहे वे अंगबाह्य अक्षर[2] हैं । गाथामें ओ शब्द भव्योंको सम्बोधन करनेके लिये अहोके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् हे भव्यो ! अंग पूर्वके पदोंका और प्रकीर्णकोंके अक्षरोंका प्रमाण इस प्रकार समझो ।

तेरह गाथाओंमें अंगोंके और पूर्वोंके पदोंकी संख्या बताते हैं—

आयारे सुद्दयडे, ठाणे समवायणामगे अंगे ।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५६ ॥
तोवासयअज्झयणे, अंतयडे णुत्तरोववाददसे ।
पण्हाणं वायरणे, विवायसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५७ ॥

१—११२८३५८००५ ।

२—८०१०८१७५ । इनने अक्षरोंसे एक मध्यमपद नहीं होता, इसलिये इनके अक्षरोंका ही प्रमाण वताया गया है ।

आचारे सूत्रकृते स्थाने समवायनामके अंगे।
ततो व्याख्याप्रज्ञप्तौ नाथस्य धर्मकथायां ॥ ३५६ ॥
तत उपासकाध्ययने अन्तकृते अनुत्तरौपपाददशे।
प्रश्नानां व्याकरणे विपाकसूत्रे च पदसंख्या ॥ ३५७ ॥

अर्थ—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तःकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र इन ग्यारह अंगोंके पदोंकी संख्या क्रमसे निम्नलिखित है।

अट्ठारस छत्तीसं, वादालं अडकडी अड वि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं, चउदालं सोलससहस्सा ॥ ३५८ ॥
इगिदुगपंचेयारं, तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया, कोडी य विवागसुत्तम्हि ॥ ३५९ ॥

अष्टादश षट्त्रिंशत् द्वाचत्वारिंशत् अष्टकृतिः अष्टद्वि षट्पंचाशत्।
सप्ततिः अष्टविंशतिः चतुश्चत्वारिंशत् षोडशसहस्राणि ॥ ३५८ ॥
एकद्विकपंचैकादशत्रयोविंशतिद्वित्रिनवतिलक्षं चतुर्थादिषु।
चतुरशीतिलक्षमेका कोटिश्च विपाकसूत्रे ॥ ३५९ ॥

अर्थ—आचारांगमें अठारह हजार पद हैं, सूत्रकृतांगमें छत्तीस हजार, स्थानांगमें वियालीस हजार, समवायांगमें एक लाख चौंसठ हजार, व्याख्याप्रज्ञप्तिमें दो लाख अट्ठाईस हजार, धर्मकथांग में पांच लाख छप्पन हजार, उपासकाध्ययनांगमें ग्यारह लाख सत्तर हजार अंतःकृद्दशांगमें तेईस लाख अट्ठाईस हजार, अनुत्तरौपपादिक दशांगमें वानवे लाख चवालिस हजार, प्रश्न व्याकरण अंगमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं। तथा ग्यारहवें विपाकसूत्र अंगमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं।

सम्पूर्ण पदोंका जोड़ वताते हैं—

वापणनरनोनानं, एयारंगे जुदी हु वादम्हि।
कनजतजमताननमं, जनकनजयसीम वाहिरे वण्णा ॥३६०॥

वापणनरनोनानं एकादशांगे युतिर्हि वादे।
कनजतजमताननमं जनकनजयसीम वाह्ये वर्णाः ॥३६०॥

अर्थ—पूर्वोक्त ग्यारह अंगोंके पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (४१५०२०००) होता है। वारहवें दृष्टिवाद अंगमें सम्पूर्ण पद एक अरव आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पांच (१०८६८५६००५) होते हैं। अंगवाह्य अक्षरोंका प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) है।

वारहवें अंगके भेद और उनके पदोंका प्रमाण वताते हैं—

चंदरविजंवुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती।
परियम्मं पचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥३६१॥

पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥३६२॥

चन्द्ररविजम्बूद्वीपकद्वीपसमुद्रकव्याख्याप्रज्ञप्तयः।
परिकर्म पंचविधं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः ॥३६१॥
पूर्वजलस्थलमायाकाशकरूपगता इम पंच।
भेदा हि चूलिकायाः तेषु प्रमाणमिदं क्रमशः ॥३६२॥

अर्थ—बारहवें दृष्टिवाद अंगके पाँच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका। इसमें परिकर्मके पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्रका अर्थ सूचित करनेवाला है, इस भेदमें जीव अबंधक ही है, अकर्त्ता ही है, निर्गुण ही है अभोक्ता ही है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है, अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, इत्यादि क्रियावाद अक्रियावाद अज्ञान विनयरूप ३६३ मिथ्यामतोंको पूर्वपक्ष में रखकर दिखाया गया है। प्रथमानुयोगका अर्थ है कि प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि या अव्रतिक अव्युत्पन्न श्रोताको लक्ष्य करके जो प्रवृत्त हो। इसमें ६३ शलाका पुरुषों आदिका वर्णन किया गया है। पूर्वगतके चौदह भेद हैं, जिनका वर्णन आगे करेंगे। चूलिकाके पाँच भेद हैं; जलगता स्थगलता मायागता आकाशगता रूपगता। अब इनके पदोंका प्रमाण क्रमसे बताते हैं।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननननामं रनधजधराननजलादी ॥३६३॥
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे।
कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥३६४॥

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्षाणि।
मननन धममननोननननामं रनधजधरानन जलदिषु ॥३६३॥
याजकनामेनाननमेतानि पदानि भवन्ति परिकर्मणि।
कानवधिवाचनाननमेषः पुनः चूलिकायोगः ॥३६४॥

अर्थ—क्रमसे चन्द्रप्रज्ञप्तिमें छत्तीस लाख पांच हजार[1]; सूर्यप्रज्ञप्तिमें पांच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्या-

---

१—अक्षरोंसे अंकोंका बोध करानेकी रीति गाथा नं १५८ की टीकामें "कटपयपुरस्थवर्णैः "आदि गाथा द्वारा बताई गई है। उसीके अनुसार अक्षरोंसे अंकोंको जानकर पदोंकी प्रमाण संख्या समझ लेनी चाहिये—चन्द्रप्रज्ञप्तिके गतनमनोननं–३६०५००० । सूर्यप्रज्ञप्ति के मनगं नोननं–५०३००० । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिके गोरम नोननं–३२५००० । द्वीपसागरप्रज्ञप्तिके मरगतनोननं–५२३६००० । व्याख्याप्रज्ञप्तिके जवगातनोननं–८४३६००० । सूत्रके जजलक्खा–८८००००० । प्रथमानुयोगके मननन–५००० । चौदह पूर्वोंके धममननोननननामं–९५५००००००५ । प्रत्येक चूलिकाके रनधजधरानन–२०९८९२०० । परिकर्मके याजकनामे नानन–१८१०५००० । चूलिकाके कानवधिवाचनाननं–१०४९४६००० । यही प्रमाण टीकामें वाक्य द्वारा बताया गया है।

प्रज्ञप्तिमें चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं। सूत्रमें अठासी लाख पद हैं। प्रथमानुयोगमें पाँच हजार पद हैं। चौदह पूर्वोंमें पंचानवे करोड़ पचास लाख पाँच पद हैं। पाँचों चूलिकाओंमेंसे प्रत्येकमें दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पाँच प्रकारके परिकर्म के पदोंका जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार है। पाँच प्रकारकी चूलिकाके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार (१०४९४६०००) है।

भावार्थ—यहाँ पर जो अक्षर तथा पदोंका प्रमाण बताया है वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदोंका प्रमाण समझना।

चौदह पूर्वोंमेंसे प्रत्येक पूर्वके पदोंका प्रमाण बताते हैं—

पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ॥३६५॥
छस्सयपण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा।
विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥३६६॥

पंचाशदष्टचत्वारिंशत् पंचत्रिंशत् पंचाशत् पंचाशत् त्रयोदशशतम्।
नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वे पंचपंचाशत् त्रयोदशशतानि॥ ३६५॥
षट्शतपंचाशानि चतुःशतपंचाशत् षट्शतपंचविंशतिः।
द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पंचमं रूपोनं षट्युतानि षष्ठे॥ ३६६॥

अर्थ—दोनों गाथाओंमें उत्पादपूर्व आदि १४ पूर्वोंकी बताई गई संख्याको दो लाखसे गुणा करना चाहिये। विशेष यह है कि इस तरहसे गुणित करनेपर जो संख्या उत्पन्न हो उनमेंसे पाँचवें पूर्वकी संख्या निकालनेके लिये एक कम कर देना चाहिये और छट्ठे पूर्वका प्रमाण जाननेके लिये छह जोड़ देने चाहिये। ऐसा करनेसे पूर्वोंका नियत प्रमाण निकल आता है। दो लाखसे गुणा जिस जिस संख्याके साथ करना चाहिये वह उत्पादपूर्वादिकी गाथोक्त संख्या क्रमसे इस प्रकार है—उत्पादपूर्व को ५०, आग्रायणीय ४८, वीर्यप्रवाद ३५, अस्तिनास्तिप्रवाद, ३०, ज्ञानप्रवाद ५०, सत्यप्रवाद ५०, आत्मप्रवाद १३००, कर्मप्रवाद ९०, प्रत्याख्यान ४२, विद्यानुवाद ५५, कल्याणवाद १३००, प्राणवाद ६५०, क्रियाविशाल ४५०, त्रिलोकविन्दुसार ६२५।

भावार्थ—ऐसा करनेपर प्रत्येक पूर्वके पदोंका जो प्रमाण होगा वह इस प्रकार है—चौदह पूर्वोंमेंसे क्रमसे प्रथम उत्पादपूर्वमें एक करोड़ पद हैं। दूसरे आग्रायणीय पूर्वमें छयानवे लाख पद हैं। तीसरे वीर्यप्रवादमें सत्तर लाख पद हैं। चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं। पाँचमे ज्ञानप्रवादमें एक कम एक करोड़ (९९९९९९९) पद हैं। छट्ठे सत्यप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ छह (१००००००६) पद हैं। सातवें आत्मप्रवादमें छब्बीस करोड़ पद हैं। आठवें कर्मप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं। नौवें प्रत्याख्यान पूर्वमें चउरासी लाख पद हैं। दशवें विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड़ दश लाख पद हैं। ग्यारहवें कल्याणवाद पूर्वमें छब्बीस करोड़ पद हैं। बारहवें प्राणवाद पूर्वमें तेरह करोड़ पद हैं। तेरहवें क्रियाविशाल पूर्वमें नौ करोड़ पद हैं। चौदहवें त्रिलोकविन्दुसारमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं। इन चौदह पूर्वोंमेंसे किस पूर्वमें कितने कितने पद हैं यह इन दो गाथाओंमें बता दिया है। किन्तु अब प्रकरण पाकर यहाँपर द्वादशांग तथा

चौदह पूर्वोमें किस किस विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे विशेष बताया जाता है। प्रथम आचारांगमें "किस तरह आचरण करे ? किस तरह खड़ा हो ? किस तरह बैठे ? किस तरह शयन करे ? किस तरह भाषण करे ? किस तरह भोजन करे ? जिससे कि पापका बन्ध न हो। अर्थात् किस तरहसे इन क्रियाओंके तथा अन्य भी इस तरहकी क्रियाओंके करनेपर भी पापका बन्ध नहीं होता ?" इत्यादि प्रश्नोंके अनुसार "यत्नपूर्वक आचरण करे, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक शयन करे, यत्नपूर्वक भाषण करे, यत्नपूर्वक भोजन करे, इस तरहसे पापका बन्ध नहीं होता।"[1] अर्थात् किसी भी क्रियाके यत्नाचार पूर्वक प्रमाद रहित होकर करनेपर पापका बन्ध नहीं होता। इत्यादि उत्तररूप वाक्यों द्वारा मुनियोंके समस्त आचरणका वर्णन[2] है। दूसरे[3] सूत्रकृतांगमें ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनक्रियाका अथवा प्रज्ञाप्रभा कल्पाकल्प छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मक्रियाका, तथा स्वसमय और परसमयका स्वरूप सूत्रोंके द्वारा बताया गया है। तीसरे स्थानांग[4]में सम्पूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर कितने विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन किया है। जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीवद्रव्यका एक ही स्थान (विकल्प = भेद) है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षासे दो भेद हैं, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षासे तीन भेद हैं, चार गतियोंसे चार भेद हैं। इस ही तरह पुद्गल आदिक द्रव्योंके भी विकल्प समझना। चौथे समवायांगमें[5] सम्पूर्ण द्रव्योंमें परस्पर किस किस धर्मकी अपेक्षासे सादृश्य है यह बताया है। पांचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति[6] अंगमें जीव है या नहीं ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है ? एक है या अनेक है ? इत्यादि गणधरदेवके साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान है। छट्ठे नाथधर्मकथा[7] अथवा ज्ञातृधर्मकथा अंगमें जीवादि वस्तुओंका स्वभाव, तीर्थंकरोंका माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयधर्मका स्वरूप बताया है। तथा गणधर इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी कथा उपकथाओंका वर्णन है। सातवें उपासकाध्ययन[8] अंगमें उपासकोंकी (श्रावकोंकी) सम्यग्दर्शनादि ग्यारह प्रतिमासम्बन्धी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रियाकाण्ड और उनके मन्त्रादिकोंका सविस्तार वर्णन किया है। आठवें अन्तकृद्दशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें[9] जो दश दश मुनि चार प्रकारका उपसर्ग सहन करके संसारके अन्तको

---

१. कथं चरे. कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए, कथं भुंजीज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधई" इसके उत्तरमें "चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये, जदं भुंजीज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधई" इत्यादि।

२—आचरंते-मोक्षमार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः।

३—सूत्रैः कृतं-करणं-क्रिया विशेषः वर्ण्यते यस्मिन् तत् सूत्रकृतम्।

४—एकाद्येकोत्तराणि स्थानानि तिष्ठन्ति यस्मिन् तत् स्थानं।

५—द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य जीवाद्यर्थाः संग्रहेण-सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते यस्मिन् तत् समवायम्।

६—वि-विविधाः आख्याः-गणधरदेवकृतषष्टिसहस्रप्रश्नानि प्र-प्रकर्षेण ज्ञाप्यन्ते यत्र सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः।

७—नाथा-त्रिलोकेश्वरस्वामिनस्तीर्थंकरास्तेषां धर्मकथा। अथवा ज्ञातृणां तीर्थकरादीनां धर्मकथा।

८—आहारादिदानैः पूजाविधानैश्च संवमुपासंते ते उपासकास्ते अधीयंते-पठ्यन्ते-वर्ण्यन्ते यस्मिन् तत् उपासकाध्ययनं।

९—एक तीर्थंकरके अनन्तर जब तक दूसरा तीर्थंकर उत्पन्न न हो तब तकके समयको प्रथम तीर्थंकरका तीर्थ कहते हैं।

प्राप्त हुए उनका वर्णन है। नौवें अनुत्तरौपपादिकदशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश-दश दक्ष मुनियोंका वर्णन है जो कि घोर उपसर्गको सहन करके अन्तमें समाधिके द्वारा अपने प्राणोंका त्याग करके विजय आदि पांच प्रकारके अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए। दशवें प्रश्न-व्याकरण अंगमें दूतवाक्य नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन काल सम्बन्धी धन-धान्यादिका लाभालाभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है। और प्रश्नके अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी इन चार प्रकारकी कथाओंका वर्णन है। ग्यारहवें विपाकसूत्रमें द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार शुभाशुभकर्मोंकी तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग—शक्तिके फल देनेरूप विषयका वर्णन है। बारहवें दृष्टिवाद[1] अंगमें तीन सौ त्रेसठ मिथ्या मतोंका वर्णन और उनका निराकरण है। दृष्टिवाद अंगके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका। परिकर्ममें गणितके करणसूत्रोंका वर्णन है। इसके पांच भेद हैं, चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्तिमें चन्द्रमा-सम्बन्धी विमान आयु परिवार ऋद्धि गमन हानि वृद्धि पूर्ण ग्रहण अर्ध ग्रहण चतुर्थांश ग्रहण आदिका वर्णन है। इसी प्रकार सूर्यप्रज्ञप्तिमें सूर्यसम्बन्धी आयु परिवार गमन ग्रहण आदिका वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु कुलाचल महाह्लद (तलाब) क्षेत्र, कुण्ड वेदिका वन व्यन्तरोंके आवास महानदी आदिका वर्णन है। द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें असंख्यात द्वीप और समुद्रोंका स्वरूप तथा वहाँपर होनेवाले अकृत्रिम चैत्यालयों आदिका वर्णन है। व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें रूपी अरूपी जीव अजीव द्रव्योंका भव्य अभव्य-भेद प्रमाण लक्षणोंका अनन्तरसिद्ध परम्परासिद्धोंका तथा दूसरी वस्तुओंका भी वर्णन है। दृष्टिवादके दूसरे भेद—सूत्रमें तीनसौ त्रेसठ मिथ्यादृष्टियोंका पूर्वपक्षपूर्वक निराकरण है। तीसरे भेद प्रथमानुयोगमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन है। चौथे पूर्वके चौदह भेद हैं। उनमें किस किस विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे क्रमसे बताते हैं। उत्पादपूर्वमें प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्य और उनके संयोगी धर्मोंका वर्णन है। आग्रायणीय पूर्वमें द्वादशांगमें प्रधानभूत सातसौ सुनय तथा दुर्णय पंचास्तिकाय षड् द्रव्य सप्त तत्व नव पदार्थ आदिका वर्णन है। वीर्यानुवादमें आत्मवीर्य परवीर्य उभयवीर्य बालवीर्य तपोवीर्य गुणवीर्य पर्यायवीर्य आदि अनेक प्रकारके वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है। अस्तिनास्तिप्रवादमें स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगीका वर्णन है। ज्ञानप्रवादमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलरूप प्रमाण ज्ञान, तथा कुमति कुश्रुत विभंगरूप अप्रमाण ज्ञानके स्वरूप संख्या विषय फलका वर्णन है। सत्यप्रवादमें आठ प्रकारके शब्दोच्चारणके स्थान[2], पांच प्रयत्न[3], वाक्यसंस्कारके कारण, शिष्ट दुष्ट शब्दोंके प्रयोग, लक्षण[4], वचनके भेद, बारह प्रकारकी भाषा[5]

१—दृष्टीनां मिथ्यादर्शनानां वादः—पूर्वोत्तरपक्षकथनं यत्र।

२—उरःकण्ठशिरोजिह्वामूलदंतनासिकाताल्वोष्टाख्यानि अष्टौ स्थानानि।

३—स्पृष्टतेषत्स्पृष्टताविवृततेषद्विवृततासंवृततारूपाः पंचप्रयत्नाः।

४—व्याकरण।

५—१. अनिष्ट कथन, २. कलह वचन, ३. पैशून्य वचन, ४. असंबद्धप्रलाप, ५. रतिवाक् ६. अरति वाक्, ७. उपधिवाक, ८. निकृतिवाक् ९. अप्रणतिवाक् १०. मोपवाक् ११. सम्यग्दर्शन वाक् १२. मिथ्यादर्शनवाक्।

अनेक प्रकारके असत्यवचन, दशप्रकारका सत्यवचन[1], वाग्गुप्ति, मौन आदिका वर्णन है। आत्मप्रवादमें आत्माके कर्तृत्व आदिका वर्णन[2] है। कर्मप्रवादमें मूलोत्तर प्रकृति तथा बंध उदय उदीरणा आदिकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है। प्रत्याख्यानपूर्वमें नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव, पुरुषके संहनन आदिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है। विद्यानुवादमें अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्पविद्या, तथा रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्याओंका स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र तन्त्र पूजा–विधान आदिका, तथा सिद्ध विद्याओंका फल और अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर स्वप्न लक्षण व्यंजन छिन्न इन आठ महानिमित्तोंका वर्णन है। कल्याणवादमें तीर्थंकरादिके गर्भावतरणादि कल्याण, उनके कारण पुण्यकर्म षोडश भावना आदिका, तथा चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्रोंके चारका एवं ग्रहण शकुन आदिके फलका वर्णन है। प्राणावादमें कायचिकित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका, इडा पिंगला आदिका, दश प्राणोंके उपकारक अपकारक द्रव्योंका गतियोंके अनुसारसे वर्णन किया है। क्रियाविशालमें संगीत छंद अलंकार पुरुषोंकी बहत्तर कला स्त्रीके चौंसठ गुण, शिल्पादि विज्ञान, गर्भाधानादि क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है। त्रिलोकबिन्दुसारमें लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्षका स्वरूप, उसके गमनका कारण, क्रिया, मोक्षसुखके स्वरूपका वर्णन है। दृष्टिवादनामक बारहवें अंगका पांचवां भेद चूलिका है। उसके पांच भेद हैं, जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता। इनमेंसे जलगतामें जलगमन अग्निस्तम्भन अग्निभक्षण अग्निका आसन अग्निप्रवेश आदिके मन्त्र तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है। स्थलगतामें मेरु कुलाचल भूमि आदिमें प्रवेश शीघ्रगमन आदिके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है। मायागतामें इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्रादिका वर्णन है। आकाशगतामें आकाशगमनके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है। रूपगतामें सिंहादिक अनेक प्रकारके रूप बनानेके कारणभूत मन्त्रादिका वर्णन है।

अंगबाह्य श्रुतके भेद गिनाते हैं—

सामइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं॥ ३६७॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं॥ ३६८॥

सामायिकं चतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणम्।
वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनम्॥ ३६७॥
कल्प्यव्यवहार–कल्पाकल्प्यिक–महाकल्प्यं च पुंडरीकम्।
महापुंडरीकं निषिद्धिका इति चतुर्दशांगबाह्यम्॥ ३६८॥

अर्थ—सामायिक चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकलिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अंगबाह्यश्रुतके चौदह भेद हैं[3]।

१—देखो गाथा नं, २२२।

२—जीवो कत्ता य वेत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो आदि मन्द प्र.।

३—इनका स्वरूप अर्थ निरुक्ति भेद आदि बड़ी टीका में देखना चाहिये।

श्रुतज्ञानका माहात्म्य बताते हैं—

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६९ ॥

श्रुतं केवलं च ज्ञानं द्वेऽपि सदृशे भवतो बोधात् ।
श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानम्[1] ॥ ३६९ ॥

अर्थ—ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—जिस तरह श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जानता है उस ही तरह केवलज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जानता है। विशेषता इतनी ही है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मनको सहायतासे होता है, इसलिये परोक्ष-अविशद अस्पष्ट है। इसकी अमूर्त पदार्थोंमें और उनकी अर्थपर्यायों तथा दूसरे सूक्ष्म अंशोंमें स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु केवलज्ञान निरावरण होनेके कारण समस्त पदार्थों और उनके सम्पूर्ण गुणों तथा पर्यायोंको स्पष्टरूपसे विषय करता[2] है।

क्रमप्राप्त अवधिज्ञानका निरूपण करते हैं—

अवहीयदि त्ति ओही, सीमाणाणे त्ति वण्णियं समये ।
भवगुणपच्चयविहियं, जमोहिणाणे त्ति णं वेंति ॥ ३७० ॥[3]

अवधीयत इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये ।
भवगुणप्रत्ययविधिकं यदवधिज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३७० ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो उसको अवधिज्ञान कहते हैं। इस ही लिये परमागममें इसको सीमाज्ञान कहा है। तथा इसके जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय।

भावार्थ—नारकादि भवकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान हो उसको भवप्रत्यय अवधि कहते हैं। जो सम्यग्दर्शनादि कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान होता है उसको गुणप्रत्यय अवधि कहते हैं। इसके विषयके परिमित होनेसे इस ज्ञानको अवधिज्ञान अथवा सीमाज्ञान कहते हैं। यद्यपि दूसरे मतिज्ञानादिके विषयकी भी सामान्यसे सीमा है, इसलिये दूसरे ज्ञानोंको भी अवधिज्ञान कहना चाहिये; तथापि समभिरूढनयकी अपेक्षासे ज्ञानविशेषको ही अवधिज्ञान कहते हैं।

दोनों प्रकारके अवधिज्ञानका स्वामी तथा स्वरूप बताते हैं—

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थे वि सव्वअंगुत्थो ।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिण्हभवो ॥ ३७१ ॥

१—स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ स.म. देवागम।
२—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य त. सू. अ. १ सू. २९।
३—षट् खं. १ गा. १८४।

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेऽपि सर्वांगोत्थम् ।
गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिन्हभवम् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके भी होता है और यह ज्ञान सम्पूर्ण अंगसे उत्पन्न होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिन्होंसे होता है।

भावार्थ—नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं, उस जगहके आत्मप्रदेशोंसे प्रगट होनेवाले अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे प्रगट होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान सभी देव और नारकियोंके होता है, क्योंकि उसमें भव प्रधान कारण है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य तिर्यंचोंके ही होता है, परन्तु सबके नहीं होता, क्योंकि इसके होनेमें मुख्य कारण गुण हैं।

आगेकी गाथाके उत्तरार्धमें प्रकारान्तरसे सामान्य अवधिके तथा पूर्वार्धमें गुणप्रत्यय अवधिके भेदोंको गिनाते हैं—

गुणपच्चइगो छद्धा, अणुगावट्ठिदपवड्ढमाणिदरा ।
देसोही परमोही, सव्वोहि त्ति य तिधा ओही ॥ ३७२ ॥

गुणप्रत्ययकः षोढा अनुगावस्थितप्रवर्धमानेतरे ।
देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च त्रिधा अवधिः ॥ ३७२ ॥

अर्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञानके छह भेद हैं, अनुगामी अननुगामी अवस्थित अनवस्थित वर्धमान हीयमान। तथा सामान्यसे अवधिज्ञानके देशावधि परमावधि सर्वावधि इसतरहसे तीन भेद भी होते हैं।

भावार्थ—जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ जाय उसको अनुगामी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी। जो दूसरे क्षेत्रमें अपने स्वामीके साथ जाय उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं। जो दूसरे भवमें साथ जाय उसको भवानुगामी कहते हैं। जो दूसरे क्षेत्र तथा भव दोनोंमें साथ जाय उसको उभयानुगामी कहते हैं। जो अपने स्वामी जीवके साथ न जाय उसको अननुगामी कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं, क्षेत्राननुगामी भावाननुगामी उभयाननुगामी। जो सूर्यमण्डलके समान न घटे न बढ़े उसको अवस्थित कहते हैं। जो चन्द्रमण्डलकी तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसको अनवस्थित कहते हैं। जो शुक्लपक्षके चन्द्रकी तरह अपने अन्तिम स्थानतक बढ़ता जाय उसको वर्धमान अवधि कहते हैं। जो कृष्णपक्षके चन्द्रकी तरह अन्तिम स्थानतक घटता जाय उसको हीयमान अवधि कहते हैं। सामान्यतया अवधिज्ञानके जो तीन भेद बताये हैं उनमेंसे केवल गुणप्रत्यय देशावधिज्ञानके ही अनुगामी आदि छह भेद हुआ करते हैं।

इसके सिवाय विशेष यह है कि—

भवपच्चइगो ओही, देसोही होदि परमसव्वोही ।
गुणपच्चइगो णियमा, देसोही वि य गुणे होदि ॥ ३७३ ॥

भवप्रत्ययकोऽवधिः देशावधिः भवति परमसर्वावधी ।
गुणप्रत्ययकी नियमात् देशावधिरपि च गुणे भवति ॥ ३७३ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधि नियमसे देशावधि ही होता है और परमावधि तथा सर्वावधि नियमसे गुणप्रत्यय ही हुआ करते हैं। देशावधिज्ञान भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनों तरहका होता है।

भावार्थ—दर्शनविशुद्धि आदि गुणोंके निमित्तसे होनेवाला गुणप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकारका होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियमसे देशावधिरूप ही हुआ करता है।

देसोहिस्स य अवरं, णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं ।
परमोही सव्वोही, चरमसरीरस्स विरदस्स ॥ ३७४ ॥

देशावधेश्च अवरं नरतिरश्चोः भवति संयते वरम् ।
परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरस्य विरतस्य ॥ ३७४ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकारके मनुष्य तथा देशसंयमी संयतासंयत तिर्यञ्चोंके होता है। उत्कृष्ट देशावधिज्ञान संयत जीवोंके ही होता है। किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी महाव्रतीके ही होता है।

पडिवादी देसोही, अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ ।
मिच्छत्तं अविरमणं, ण य पडिवज्जंति चरमदुगे ॥ ३७५ ॥

प्रतिपाती देशावधिः अप्रतिपातिनौ भवतः शेषौ अहो ।
मिथ्यात्वमविरमणं न च प्रतिपद्येते चरमद्विके ॥ ३७५ ॥

अर्थ—देशावधिज्ञान प्रतिपाती होता है और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं। परमावधि और सर्वावधिवाले जीव नियमसे मिथ्यात्व और अव्रत अवस्थाको प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—सम्यक्त्व और चारित्रसे च्युत होकर मिथ्यात्व और असंयमकी प्राप्तिको प्रतिपात कहते हैं। इस तरहका यह प्रतिपात देशावधिवालेका ही होसकता है। परमावधि और सर्वावधि वालेका नहीं होता। फलतः ये दोनों अन्तिम अवधिज्ञान अप्रतिपाती ही हैं और देशावधिज्ञान प्रतिपाती अप्रतिपाती दोनों ही तरहका है।

अवधिज्ञानका द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं—

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पडि रूवि जाणदे ओही ।
अवरादुक्कस्सो त्ति य, वियप्परहिदो दु सव्वोही ॥ ३७६ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति रूपि जानीते अवधिः ।
अवरादुत्कृष्ट इति च विकल्परहितस्तु सर्वावधिः ॥ ३७६ ॥

अर्थ—जघन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त अवधिज्ञानके जो असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं वे सब ही द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे प्रत्यक्षतया रूपी (पुद्गल) द्रव्यको ही ग्रहण करते हैं। तथा उसके सम्बन्धसे संसारी जीव द्रव्यको भी जानते हैं। किन्तु सर्वावधिज्ञानमें जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं—वह निर्विकल्प—एक प्रकारका है।

भावार्थ—अवधिज्ञानावरणका सर्वोत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर सर्वावधिज्ञान होता है अतएव उसके ऊपर अवधिज्ञानका फिर कोई स्थान नहीं है, किन्तु देशावधि और परमावधिमें जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तीनों ही भेद पाये जाते हैं।

अवधिज्ञानके विषयभूत सबसे जघन्य द्रव्यका प्रमाण बताते हैं—

णोकम्मुरालसंचं, मज्झिमजोगज्जियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि, अवरोही दव्वदो णियमा॥ ३७७॥

नोकर्मौरालसंचयं मध्यमयोगार्जितं सविस्रसोपचयम्।
लोकविभक्तं जानाति अवरावधिः द्रव्यतः नियमात्॥ ३७७॥

अर्थ—मध्यम योगके द्वारा संचित विस्रसोपचयसहित नोकर्म औदारिक वर्गणाके संचयमें लोकका भाग देनेसे जितना द्रव्य लब्ध आवे उतनेको नियमसे जघन्य अवधिज्ञान द्रव्यकी अपेक्षासे जानता है।

भावार्थ—विस्रसोपचयसहित और जिसका मध्यम योगके द्वारा संचय हुआ हो ऐसे डेढ़गुणहानिमात्र समयप्रबद्धरूप औदारिक नोकर्मके समूहमें लोकप्रमाणका भाग देनेसे जो द्रव्य लब्ध आवे उतने द्रव्यको जघन्य अवधिज्ञान नियमसे जानता है। इससे छोटे स्कन्धको वह ग्रहण नहीं कर सकता। इससे स्थूल स्कन्धके ग्रहण करनेमें बाधा नहीं है।

अवधिज्ञानके विषयभूत जघन्य क्षेत्रका प्रमाण बताते हैं—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्हि।
अवरोगाहणमाणं, जहण्णयं ओहिखेत्तं तु॥ ३७८॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये।
अवरावगाहनमानं जघन्यकमवधिक्षेत्रं तु॥ ३७८॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें जो जघन्य अवगाहना होती है उसका जितना प्रमाण है उतना ही अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण है।

भावार्थ—इतने क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य होंगे जिसका कि प्रमाण पहले बताया गया है उनको जघन्य देशावधिवाला जान सकता है—इसके बाहर जो जघन्य द्रव्य स्थित हैं उनको वह ग्रहण नहीं कर सकता।

जघन्य क्षेत्रके विषयमें विशेष कथन करते है—

अवरोहिखेत्तदीहं, वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो।
अण्णं पुण समकरणे, अवरोगाहणपमाणं तु॥ ३७९॥

अवरावधिक्षेत्रदीर्घं विस्तारोत्सेधकं न जानीमः।
अन्यत् पुनः समीकरणे अवरावगाहनाप्रमाणं तु॥ ३७९॥

अर्थ—जघन्य अवधिज्ञानके क्षेत्रकी ऊँचाई लम्बाई चौड़ाईका भिन्न-भिन्न प्रमाण हम नहीं जानते। तथापि यह मालूम है कि समीकरण करनेसे जितना जघन्य अवगाहनाका प्रमाण होता है उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र है।

भावार्थ—अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रकी ऊँचाई आदिके पृथक्-पृथक् प्रमाणके उपदेशका इस समय अभाव है, परम गुरुओंके उपदेशसे हमको इतना ही मालूम है कि वह जघन्य अवगाहना प्रमाण हुआ करता है।

अवरोगाहणमाणं, उस्सेहंगुलअसंखभागस्स।
सूइस्स य घणपदरं, होदि हु तक्खेत्तसमकरणे ॥ ३८० ॥

अवरावगाहनमानमुत्सेधांगुलासंख्यभागस्य।
सूचेश्च घनप्रतरं भवति हि तत्क्षेत्रसमीकरणे ॥ ३८० ॥

अर्थ—उत्सेधांगुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण भुजा कोटी और वेधमें परस्पर गुणा करनेसे जितना जघन्य अवगाहनाका प्रमाण होता है उतना ही समीकरण करनेसे जघन्य अवधिज्ञानका क्षेत्र होता है।

भावार्थ—यद्यपि जघन्य अवगाहनाके क्षेत्रका कोई एक आकार नियत नहीं है फिर भी यहाँ बताये अनुसार गुणा करनेसे घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य अवगाहनाका और उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र होता है।

अवरं तु ओहिखेत्तं, उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा।
सुहमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ॥ ३८१ ॥

अवरं तु अवधिक्षेत्रमुत्सेधमंगुलं भवेद्यस्मात्।
सूक्ष्मावगाहनमानमुपरि प्रमाणं तु अंगुलकम् ॥ ३८१ ॥

अर्थ—जो जघन्य अवधिका क्षेत्र पहले बताया है वह भी व्यवहारांगुलकी अपेक्षा उत्सेधांगुल ही है; क्योंकि वह सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहना प्रमाण है। परन्तु आगे अंगुलसे प्रमाणांगुलका ग्रहण करना।

भावार्थ—जघन्य अवगाहनाके समान घनांगुलके असंख्यातवें भाग जो जघन्य अवधिका क्षेत्र बताया है वह प्रमाणांगुलकी अपेक्षा नहीं किन्तु व्यवहारांगुलकी अपेक्षासे उत्सेधांगुलके घनप्रमाण घनांगुलका असंख्यातवां भाग होनेसे उत्सेधांगुल ही समझना चाहिये; क्योंकि परमागमका ऐसा नियम है कि शरीर गृह ग्राम नगर आदिका प्रमाण उत्सेधांगुलसे ही लिया जाता है। परन्तु आगे[1] अंगुलशब्दसे प्रमाणांगुल लेना चाहिये।

अवरोहिखेत्तमज्झे, अवरोही अवरदव्वमवगमदि।
तद्दव्वस्सवगाहो उस्सेहासंखघणपदरो ॥ ३८२ ॥

अवरावधिक्षेत्रमध्ये अवरावधिः अवरद्रव्यमवगच्छति।
तद्द्रव्यस्यावगाहः उत्सेधासंख्यघनप्रतरः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि अपने जघन्य क्षेत्रमें जितने भी असंख्यात प्रमाण जघन्य द्रव्य हैं जिसका कि प्रमाण ऊपर बताया जा चुका है उन सबको जानता है। उस द्रव्यका अवगाह उत्सेधांगुलके असंख्यातवें घनप्रतर होता है।

१—अंगुलमावलियाये आदि गा. नं ४०४।

भावार्थ—यद्यपि जघन्य अवधिके क्षेत्रसे जघन्य द्रव्यके अवगाह—क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात-गुणा हीन है; तथापि घनरूप उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भागमात्र ही है। इसकी भुजा कोटी तथा वेधका प्रमाण सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग है।

आवलिअसंखभागं, तीदभविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे, कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८३ ॥

आवल्यसंख्यभागमतीतभविष्यच्च कालतः अवरम्।
अवधिः जानाति भावे कालासंख्यातभागं तु ॥ ३८३ ॥

अर्थ—जघन्य अवधिज्ञान कालकी अपेक्षासे आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण अपने विषयभूत द्रव्यकी व्यंजन पर्यायोंको जानता है। तथा जितनी पर्यायोंको कालकी अपेक्षासे जानता है उसके असंख्यातवें भागप्रमाण वर्तमान कालकी पर्यायोंको भावकी अपेक्षासे जानता है।

इस प्रकार जघन्य देशावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सीमाको बताकर अब आगेके देशावधिज्ञानके द्वितीयादि विकल्पोंका द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं—

अवरद्दव्वादुवरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो।
सिद्धाणंतिमभागो, अभव्वसिद्धादणंतगुणो ॥ ३८४ ॥

अवरद्रव्यादुपरिमद्रव्यविकल्पाय भवति ध्रुवहारः।
सिद्धानन्तिमभागः अभव्यसिद्धादनन्तगुणः ॥ ३८४ ॥

अर्थ—जघन्य द्रव्यके ऊपर द्रव्यके दूसरे भेद निकालनेके लिये ध्रुवहार होता है। इसका (ध्रुवहारका) प्रमाण सिद्धराशिसे अनन्तवें भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणा है।

अवधिज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण बताते हैं—

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे।
समयपबद्धपमाणं, जाणिज्जो ओहिविसयम्हि ॥ ३८५ ॥

ध्रुवहारकार्मणवर्गणागुणकारं कार्मणवर्गणां गुणिते।
समयप्रबद्धप्रमाणं ज्ञातव्यमवधिविषये ॥ ३८५ ॥

अर्थ—ध्रुवहाररूप कार्मणवर्गणाके गुणाकारका और कार्मणवर्गणाका परस्पर गुणा करनेसे अवधिज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका[1] प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—देशावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षासे जितने भेद हों उनमेंसे दो कम करने पर जो प्रमाण हो उसको ध्रुवहार रख परस्पर गुणा करनेसे कार्मणवर्गणाका गुणकार होता है। उसका कार्मणवर्गणाके साथ गुणा करने पर विवक्षित समयप्रबद्धका प्रमाण निष्पन्न होता है।

ध्रुवहारका प्रमाण विशेषतासे बताते हैं—

मणदव्ववग्गणाण, वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो।
अवरुक्कस्सविसेसा, रूवहिया तव्वियप्पा हु ॥ ३८६ ॥

१—जघन्य देशावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यका ही नाम यहांपर समयप्रबद्ध है। पं. टो.।

मनोद्रव्यवर्गणानां विकल्पानन्तिमसमं खलु ध्रुवहारः।
अवरोत्कृष्टविशेषाः रूपाधिकास्तद्विकल्पा हि ॥ ३८६ ॥

अर्थ—मनोद्रव्य[1]वर्गणाके उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे जघन्य प्रमाणके घटानेपर जो शेष रहे उसमें एक मिलानेसे मनोद्रव्य वर्गणाओंके विकल्पोंका प्रमाण होता है। इन विकल्पोंका जितना प्रमाण हो उसके अनन्त भागोंमेंसे एक भागके बराबर अवधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यके ध्रुवहारका प्रमाण होता है।

मनोद्रव्यवर्गणाका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताते हैं—

अवरं होदि अणंतं, अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं।
इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो ॥ ३८७ ॥

अवरं भवति अनन्तमनन्तभागेनाधिकमुत्कृष्टम्।
इति मनोभेदानन्तिमभागो द्रव्ये ध्रुवहारः ॥ ३८७ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गणाका जघन्य प्रमाण अनन्त है, इसमें इसीके (जघन्यके ही) अनन्त भागोंमेंसे एक भागके मिलानेपर मनोवर्गणाका उत्कृष्ट प्रमाण होता है। इस प्रकार जितने मनोवर्गणाके भेद हुए उसके अनन्त भागोंमेंसे एकभागप्रमाण अवधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यके विषयमें ध्रुवहारका प्रमाण होता है।

धुवहारस्स पमाणं, सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
समयपबद्धणिमित्तं, कम्मणवग्गणगुणादो दु ॥ ३८८ ॥
होदि अणंतिमभागो, तग्गुणगारो वि देसओहिस्स।
दोऊणदव्वभेदपमाणद्धुवहारसंवग्गो ॥ ३८९ ॥

ध्रुवहारस्य प्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि।
समयप्रबद्धनिमित्तं कार्मणवर्गणागुणतस्तु ॥ ३८८ ॥
भवत्यनन्तिमभागस्तद्गुणकारो पि देशावधेः।
द्व्यूनद्रव्यभेदप्रमाणध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३८९ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्रुवहारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है, तथापि अवधिज्ञानविषयक समयप्रबद्धका प्रमाण निकालनेके निमित्तभूत कार्मणवर्गणाके गुणकारसे अनन्तवें भाग समझना चाहिये। द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिज्ञानके जितने भेद हैं उनमें दो कम करनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतनी बार ध्रुवहारका परस्पर गुणा करनेसे कार्मण वर्गणाके गुणकारका प्रमाण निकलता है।

देशावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षा कितने भेद हैं यह बताते हैं—

अंगुलअसंखगुणिदा, खेत्तवियप्पा य दव्वभेदा हु।
खेत्तवियप्पा अवरुक्कस्सविसेसं हवे एत्थ ॥ ३९० ॥

अंगुलासंख्यगुणिताः क्षेत्रविकल्पाश्च द्रव्यभेदा हि।
क्षेत्रविकल्पा अवरोत्कृष्टविशेषो भवेदत्र ॥ ३९० ॥

१—आगे सम्यक्त्व मार्गणाके प्रकरणमें वर्गणाओंके भेद बताये गये हैं। देखो गाथा नं. ५९४।

अर्थ—देशावधि ज्ञानके क्षेत्रकी अपेक्षा जितने भेद हैं उनको सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणा करनेपर द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिके भेदोंका प्रमाण निकलता है। क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे सर्व जघन्य प्रमाणको घटानेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ही क्षेत्रकी अपेक्षासे देशावधिके विकल्प होते हैं। इसका सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागसे गुणा करके उसमें एक मिलानेपर द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिके भेद होते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ठ प्रमाण कितना है यह बताते हैं—

अंगुलअसंखभागं, अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो, असंखधुवहारसंवग्गो ॥ ३९१ ॥

अंगुलासंख्यभागमवरमुत्कृष्टकं भवेल्लोकः।
इति वर्ग्गणगुणकारोऽसंख्यध्रुवहारसंवर्ग्गः ॥ ३९१ ॥

अर्थ—देशावधिका पूर्वोक्त सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनाप्रमाण, अर्थात् घनांगुलके असंख्यातवें भागस्वरूप जो प्रमाण बताया है वही जघन्य देशावधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण है। सम्पूर्ण लोकप्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है। इसलिये देशावधिके सर्व द्रव्य विकल्पोंके प्रमाणमेंसे दो कम करनेपर जो प्रमाण शेष रहे उतने ही ध्रुवहारोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे कार्मण-वर्गणाका गुणकार निष्पन्न होता है।

वर्ग्गणाका प्रमाण बताते हैं—

वग्गणरासिपमाणं, सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
दुगसहियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो ॥ ३९२ ॥

वर्ग्गणाराशिप्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि।
द्विकसहितपरमभेदप्रमाणावहाराणां संवर्ग्गः ॥ ३९२ ॥

अर्थ—कार्मण वर्गणाका प्रमाण यद्यपि सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है; तथापि परमावधिके भेदोंमें दो मिलानेसे जो प्रमाण हो उतनी जगह ध्रुवहार रखकर परस्पर गुणा करनेसे लब्धराशि-प्रमाण कार्मणवर्गणाका प्रमाण होता है।

परमावधिके कितने भेद हैं यह बताते हैं—

परमावहिस्स भेदा, सगओगाहणवियप्पहदतेऊ।
इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे ॥ ३९३ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजसः।
इति ध्रुवहारं वर्ग्गणागुणकारं वर्ग्गणां जानीहि ॥ ३९३ ॥

अर्थ—तेजस्कायिक जीवोंकी अवगाहनाके जितने विकल्प हैं उसका और तेजस्कायिक जीवराशिका परस्पर गुणा करनेसे जो राशि लब्ध आवे उतना ही परमावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे भेदोंका प्रमाण होता है। इस प्रकार ध्रुवहार, वर्गणाका गुणकार, और वर्ग्गणाका स्वरूप समझना चाहिये।

देसोहिअवरदव्वं, धुवहारेणवहिदे हवे विदियं ।
तदियादिवियप्पेसु वि, असंखवारो त्ति एस कमो ॥ ३९४ ॥

देशावध्यवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् द्वितीयम् ।
तृतीयादिविकल्पेष्वपि असंख्यवार इत्येषः क्रमः ॥ ३९४ ॥

अर्थ—देशावधिज्ञानके जघन्य द्रव्यका जो प्रमाण पहले बताया है उसमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे देशावधिके दूसरे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है। दूसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका एक वार भाग देनेसे तीसरे विकल्पके द्रव्यका और तीसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे चौथे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है। इसी तरह आगेके विकल्पोंके द्रव्यका प्रमाण निकालनेके लिये क्रमसे असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये।

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं ।
तेजोभासमणाणं, वग्गणयं केवलं जत्थ ॥ ३९५ ॥
पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही ।
वासाणि असंखेज्जा, होंति असंखेज्जगुणिदकमा ॥ ३९६ ॥

देशावधिमध्यभेदे सविस्रसोपचयतेजःकर्माङ्गम् ।
तेजोभाषामनसां वर्गणां केवलां यत्र ॥ ३९५ ॥
पश्यत्यवधिस्तत्र असंख्येया भवन्ति द्वीपोदधयः ।
वर्षाणि असंख्यातानि भवन्ति असंख्यातगुणितक्रमाणि ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इस प्रकार असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देते देते देशावधिज्ञानके मध्य भेदोंमेंसे जहाँपर प्रथम भेद विस्रसोपचयसहित तैजस शरीरको विषय करता है, अथवा इसके आगेका दूसरा मध्यभेद विस्रसोपचयसहित कार्मण शरीरको विषय करता है, अथवा तीसरा भेद विस्रसोपचयरहित तैजस वर्गणाको विषय करता है, अथवा चौथा भेद विस्रसोपचयरहित भाषा वर्गणाको विषय करता है, अथवा पांचवां भेद विस्रसोपचयरहित मनोवर्गणाको विषय करता है, वहाँ पर सामान्यसे देशावधिके उक्त पाँचों ही मध्य भेदोंके क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीप-समुद्र और कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है। परन्तु विशेषताकी अपेक्षासे पूर्व २ भेदके क्षेत्र और कालके प्रमाणसे उत्तरोत्तर भेदके क्षेत्र और कालका प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं।

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपवद्धं विविस्ससोवचयं ।
धुवहारस्स विभज्जं, सव्वोही जाव ताव हवे ॥ ३९७ ॥

ततः कार्मणस्य एकसमयप्रवद्धं विविस्रसोपचयम् ।
ध्रुवहारस्य विभाज्यं सर्वावधिः यावत् तावत् भवेत् ॥ ३९७ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर मनोवर्गणामें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये। इस तरह भाग देते देते विस्रसोपचयरहित कार्मणका एक समयप्रवद्धप्रमाण विषय आता है। उक्त क्रमानुसार इसमें भी सर्वावधिके विषय पर्यन्त ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये।

एदम्हि विभज्जंते, दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं ।
चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु ॥ ३९८ ॥

एतस्मिन् विभज्यमाने द्विचरमदेशावधौ वर्गणा ।
चरमे कार्मणस्यैकवर्गणा एकवारभक्ता तु ॥३९८॥

अर्थ—इस समयप्रबद्धमें भी ध्रुवहारका भाग देने से देशावधि ज्ञानके द्विचरम भेदके विषयभूत द्रव्यका कार्मणवर्गणारूप. प्रमाण निकलता है। इस एक कार्मणवर्गणामें भी एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके चरम भेदके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

अंगुलअसंखभागे, दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्हि ।
एगागासपदेसो, वड्ढदि संपुण्णलोगो त्ति ॥३९९॥

अंगुलासंख्यभागे, द्रव्यविकल्पे गते तु क्षेत्रे ।
एकाकाशप्रदेशो वर्धते सम्पूर्ण लोक इति ॥३९९॥

अर्थ—सूच्यंगुलके असंख्यतावें भागप्रमाण जब द्रव्यके विकल्प हो जाँय तब क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य क्षेत्रका जितना प्रमाण है उसके ऊपर आकाशका एक प्रदेश बढ़ता है। इस ही क्रमसे एक एक आकाशके प्रदेशकी वृद्धि वहांतक करनी चाहिए कि जहाँ तक देशावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक होजाय ।

आवलिअसंखभागो, जहण्णकालो कमेण समयेण ।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ॥४००॥

आवल्यसंख्यभागो जघन्यकालः क्रमेण समयेन ।
वर्धते देशावधिवरं पल्यं समयोनकं यावत् ॥४००॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातवाँ भाग है। इसके ऊपर उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत एक समय कम एक पल्यप्रमाण काल पर्यन्त, ध्रुव तथा अध्रुव वृद्धिरूप क्रमसे एक एक समय की वृद्धि होती है ।

क्षेत्र तथा कालसम्बन्धी उक्त दोनों ही क्रमोंको उन्नीस काण्डकोंमें कहनेकी इच्छासे आचार्य पहले प्रथम काण्डकमें उनका ढाई गाथाओं द्वारा वर्णन करते हैं—

अंगुलअसंखभागं, धुवरूवेण य असंखवारं तु ।
असंखसंखं भागं, असंखवारं तु अद्धुवगे ॥४०१॥

अंगुलासंख्यभागं ध्रुवरूपेण च असंख्यवारं तु ।
असंख्यसंख्यं भागमसंख्यवारं तु अध्रुवगे ॥४०१॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें चरम विकल्पपर्यन्त असंख्यात वार घनांगुलमें आवलीका भाग देनेपर जितना प्रमाण आवे इस तरहके अंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण ध्रुव वृद्धि होती है और इस ही काण्डकके अन्त पर्यन्त घनांगुलके असंख्यातवें और संख्यातवें भागप्रमाण ध्रुव वृद्धि भी असंख्यात वार होती है ।

धुवअद्धुवरूवेण य, अवरे खेत्तम्हि वड्ढिदे खेत्ते ।
अवरे कालम्हि पुणो, एक्केक्कं वड्ढदे समयं ॥४०२॥

ध्रुवाध्रुवरूपेण च अवरे क्षेत्रे वर्द्धिते क्षेत्रे ।
अवरे काले पुनः एकैको वर्धते समयः ॥४०२॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषभूत क्षेत्रके ऊपर ध्रुवरूपसे अथवा अध्रुवरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि होनेपर जघन्य कालके ऊपर एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

भावार्थ—पूर्वमें यह बताया गया था कि द्रव्यकी अपेक्षासे सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण भेद हो जानेपर क्षेत्रमें एक प्रदेशकी वृद्धि होती है। अब यहां यह बता रहे हैं कि जघन्य अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रके आगे पूर्वोक्त रीतिसे एक एक प्रदेशकी क्रमसे वृद्धि होते २ जब आवलिसे भक्त घनांगुलप्रमाण प्रदेशोंकी वृद्धि होजाय तब जघन्य देशावधिज्ञानके विषयभूत कालके प्रमाणमें एक समयकी वृद्धि होती है। इसी तरह आगे भी प्रत्येक ध्रुवरूपसे या अध्रुवरूपसे घनांगुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भागप्रमाण प्रदेश वृद्धि होजानेपर उत्तरोत्तर कालके प्रमाणमें एक समयकी वृद्धि होती जाती है ।

संखातीदा समया, पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी ।
खेत्तं कालं अस्सिय, पढमादी कंडये वोच्छं ॥४०३॥

संख्यातीताः समयाः प्रथमे पर्वे उभयतो वृद्धिः ।
क्षेत्रं कालमाश्रित्य प्रथमादीनि काण्डकानि वक्ष्ये ॥४०३॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें ध्रुवरूपसे और अध्रुवरूपसे असंख्यात समयकी वृद्धि होती है। इसके आगे प्रथमादि काण्डकोंका क्षेत्र और कालके आश्रयसे वर्णन करते हैं ।

अंगुलमावलियाए, भागमसंखेज्जदो वि संखेज्जो ।
अंगुलमावलियंतो, आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥४०४॥

अंगुलावल्योः भागोऽसंख्येयोऽपि संख्येयः ।
अंगुलमावल्यन्त आवलिकश्चांगुलपृथक्त्वम् ॥४०४॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें जघन्य क्षेत्रका प्रमाण घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण घनांगुलके संख्यातवें भाग प्रमाण है। और जघन्य कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातवाँ भाग, तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण आवलीका संख्यातवाँ भाग है। दूसरे काण्डकमें क्षेत्र घनांगुलप्रमाण और काल कुछ कम एक आवली प्रमाण है। तीसरे काण्डकमें क्षेत्र घनांगुल—पृथकत्व[1] और काल आवलीपृथक्त्वप्रमाण है ।

आवलियपुधत्तं पुण, हत्थं तह गाउयं मुहुत्तं तु ।
जोयणभिण्णमुहुत्तं, दिवसंतो पण्णुवीसं तु ॥४०५॥

१—तीनसे नौ तककी संख्याको पृथक्त्व कहते हैं ।

आवलिपृथक्त्वं पुनः हस्तस्तथा गव्यूतिः[1] मुहूर्तस्तु ।
योजनं भिन्नमुहूर्तः दिवसान्तः पञ्चविंशतिस्तु ॥४०५॥

अर्थ—चतुर्थ काण्डकमें काल आवलीपृथक्त्व और क्षेत्र हस्तप्रमाण है। पांचवें काण्डकमें क्षेत्र एक कोश और काल अन्तर्मुहूर्त है। छट्ठे काण्डकमें क्षेत्र एक योजन और काल भिन्नमुहूर्त[2] है। सातवें काण्डकमें काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पच्चीस योजन है।

भरहम्मि अद्धमासं, साहियमासं च जम्बुदीवम्मि ।
वासं च मणुवलोए, वासपुधत्तं च रुचगम्मि ॥४०६॥

भरते अर्धमासः साधिकमासश्च जम्बूद्वीपे ।
वर्षश्च मनुजलोके वर्षपृथक्त्वं च रुचके ॥४०६॥

अर्थ—आठवें काण्डकमें क्षेत्र भरतक्षेत्रप्रमाण और काल अर्धमास-पक्षप्रमाण है। नौवें काण्डकमें क्षेत्र जम्बूद्वीपप्रमाण और काल एक माससे कुछ अधिक है। दशवें काण्डकमें क्षेत्र मनुष्यलोकप्रमाण और काल एक वर्षप्रमाण है। ग्यारहवें काण्डकमें क्षेत्र रुचक द्वीप और काल वर्षपृथक्त्वप्रमाण है।

संखेज्जपमे, वासे, दीवसमुद्दा हवंति संखेज्जा ।
वासम्मि असंखेज्जे, दीवसमुद्दा असंखेज्जा ॥४०७॥

संख्यातप्रमे वर्षे द्वीपसमुद्रा भवन्ति संख्याताः ।
वर्षे असंख्येये द्वीपसमुद्रा असंख्येयाः ॥४०७॥

अर्थ—बारहवें काण्डकमें संख्यात वर्षप्रमाण काल और संख्यात द्वीप-समुद्रप्रमाण क्षेत्र है। इसके आगे तेरहवेंसे लेकर उन्नीसवें काण्डक पर्यन्त असंख्यात वर्षप्रमाण काल और असंख्यात द्वीप-समुद्रप्रमाण क्षेत्र है।

भावार्थ—यद्यपि तेरहवेंसे लेकर उन्नीसवें काण्डक तक कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष और क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीप-समुद्र बताया है। किंतु यह सामान्य कथन है। विशेषरूपसे उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा क्षेत्र तथा कालका प्रमाण होता है। तथा उन्नीसवें काण्डकमें क्षेत्र सम्पूर्ण लोक और[3] काल एक समय कम एक पल्य[4] है।

कालविसेसेणवहिदखेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी ।
अद्धुववड्ढी वि पुणो, अविरुद्धं इट्ठकंडम्मि ॥४०८॥

१—यद्यपि कोपकारोंने गव्यूति शब्दका अर्थ दो कोश किया है—"गव्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम् ॥१८, काण्ड २, भूमिवर्ग। किन्तु यहाँ आगममें तथा अन्यत्र भी एक कोश अर्थ माना गया हैं।

२—एक आवली और एक समयसे ऊपर तथा मुहूर्तके भीतर सब अन्तर्मुहूर्तके भेद हैं। भिन्न मुहूर्तका अर्थ मुहूर्तसे कुछ कम ऐसा होता है।

३—देखो गाथा नं० ३९९, ४१०।

४—देखो गाथा नं० ४००, ४११।

कालविशेषेणावहितक्षेत्रविशेषो ध्रुवा भवेत् वृद्धिः ।
अध्रुववृद्धिरपि पुनः अविरुद्धा इष्टकाण्डे ॥४०८॥

अर्थ—किसी विवक्षित काण्डकके क्षेत्रविशेषमें कालविशेषका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। इस ही तरह अविरोधरूपसे इष्ट काण्डकमें अध्रुव वृद्धिका भी प्रमाण समझना चाहिये। इस अध्रुव वृद्धिका क्रम आगेके गाथामें कहेंगे।

भावार्थ—विवक्षित काण्डकके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणमेंसे जघन्य क्षेत्रप्रमाणको घटाने पर जो शेष रहे उसको क्षेत्रविशेष कहते हैं। और उत्कृष्ट कालके प्रमाणमेंसे जघन्य कालके प्रमाणको घटानेपर जो शेष रहे उसको कालविशेष कहते हैं। किसी विवक्षित क्षेत्रविशेषमें उसके कालविशेषका भाग देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है। तथा यहांपर जो अध्रुव वृद्धि बताई गई है उसका भी क्रम किसी भी विवक्षित काण्डकमें क्षेत्र और कालके अविरोध-पूर्वक सिद्ध कर लेना चाहिये।

अध्रुव वृद्धिका क्रम बताते हैं—

अंगुलअसंखभागं, संखं वा अंगुलं च तस्सेव ।
संखमसंखं एवं, सेढीपदरस्स अद्धुवगे ॥४०९॥

अंगुलासंख्यभागः संख्यं वा अंगुलं तस्यैव ।
संख्यमसंख्यमेवं श्रेणीप्रतरयोरध्रुवगायाम् ॥४०९॥

अर्थ—घनांगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण, वा घनांगुलके संख्यातवें भागप्रमाण वा घनांगुलमात्र, वा संख्यात घनांगुलमात्र, वा असंख्यात घनांगुलमात्र इसी प्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण, वा श्रेणीके संख्यातवें भागप्रमाण, वा श्रेणीप्रमाण, वा संख्यात श्रेणीप्रमाण, वा असंख्यात श्रेणीप्रमाण, वा प्रतरके असख्यातवें भाग प्रमाण, वा प्रतरके संख्यातवें भाग प्रमाण, वा प्रतर प्रमाण प्रदेशोंकी वृद्धि होने पर एक एक समयकी वृद्धि होती है। यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है।

भावार्थ—जहाँ पर जितने प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव हो वहाँ पर उतने प्रकारकी वृद्धियोंमेंसे कभी किसी प्रकारकी और कभी किसी प्रकारकी प्रदेशवृद्धिके होने पर एक एक समयकी वृद्धिका होना यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है।

उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रमाण दो गाथाओंके द्वारा बताते हैं–

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं ।
उक्कस्सं खेत्तं पुण, लोगो संपुण्णओ होदि ॥४१०॥

कर्मणवर्गणां ध्रुवहारेणैकवारभाजिते द्रव्यम् ।
उत्कृष्टं क्षेत्रं पुनः लोकः संपूर्णो भवति ॥ ४१० ॥

अर्थ—कार्मणवर्गणामें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है। तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है।

पल्लसमऊण काले, भावेण असंखलोगमेत्ता हु ।
दव्वस्स य पज्जाया, वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४११ ॥

पल्यं समयोनं काले भावेनासंख्यलोकमात्रा हि ।
द्रव्यस्य च पर्याया वरदेशावधेर्विषया हि ॥ ४११ ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षा एक समय कम एक पल्य और भावकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्यकी पर्याय उत्कृष्ट देशावधिका विषय है।

भावार्थ—काल और भाव शब्दके द्वारा द्रव्यकी पर्यायोंका ग्रहण किया जाता है। इसलिये कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्यप्रमाण और भावकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण द्रव्यकी पर्यायोंको उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान विषय करता है।

काले चउण्ण उड्ढी, कालो भजिदव्व खेत्तउड्ढी य ।
उड्ढीए दव्वपज्जय, भजिदव्वा खेत्त-काला हु ॥ ४१२ ॥

काले चतुर्णां वृद्धिः कालो भजितव्यः क्षेत्रवृद्धिश्च ।
वृद्ध्या द्रव्यपर्याययोः भजितव्यौ क्षेत्र-कालौ हि ॥ ४१२ ॥

अर्थ—कालकी वृद्धि होने पर चारों प्रकारकी वृद्धि होती है। क्षेत्रकी वृद्धि होने पर कालकी वृद्धि होती है और नहीं भी होती है। इस ही तरह द्रव्य और भावकी अपेक्षा वृद्धि होने पर क्षेत्र और कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है। परन्तु क्षेत्र और कालकी वृद्धि होने पर द्रव्य और भावकी वृद्धि अवश्य होती है।

देशावधिका निरूपण समाप्त हुआ; अतः क्रमप्राप्त परमावधिका निरूपण करते हैं—

देसावहिवरदव्वं, धुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।
परमावहिस्स अवरं, दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठं ॥ ४१३ ॥

देशावधिवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् नियमात् ।
परमावधेरवरं द्रव्यप्रमाणं तु जिनदिष्टम् ॥ ४१३ ॥

अर्थ—देशावधिका जो उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण है उसमें एकबार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही नियमसे परमावधिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण निकलता है, ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है।

परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण बताते हैं—

परमावहिस्स भेदा, सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ ।
चरमे हारपमाणं, जेट्ठस्स य होदि दव्वं तु ॥ ४१४ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजाः ।
चरमे हारप्रमाणं ज्येष्ठस्य च भवति द्रव्यं तु ॥ ४१४ ॥

अर्थ—अपनी (तेजस्कायिक जीवराशिकी) अवगाहनाके भेदोंका जितना प्रमाण है उसका तेजस्कायिक जीवराशिके साथ गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतने ही परमावधिज्ञानके भेद होते हैं। इनमेंसे सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेदमें द्रव्य ध्रुवहारप्रमाण होता है।

सव्वावहिस्स एक्को, परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो ।
गंगामहाणइस्स-पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१५ ॥

सर्वावधेरेकः परमाणुर्भवति निर्विकल्पः सः ।
गंगामहानद्याः प्रवाह इव ध्रुवो भवेत् हारः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध एक परमाणु-मात्र द्रव्य आता है, वही सर्वावधिज्ञानका विषय होता है । यह ज्ञान तथा इसका विषयभूत परमाणु निर्विकल्पक है । यहाँ पर जो भागहार है वह गंगा महानदीके प्रवाहकी तरह ध्रुव है ।

भावार्थ—जिस तरह गंगा महानदीका प्रवाह हिमाचलसे निकलकर अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा वहता हुआ पूर्व समुद्रमें जाकर अवस्थित हो गया है उसी तरह यह भागहार भी जघन्य देशावधिज्ञानके द्रव्यप्रमाणसे लेकर आगे सर्वावधिके द्रव्यप्रमाण पर्यन्त अविच्छिन्न रूपसे जाते जाते परमाणुपर जाकर अवस्थित हो गया है, क्योंकि अवधिज्ञानके भेदोंमें यह सर्वावधिज्ञान अन्तिम भेद है । देशावधि या परमावधिकी तरह इसमें भेद नहीं हैं। अतएव यह निर्विकल्प है और इसका विषय पुद्गल परमाणु भी निर्विकल्प ही है ।

परमोहिदव्वभेदा, जेत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति ।
तस्सेव खेत्त-कालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१६ ॥

परमाधिद्रव्यभेदा यावन्मात्रा हि तावन्मात्रा भवन्ति ।
तस्यैव क्षेत्र-कालविकल्पा विषया असंख्यगुणितक्रमाः ॥ ४१६ ॥

अर्थ—परमावधिके जितने द्रव्यकी अपेक्षासे भेद[1] हैं उतने ही भेद क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे हैं । परन्तु उनका विषय असंख्यातगुणितक्रम है ।

भावार्थ—यद्यपि परमावधिके भेद द्रव्य क्षेत्र कालकी अपेक्षा बराबर ही हैं फिर भी प्रत्येक उत्तर भेदमें क्षेत्र कालका प्रमाण असंख्यात गुणा असंख्यात गुणा है ।

असंख्यातगुणितक्रम किस तरहसे है यह बताते हैं—

आवलिअसंखभागा, इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१७ ॥

आवल्यसंख्यभागा इच्छितगच्छधनमानमात्राः ।
देशावधेः क्षेत्रे कालेऽपि च भवन्ति संवर्गे ॥ ४१७ ॥

अर्थ—किसी भी परमावधिके विवक्षित क्षेत्रके विकल्पमें अथवा विवक्षित कालके विकल्पमें संकल्पित धनका जितना प्रमाण हो उतनी जगह आवलीके असंख्यातवें भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालमें गुणाकारका प्रमाण होता है ।

भावार्थ—परमावधिके प्रथम विकल्पमें संकल्पित धनका प्रमाण एक और दूसरे विकल्पमें तीन तथा तीसरे विकल्पमें छह चौथे विकल्पमें दश पांचवें विकल्पमें पन्द्रह छट्ठे विकल्पमें इक्कीस सातवें विकल्पमें अट्ठाईस होता है । इसी तरह आगे भी संकल्पित धनका प्रमाण समझना चाहिये । परमावधिके जिस विकल्पके क्षेत्र या कालका प्रमाण निकालना हो उस विकल्पके संकल्पित धनके

---

१. देखो गाथा नं, ४१४ ।

परमावधिके विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालका प्रमाण निकालनेके लिए दो करण-सूत्रोंको कहते हैं—

इच्छिदरासिच्छेदं, दिण्णच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी ॥४२०॥

इच्छितराशिच्छेदं देयच्छेदैर्भाजिते तत्र ।
लब्धमितदेयराशीनामभ्यासे इच्छितो राशिः ॥४२०॥

अर्थ—विवक्षित राशिके अर्धच्छेदोंमें देयराशिके अर्धच्छेदोंका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह देयराशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे विवक्षित राशिका प्रमाण निकलता है ।

दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।
लद्धमिदलोगगुणणं, परमावहिचरिमगुणगारो ॥४२१॥

देयच्छेदेनावहितलोकच्छेदेन पदधने भजिते ।
लब्धमितलोकगुणनं परमावधिचरमगुणकारः ॥४२१॥

अर्थ—देयराशिके अर्धच्छेदोंका लोकके अर्धच्छेदोंमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका विवक्षित संकल्पित धनमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह लोकप्रमाणको रखकर परस्पर गुणा करने से जो राशि उत्पन्न हो वह विवक्षित पदमें क्षेत्र या कालका गुणकार होता है । ऐसे ही परमावधिके अन्तिम भेदमें भी गुणकार जानना ।

आवलिअसंखभागा, जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया ।
कालस्स जहण्णादो, असंखगुणहीणमेत्ता हु ॥४२२॥

आवल्यसंख्यभागा जघन्यद्रव्यस्य भवन्ति पर्यायाः ।
कालस्य जघन्यतः असंख्यगुणहीनमात्रा हि ॥ ४२२ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी पर्याय आवलीके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं तथापि जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका जितना प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा हीन जघन्य देशावधिके विषयभूत भावका प्रमाण है ।

सव्वोहि त्ति य कमसो, आवलिअसंखभागगुणिदकमा ।
दव्वाणं भावाणं, पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२३ ॥

सर्वावधिरिति च क्रमशः आवल्यसंख्यभागगुणितक्रमाः ।
द्रव्याणां भावानां पदसंख्याः सदृशकाः भवन्ति ॥ ४२३ ॥

अर्थ—देशावधिके जघन्य द्रव्यकी पर्यायरूप भाव, जघन्य देशावधिसे सर्वावधिपर्यन्त आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणितक्रम हैं । अत एव द्रव्य तथा भावके पदोंकी संख्या सदृश है ।

भावार्थ—जहाँपर देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य भेद है वहाँपर भावकी अपेक्षा भी आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण जघन्य भेद होता है और जहाँपर द्रव्यकी अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहाँ भावकी अपेक्षा भी प्रथम भेदसे आवलिके असंख्यातवें भाग गुणा दूसरा भेद

होता है। जहाँपर द्रव्यकी अपेक्षा तीसरा भेद होता है वहाँपर भावकी अपेक्षा दूसरे भेदसे आवलीके असंख्यातवें भाग गुणा तीसरा भेद होता है। इस ही क्रमसे सर्वावधिपर्यन्त जानना। अवधिज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे जितने भेद हैं उतने ही भेद भावकी अपेक्षासे हैं। अतएव द्रव्य तथा भावकी पदसंख्या सदृश है, क्योंकि जिस तरह द्रव्यकी अपेक्षा पूर्व भेदसम्बन्धी द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देनेसे उत्तरभेद सम्बन्धी द्रव्यका प्रमाण निकलता है उसीप्रकार भावकी अपेक्षा पूर्व भेदसम्ब्रन्धी भावके प्रमाणको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर उत्तर भेदसम्बन्धी भावका प्रमाण निकलता है। इसलिये यद्यपि पद संख्या सदृश है फिर भी प्रत्येक पदमें भावका प्रमाण पूर्व-पूर्व भावके प्रमाणसे असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है।

नरकगतिमें अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण वताते हैं—

सत्तमखिदिम्मि कोसं, कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव।
जाव य पढमे णिरये, जोयणमेक्कं हवे पुण्णं ॥ ४२४ ॥

सप्तमक्षितौ क्रोशं क्रोशस्यार्धं प्रवर्धते तावत्।
यावच्च प्रथमे निरये योजनमेकं भवेत् पूर्णम् ॥ ४२४ ॥

अर्थ—सातमी भूमिमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है। इसके ऊपर आध-आध कोस की वृद्धि तब तक होती गई है जव तक कि प्रथम नरकमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो जाता है।

भावार्थ—सातमी पृथ्वीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है। इसके ऊपर प्रथम भूमिके अवधि-क्षेत्रपर्यन्त क्रमसे आध-आध कोसकी वृद्धि होती है। अर्थात् छट्ठी पृथ्वीमें डेढ़ कोश, पाँचवींमें दो कोश, चौथीमें ढाई कोश, तीसरीमें तीन कोश, दूसरीमें साढ़े तीन कोश, और प्रथम भूमिमें अवधि-क्षेत्रका प्रमाण एक योजन-चार कोश है।

तिर्यग्गति और मनुष्यगतिमें अवधिको वताते हैं—

तिरिये अवरं ओघो, तेजोयंते य होदि उक्कस्सं।
मणुए ओघं देवे, जहाकमं सुणह वोच्छामि ॥४२५॥

तिरश्चि अवरमोघः तेजोऽन्ते च भवति उत्कृष्टम्।
मनुजे ओघं देवे यथाक्रमं शृणुत वक्ष्यामि ॥४२५॥

अर्थ—तिर्यञ्चोंके अवधिज्ञान जघन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टताकी अपेक्षा उस भेदपर्यन्त होता है कि जो देशावधिका भेद तैजस शरीरको विषय करता है। मनुष्य गतिमें अवधिज्ञान जघन्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टतया सर्वावधिपर्यन्त होता है। देवगतिमें अवधिज्ञानको यथाक्रमसे कहूँगा सो सुनो।

प्रतिज्ञाके अनुसार देवगतिमें अवधिके क्षेत्रादिका वर्णन करते हैं—

पणुवीसजोयणाइं, दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं।
संखेज्जगुणं खेत्तं, वहुगं कालं तु जोइसिगे ॥ ४२६ ॥

पञ्चविंशतियोजनानि दिवसान्तं च च कुमारभौमयोः ।
संख्यातगुणं क्षेत्रं वहुकः कालस्तु ज्योतिष्के ॥ ४२६ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोंके अवधिके क्षेत्रका जघन्य प्रमाण पच्चीस योजन और जघन्य काल कुछ कम एक दिन है। और ज्योतिषी देवोंके अवधिका क्षेत्र इससे संख्यातगुणा है और काल इससे वहुत अधिक है।

असुराणमसंखेज्जा, कोडीओ सेसजोइसंताणं ।
संखातीदसहस्सा, उक्कस्सोहीण विसओ दु ॥ ४२७ ॥

असुराणामसंख्येयाः कोट्यः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।
संख्यातीतसहस्रा उत्कृष्टावधीनां विषयस्तु ॥ ४२७ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंके अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन है। असुरोंको छोड़कर वाकीके ज्योतिषी देवों तकके सभी भवनत्रिक अर्थात् नौ प्रकारके भवनवासी तथा सम्पूर्ण व्यन्तर और ज्योतिषी इनके अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात हजार योजन है।

असुराणमसंखेज्जा, वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।
तस्संखेज्जदिभागं, कालेण य होदि णियमेण ॥ ४२८ ॥

असुराणामसंख्येयानि वर्षाणि पुनः शेषज्योतिष्कांतानाम् ।
तत्संख्यातभागं कालेन च भवति नियमेन ॥ ४२८ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंके अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है और शेष नौ प्रकारके भवनवासी तथा व्यन्तर और ज्योतिषी इनके अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असुरोंके अवधिके उत्कृष्ट कालके प्रमाणसे नियमसे संख्यातवें भागमात्र है।

भवणतियाणमधोधो, थोवं तिरियेण होदि वहुगं तु ।
उड्ढेण भवणवासी, सुरगिरिसिहरो त्ति पस्संति ॥ ४२९ ॥

भवनत्रिकाणामधोऽधः स्तोकं तिरश्चा भवति वहुकं तु ।
ऊर्ध्वेन भवनवासिनः सुरगिरिशिखरान्तं पश्यन्ति ॥ ४२९ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनके अवधिका क्षेत्र नीचे नीचे कम होता है, और तिर्यग रूपसे अधिक होता है। तथा भवनवासी देव अपने अवस्थित स्थानसे सुरगिरिके (मेरुके) शिखरपर्यंत देखते हैं।

सक्कीसाणा पढमं, विदियं तु सणक्कुमार माहिंदा ।
तदियं तु वम्ह-लांतव, सुक्क-सहस्सारया तुरियं ॥ ४३० ॥

शक्रैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनत्कुमार-माहेन्द्राः ।
तृतीयं तु ब्रह्म-लान्तवाः शुक्र-सहस्रारकाः तुरियम् ॥ ४३० ॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव अवधिके द्वारा प्रथम भूमिपर्यन्त देखते हैं। सनत्कुमार

माहेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथ्वी तक देखते हैं। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ[1] स्वर्गवाले देव तीसरी भूमि तक देखते हैं। शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्गके देव चौथी भूमि तक देखते हैं।

आणद-पाणदवासी, आरण तह अच्चुदा य पस्संति ।
पंचमखिदिपेरंतं, छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ।। ४३१ ।।

आनतप्राणतवासिनः आरणास्तथा अच्युताश्च पश्यन्ति ।
पञ्चमक्षितिपर्यन्तं षष्ठीं ग्रैवेयका देवाः ।। ४३१ ।।

अर्थ—आनत प्राणत आरण अच्युत स्वर्गके देव पांचवीं भूमि तक अवधिके द्वारा देखते हैं और ग्रैवेयकवासी देव छट्ठी भूमि तक देखते हैं।

सव्वं च लोयणालिं, पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा ।
सक्खेत्ते य सकम्मे, रूवगदमणंतभागं च ।। ४३२ ।।

सर्वां च लोकनालीं पश्यन्ति अनुत्तरेषु ये देवाः ।
स्वक्षेत्रे च स्वकर्मणि रूपगतमनन्तभागं च ।। ४३२ ।।

अर्थ—नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तरवासी देव सम्पूर्ण लोकनालीको अवधि द्वारा देखते हैं। अवधिके विषयभूत क्षेत्रका जितना प्रदेशप्रचय है उसमेंसे एक एक प्रदेश कम करते जाना चाहिये और अपने २ अवधिज्ञानावरण कर्मका जितना द्रव्य है उसमें ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये। किन्तु इस तरहसे अवधिके क्षेत्ररूप प्रदेशप्रचयमें एक २ प्रदेश कहाँतक कम करना चाहिये और अवधिज्ञानावरण कर्मद्रव्यमें ध्रुवहारका भाग भी कहांतक देते जाना चाहिये, इसीको आगे स्पष्ट करते हैं।

कप्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं ।
ओहीदव्वपमाणं, संठाविय धुवहरेण हरे ।। ४३३ ।।
सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव ।
तत्थतणचरिमखंडं, तत्थतणोहिस्स दव्वं तु ।। ४३४ ।।

कल्पसुराणां स्वकस्वकावधिक्षेत्रं विविस्रसोपचयम् ।
अवधिद्रव्यप्रमाणं संस्थाप्य ध्रुवहारेण हरेत् ।। ४३३ ।।

---

१. यद्यपि गाथामें और जी. प्र. टीकामें "बम्हलांतव" इतना ही शब्द है। इससे ब्रम्होत्तार शब्द छूट जाता है और लांतव मात्रका ही अर्थ व्यक्त होता है। आगे भी शुक्रशब्दका उल्लेख है। इसमें ब्रह्मोतरके सिवाय कापिष्ठ, महाशुक्र और शतारका नाम नहीं दिया गया है। परन्तु स्व. पं. टोडरमलजी सा. ने अपनी हिन्दी टीकामें और ब्र. स्व. दौलतरामजी सा. ने अपनी पद्यानुवन्धी टीकामें अर्थ करते समय इनका नाम लिखा है। मालूम होता है कि बारह इन्द्रोंके द्वारा शासित १६ स्वर्गोंमेंसे मध्यके आठ स्वर्ग जो कि चार इन्द्रोंके द्वारा शासित हैं इन्द्रोंके नामसे ही बोधित कर दिये गये हैं। परन्तु इनमेंसे शतारेन्द्रका नाम न लेकर सहस्रारस्वर्गका नाम ग्रहण किया है। संभव है कि द्रव्य मिथ्यादृष्टियोंको स्वर्गमें उत्पन्न होने की अन्तिम सीमा और आयुःस्थितिमें "कुछ अधिक" के सम्बन्धको अवधिका बोध करानेके लिए ऐसा किया गया हो।

स्वकस्वकक्षेत्रप्रदेशशलाकाप्रमाणं समाप्यते यावत् ।
तत्रतनचरमखण्डं तत्रतनावधेर्द्रव्यं तु ॥ ४३४ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंमें अपने अपने अवधिके क्षेत्रका जितना जितना प्रमाण है उसका एक जगह स्थापन कर, और दूसरी जगह विस्रसोपचयरहित अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यका जितना प्रमाण है उसका स्थापन कर; द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रमाण में एक कम करना चाहिये। द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एक बार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें पुनः दूसरीवार ध्रुवकारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें एक और कम करना चाहिये। दूसरी वार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें तीसरी वार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें तीसरी वार एक कम करना चाहिये। इस प्रकार उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें एक एक कम करते जाना चाहिये। इस तरहसे एक एक प्रदेश कम करते करते जब सम्पूर्ण प्रदेशप्रचयरूप शलाका राशि समाप्त हो जाय वहाँ तक करते जाना चाहिये। इस तरहसे प्रदेशप्रचयमें एक एक प्रदेश कम करते करते और द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते देते जहाँ पर प्रदेशप्रचय समाप्त हो वहाँपर द्रव्यका जो स्कन्ध शेष रहे उतने बड़े स्कन्धको अवधिके द्वारा वे कल्पवासी देव जानते हैं कि जिनके अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रदेशप्रचय विवक्षित हो।

भावार्थ—जैसे सौधर्म और ईशानकल्पवासी देवोंका क्षेत्र प्रथम नरक पर्यन्त है, ईशान कल्पके ऊपरके भागसे प्रथम नरक डेढ़ राजू है, इसलिये एक राजू लम्बे चौड़े और डेढ़ राजू ऊँचे क्षेत्रके जितने प्रदेश हों उनको एक जगह रखना, और दूसरी जगह अवधिज्ञानावरण कर्मके द्रव्यका स्थापन करना। द्रव्यप्रमाणमें एक ध्रुवहारका भाग देना और प्रदेशप्रमाणमेंसे एक कम करना। इस पहली वार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आया उस द्रव्यप्रमाणमें दूसरी वार फिर ध्रुवहारका भाग देना और प्रदेशप्रमाणमेंसे दूसरा एक और कम करना। इस तरह प्रदेश-प्रमाणमेंसे एक एक कम करते करते तथा उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते देते जहाँ प्रदेशप्रचय समाप्त हो वहाँ पर द्रव्यका जो प्रमाण शेष रहे उतने परमाणुओंके सूक्ष्म पुद्गल-स्कन्धको सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अवधिके द्वारा जानते हैं। इससे स्थूलको तो जानते ही हैं, किन्तु इससे सूक्ष्मको नहीं जानते। इस ही तरह आगे भी सर्वत्र समझना चाहिये।

सौधर्म ईशान कल्पवासी देवोंका क्षेत्र डेढ़ राजू, सनत्कुमार माहेन्द्रवालोंका चार राजू, ब्रह्म ब्रह्मोत्तरवालोंका साढ़े पाँच राजू, लांतव कापिष्ठवालोंका छह राजू, शुक्र महाशुक्रवालोंका साढ़े सात राजू, सतार सहस्रारवालोंका आठ राजू, आनत प्राणतवालोंका साढ़े नवराजू, आरण अच्युतवालोंका दश राजू, ग्रैवेयकवालोंका ग्यारह राजू, अनुदिश विमानवालोंका कुछ अधिक तेरह राजू और अनुत्तरविमानवालोंका कुछ कम चौदह राजू क्षेत्र है। इस क्षेत्रप्रमाणके अनुसार ही उनका अर्थात् कल्पवासी देवोंके अवधिके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण उक्त क्रमानुसार निकलता है।

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो दु ॥ ४३५ ॥

तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं ।
किंचूणपल्लमेत्तं, कालपमाणं जहाजोग्गं ॥ ४३६ ॥

सौधर्मैशानानामसंख्येया हि वर्षकोट्यः ।
उपरिमकल्पचतुष्के पल्यासंख्यातभागस्तु ॥ ४३५ ॥
ततो लान्तवकल्पप्रभृति सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् ।
किञ्चिदूनपल्यमात्रं कालप्रमाणं यथायोग्यम् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंके अवधिका काल असंख्यात कोटि वर्ष है। इसके ऊपर सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पवाले देवोंके अवधिका काल यथायोग्य पल्यका असंख्यातवाँ भाग है। इसके ऊपर लान्तव स्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त वाले देवोंके अवधिका काल यथायोग्य कुछ कम पल्यप्रमाण है।

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा ।
कप्पसुराणं च पुणो, विसरित्थं आयदं होदि ॥ ४३७ ॥

ज्योतिष्कान्तानामवधिक्षेत्राणि उक्तानि भवन्ति धनप्रतराणि ।
कल्पसुराणां च पुनः विसदृशमायतं भवति ॥ ४३७ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनके अवधिके क्षेत्रका प्रमाण जो पहले बताया गया है वह विसदृश है, बराबर घनरूप नहीं है, उनकी लम्बाई चौड़ाई और ऊँचाईका प्रमाण आगममें सर्वथा समान नहीं बताया गया है। तिर्यक् अधिक और [illegible]धः कम है। कल्पवासी देवोंके अवधिका क्षेत्र आयतचतुरस्र (चौकोर) किन्तु लम्बाईमें [illegible] अधिक और चौड़ाईमें अर्थात् तिर्यक् थोड़ा है। शेष मनुष्य तिर्यञ्च नारकी इनके अवधि[illegible]त क्षेत्र बराबर घनरूप है।

भावार्थ—निरुक्तिके अनुसार[1] दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको मन कहते हैं। इस तरहके मनको जो पर्येति अर्थात् जानता है—मनके अवलम्बनसे त्रिकालविषयक पदार्थों-चिन्तित, चिन्त्यमान चिन्तिष्यमान विषयको जानता है उसको मनःपर्यय कहते हैं।

मनःपर्ययके भेदोंको गिनाते हैं—

मणपज्जवं च दुविहं, उजुविउलमदि त्ति उजुमदी तिविहा।
उजुमणवयणे काए, गदत्थविसया त्ति णियमेण ॥ ४३९ ॥

मनःपर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमतीति ऋजुमतिस्त्रिविधा।
ऋजुमनोवचने काये गतार्थविषया इति नियमेन ॥ ४३९ ॥

अर्थ—सामान्यकी अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकारका है और विशेष भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है—एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति। ऋजुमतिके भी तीन भेद हैं—ऋजुमनोगतार्थविषयक, ऋजुवचनगतार्थविषयक, ऋजुकायगतार्थविषयक। परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन कायके द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानको ऋजुमति कहते हैं। अतएव सरल मन वचन कायके द्वारा किये हुए पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा ऋतुमतिके पूर्वोक्त तीन भेद हैं।

विउलमदी वि य छद्धा, उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं।
अत्थं जाणदि जम्हा, सद्दत्थगया हु ताणत्था ॥४४०॥

विपुमतिरपि च षोढा ऋजुगानृजुवचनकायचित्तगतम्।
अर्थं जानाति यस्मात् शब्दार्थगता हि तेषामर्थाः ॥४४०॥

अर्थ—विपुलमतिके छह भेद हैं—ऋजु मन वचन कायके द्वारा किये गये परकीय मनोगत पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन, वचन, कायके द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद। ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययके विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकारके होते हैं।

भावार्थ—कोई आकर पूछे तो उसके मनकी बात मनःपर्ययज्ञानी जान सकता है। कदाचित् कोई न पूछे मौन पूर्वक स्थित हो तो भी उसके मनःस्थ विषयको वह जान सकता है।

तियकालविसयरूविं, चिंतियं वट्टमाणजीवेण।
उजुमदिणाणं जाणदि, भूदभविस्सं च विउलमदी ॥४४१॥

त्रिकालविषयरूपि चिंतितं वर्तमानजीवेन।
ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमतिः ॥४४१॥

अर्थ—वर्तमान जीवके द्वारा चिन्त्यमान—वर्तमानमें जिसका चिंतवन किया जा रहा है ऐसे त्रिकाल विषयक रूपी पदार्थको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है और विपुलमतिज्ञान भूत भविष्यत्को भी जानता है।

---

१. परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थो मनः तत् पर्येति जनातीति मनःपर्ययः।

भावार्थ—जिसका भूतकालमें चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्यमें चिन्तवन किया जायगा यद्वा वर्तमान में जिसका चिन्तन हो रहा है, ऐसे तीनों ही प्रकारके पदार्थको विपुलमति मनःपर्ययज्ञान जानता है।

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥४४२॥

सर्वाङ्गाङ्गसम्भवचिन्हादुत्पद्यते यथावधिः।
मनःपर्ययं च द्रव्यमनस्त उत्पद्यते नियमात् ॥४४२॥

अर्थ—जिस प्रकार अवधिज्ञान समस्त अंगसे अथवा शरीरमें होनेवाले शंखादि शुभ चिन्होंसे उत्पन्न होता है उसी तरह मनःपर्ययज्ञान जहाँपर द्रव्यमन होता है उनही प्रदेशोंसे उत्पन्न होता है।

भावार्थ—जहाँपर द्रव्य मन होता है उस स्थानपर जो आत्माके प्रदेश हैं वहींसे मन.पर्यय-ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्वाङ्गसे होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शंखादिक चिन्होंके स्थानसे ही होता है। साथ ही इन चिन्होंका स्थान द्रव्यमनकी तरह निश्चित नहीं है। यह उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा अवधि और मनःपर्ययज्ञानमें अंतर है।

जहाँसे मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है उस द्रव्यमनका स्थान और आकार बताते हैं—

हिदि होदि हु दव्वमणं, वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा।
अंगोवंगुदयादो, मणवग्गणखंधदो णियमा ॥४४३॥

हृदि भवति हि द्रव्यमनः विकसिताष्टच्छदारविंदवत्।
आंगोपांगोदयात् मनोवर्गणास्कन्धतो नियमात् ॥४४३॥

अर्थ—आंगोपांगनामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धोंके द्वारा हृदयस्थानमें नियमसे विकसित आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है।

णोइंदियं ति सण्णा, तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।
वत्तत्ताभावादो, मणमणपज्जं च तत्थ हवे ॥४४४॥

नोइन्द्रियमिति संज्ञा तस्य भवेत् शेषेन्द्रियाणां वा।
व्यक्तत्वाभावात् मनो मनःपर्ययश्च तत्र भवेत् ॥४४४॥

अर्थ—इस द्रव्यमनकी नोइन्द्रिय[1] संज्ञा भी है, क्योंकि दूसरी इन्द्रियोंकी तरह यह व्यक्त नहीं है। इस द्रव्यमनके निमित्तसे भावमन तथा मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१. नो–ईषत् इन्द्रियं नोइंद्रियम्। तथा च "ईषदर्थस्य नञः प्रयोगात्' ईषदिन्द्रियमनिंद्रियमिति। यथा अनुदरा कन्येति। कथमीषदर्थः? इमानीन्द्रियाणि प्रतिनियतदेशविषयाणि कालांतरावस्थायीनि च न तथा मनः इंद्रस्य लिंगमपि सत् प्रतिनियतदेशविषयं कालांतरावस्थायि च" सर्वार्थ–१–१४।

मनःपर्ययज्ञानका स्वामी बताते हैं—

मणपज्जवं च णाणं, सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं ।
एगादिजुदेसु हवे, वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु ॥४४५॥

मनःपर्ययश्च ज्ञानं सप्तसु विरतेसु सप्तर्धीनाम् ।
एकादियुतेषु भवेत् वर्धमानविशिष्टचरणेषु ॥४४५॥

अर्थ—प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानवालेके, इस पर भी सात[1] ऋद्धियोंमेंसे कमसे कम किसी भी एक ऋद्धिको धारण करनेवालेके, ऋद्धिप्राप्तमें भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्रको धारण करनेवालेके ही यह मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उजुमदी होदि ।
णिरवेक्खिय विउलमदी, ओहिं वा होदि णियमेण॥४४६॥

इन्द्रियनोन्द्रिययोगादिमपेक्ष्य ऋजुमतिर्भवति ।
निरपेक्ष्य विपुलमतिः अवधिर्वा भवति नियमेन ॥४४६॥

अर्थ—अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग, काययोग, वचनयोगको अपेक्षासे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् वर्तमानमें विचारप्राप्त स्पर्शनादिके विषयोंको ऋजुमति जानता है। किन्तु विपुलमति अवधिकी तरह इनकी अपेक्षाके विना ही नियमसे होता है।

पडिवादी पुण पढमा, अप्पडिवादी हु होदि विदिया हु ।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो विदियबोहो दु ॥४४७॥

प्रतिपाती पुनः प्रथमः अप्रतिपाती हि भवति द्वितीयो हि ।
शुद्धः प्रथमो बोधः शुद्धतरो द्वितीयबोधस्तु ॥ ४४७ ॥

अर्थ—ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमतिवाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियोंपर चढ़ता है। उसमें यद्यपि क्षपकको अपेक्षा ऋजुमतिवालेका पतन नहीं होता; तथापि उपशमश्रेणिकी अपेक्षा चारित्र मोहनीयकर्मका उद्रेक हो आनेके कारण कदाचित् उसका पतन भी सम्भव है। विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है। तथा ऋजुमति शुद्ध है, और विपुलमति इससे भी शुद्ध होता है। अर्थात् दोनोंमें विपुलमतिको विशुद्धि प्रतिपक्षीकर्मके क्षयोपशमविशेषके कारण अधिक[2] है!

परमणसि ट्ठियमट्ठं, ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय ।
पच्छा पच्चक्खेण य, उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥४४८॥

परमनसि स्थितमर्थमीहामत्या ऋजुस्थितं लब्ध्वा ।
पश्चात् प्रत्यक्षेण च ऋजुमतिना जानीते नियमात् ॥४४८॥

---

१. बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल और अक्षीण ये सात ऋद्धियां हैं।

२. विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। त. सू १–२४।

अर्थ—ऋजुमतिवाला दूसरेके मनमें सरलताके साथ स्थित पदार्थको पहले ईहामतिज्ञानके द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूपसे नियमसे ऋजुमतिज्ञानके द्वारा जानता है।

चिंतियमचिंतियं वा, अद्धं चिंतियमणेयभेयगयं।
ओहिं वा विउलमदी, लहिऊण विजाणए पच्छा ॥४४९॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्द्धं चिन्तितमनेकभेदगतम्।
अवधिर्वा विपुलमतिः लब्ध्वा विजानाति पश्चात् ॥४४९॥

अर्थ—चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदोंको प्राप्त दूसरेके मनोगत पदार्थको अवधिकी तरह विपुलमति प्रत्यक्षरूपसे जानता है।

दव्वं खेत्तं कालं, भावं पडि जीवलक्खियं रूवि।
उजुविउलमदी जाणदि, अवरवरं मज्झिमं च तहा ॥४५०॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति जीवलक्षितं रूपि।
ऋजुविपुलमती जानीतः अवरवरं मध्यमं च तथा ॥४५०॥

अर्थ—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमेंसे किसीकी भी अपेक्षासे जीवके द्वारा चिंतित रूपी (पुद्गल) द्रव्यको तथा उसके सम्बन्धसे जीवद्रव्यको भी ऋजुमति और विपुलमति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट तीन तीन प्रकारसे जानते हैं।

भावार्थ—दोनोंके ही जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट इस तरह तीन तीन भेद हैं।

ऋजुमतिका जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण बताते हैं—

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु।
चक्खिंदियणिज्जरणं, उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥४५१॥

अवरं द्रव्यमौरालिकशरीरनिर्जीणसमयप्रवद्धं तु।
चक्षुरिन्द्रियनिर्जीर्णमुत्कृष्टमृजुमतेर्भवेत् ॥४५१॥

अर्थ—ऋजुमतिका जघन्य द्रव्य औदारिक शरीरके निर्जीर्ण समयप्रबद्धप्रमाण है। तथा उत्कृष्ट द्रव्य चक्षुरिन्द्रियके निर्जरा-द्रव्य-प्रमाण है।

विपुलमतिके द्रव्यका प्रमाण बताते हैं—

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।
खंडिदमेत्तं होदि हु, विउलमदिस्सावरं दव्वं ॥४५२॥

मनोद्रव्यवर्गणानामनन्तिमभागेन ऋजुगोत्कृष्टम्।
खण्डितमात्रं भवति हि विपुलमतेरवरं द्रव्यम् ॥४५२॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गणाके जितने विकल्प हैं, उसमें अनन्तका भाग देनेसे लब्ध एक भाग-प्रमाण ध्रुवहारका, ऋजुमतिके विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने द्रव्यस्कन्धको विपुलमति जघन्यकी अपेक्षासे जानता है।

अट्ठण्हं कम्माणं, समयबद्धं विविस्ससोवचयम् ।
धुवहारेणिगिवारं, भजिदे विदियं हवे दव्वं ॥४५३॥

अष्टानां कर्मणां समयप्रबद्धं विविस्रसोपचयम् ।
ध्रुवहारेणैकवारं भजिते द्वितीयं भवेत् द्रव्यम् ॥४५३॥

अर्थ—विस्रसोपचयसे रहित आठ कर्मोंके समयप्रबद्धका जो प्रमाण है उसमें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है।

तव्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।
धुवहारेणवहरिदे, होदि हु उक्कस्सयं दव्वं ॥४५४॥

तद्द्वितीयं कल्पानामसंख्येयानां च समयसंख्यासमम् ।
ध्रुवहारेणावहृते भवति हि उत्कृष्टकं द्रव्यम् ॥४५४॥

अर्थ—असंख्यात कल्पोंके जितने समय हैं उतनी वार विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे विपुलमतिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण निकलता है।

गाउयपुधत्तमवरं, उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।
विउलमदिस्स य अवरं, तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ ४५५ ॥

गव्यूतिपृथक्त्वमवरमुत्कृष्टं भवति योजनपृथक्त्वम् ।
विपुलमतेश्च अवरं तस्य पृथक्त्वं वरं खलु नरलोकः ॥ ४५५ ॥

अर्थ—ऋजुमतिका जघन्य क्षेत्र गव्यूतिपृथक्त्व-दो तीन कोस और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्व-सात आठ योजन है। विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र पृथक्त्वयोजन-आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्यलोकप्रमाण है।

णरलोएत्ति य वयणं, विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स ।
जम्हा तग्घणपदरं, मणपज्जवखेत्तमुद्दिट्ठं ॥ ४५६ ॥

नरलोक इति च वचनं विष्कम्भनियामकं न वृत्तस्य ।
यस्मात् तद्घनप्रतरं मनःपर्ययक्षेत्रमुद्दिष्टम् ॥ ४५६ ॥

अर्थ—मनःपर्ययके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण जो नरलोकप्रमाण कहा है सो यहाँ नरलोक इस शब्दसे मनुष्यलोकका विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिये न कि वृत्त, क्योंकि मानुषोत्तर पर्वतके बाहर चारों कोणोंमें स्थित तिर्यंच अथवा देवोंके द्वारा चिंतित पदार्थको भी विपुलमति जानता है; कारण यह कि मनःपर्ययज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र ऊँचाईमें कम होते हुए भी समचतुरस्र घनप्रतररूप पैंतालीस लाख योजप्रमाण है।

दुग-तिगभवा हु अवरं, सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं ।
अड-णवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४५७ ॥

द्विकत्रिकभवा हि अवरं सप्ताष्टभवा भवन्ति उत्कृष्टम् ।
अष्टनवभवा हि अवरमसंख्येयं विपुलोत्कृष्टम् ॥ ४५७ ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षासे ऋजुमतिका विषयभूत जघन्य काल अतीत और अनागत दो तीन भव तथा उत्कृष्ट सात आठ भव है। इसी प्रकार विपुलमतिका जघन्य काल अतीत और अनागत आठ नौ भव तथा उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण भव है।

आवलिअसंखभागं, अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।
तत्तो असंखगुणिदं, असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५८ ॥

आवल्यसंख्यभागमवरं च वरं च वरमसंख्यगुणम्।
ततोऽसंख्यगुणितमसंख्यलोकं तु विपुलमतिः ॥ ४५८ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षासे ऋजुमतिका जघन्य तथा उत्कृष्ट विषय आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण है; तथापि जघन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है। विपुलमतिका जघन्य प्रमाण ऋजुमतिके उत्कृष्ट विषयसे असंख्यातगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात लोकप्रमाण है।

मज्झिम दव्वं खेत्तं, कालं भावं च मज्झिमं णाणं।
जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिदं समासेण ॥ ४५९ ॥

मध्यमद्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च मध्यमं ज्ञानम्।
जानातीति मनःपर्ययज्ञानं कथितं समासेन ॥ ४५९ ॥

अर्थ—इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताया। इनके मध्यके जितने भेद हैं उनको मनःपर्ययज्ञानके मध्यम भेद विषय करते हैं। इस तरह संक्षेपसे मनःपर्यय ज्ञानका निरूपण किया।

केवलज्ञानका निरूपण करते हैं—

संपुण्णं तु समग्गं, केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं ॥ ४६० ॥

सम्पूर्णं तु समग्रं केवलमसपत्नं[१] सर्वभावगतम्।
लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मन्तव्यम् ॥ ४६० ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत, और लोकालोकमें अन्धकार रहित होता है।

भावार्थ—यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है और लोकालोकके विषयमें आवरण रहित है। तथा जीवद्रव्यकी ज्ञानशक्तिके जितने अंश हैं वे यहाँपर सम्पूर्ण व्यक्त हो गये हैं, इसलिये उसको (केवलज्ञानको) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तरायका सर्वथा क्षय होजानेके कारण वह अप्रतिहतशक्तियुक्त है, और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल कहते हैं। चारों घातिकर्मोंके सर्वथा क्षय उत्पन्न होनेके कारण वह क्रम करण और व्यवधानसे रहित है, फलतः युगपत् और समस्त

१. जी. प्र. टीकामें "असवत्त" शब्दकी संस्कृत छाया "असंपन्नं" की गई है। और टीकामें भी असंपन्नं ही लिखा है।

पदार्थोंके ग्रहण करनेमें उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिये उसको असपत्न (प्रतिपक्षरहित) कहते हैं।

ज्ञानमार्गणामें जीवसंख्याका निरूपण करते हैं—

चदुगदिमदिसुदबोहा, पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा ।
संखेज्जा केवलिणो, सिद्धादो होंति अतिरित्ता ॥ ४६१ ॥

चतुर्गतिमतिश्रुतबोधाः पल्यासंख्येया हि मनःपर्ययाः ।
संख्येयाः केवलिनः सिद्धात् भवन्ति अतिरिक्ताः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—चारों गतिसम्बन्धी मतिज्ञानियोंका अथवा श्रुतज्ञानियोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण है, मनःपर्ययवाले कुल संख्यात हैं तथा केवलियोंका प्रमाण सिद्धराशिसे कुछ अधिक है।

भावार्थ—सिद्धराशिमें जिनकी (अर्हन्तोंकी) संख्या मिलानेसे केवलियोंका प्रमाण होता है।

ओहिरहिदा तिरिक्खा, मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा ।
संखेज्जा हु तदूणा, मदिणाणी ओहिपरिमाणं ॥ ४६२ ॥

अवधिरहिताः तिर्यञ्चः मतिज्ञान्यसंख्याभागका मनुजाः ।
संख्येया हि तदूना मतिज्ञानिनः अवधिपरिमाणम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ—अवधिज्ञानरहित तिर्यञ्च मतिज्ञानियोंकी संख्याके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं और अवधिज्ञानरहित मनुष्य संख्यात हैं। तथा इन दोनों ही राशियोंको मतिज्ञानियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अवधिज्ञानियोंका प्रमाण है।

पल्लासंखघणंगुलहदसेणितिरिक्खगदिविभंगजुदा ।
णरसहिदा किंचूणा, चदुगदिवेभंगपरिमाणं ॥ ४६३ ॥

पल्यासंख्यघनांगुलहतश्रेणितिर्यग्गतिविभंगयुताः ।
नरसहिताःकिञ्चिदूनाः चतुर्गतिवैभंगपरिमाणम् ॥४६३॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातवें भागसे गुणित घनांगुलका और जगच्छ्रेणीका गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने तिर्यञ्च, और संख्यात मनुष्य, घनांगुलके द्वितीय वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी[1], तथा सम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणसे रहित सामान्य देवराशि, इन चारों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने विभंगज्ञानी हैं।

सण्णाणरासिपंचयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु ।
मदिसुद-अण्णाणीणं, पत्तेयं होदि परिमाणं ॥४६४॥

सद्ज्ञानराशिपञ्चकपरिहीनः सर्वजीवराशिर्हि ।
मतिश्रुताज्ञानिनां प्रत्येकं भवति परिमाणम् ॥४६४॥

---

१. परन्तु इसमें से सम्यग्दृष्टियोंका प्रमाण घटाना।

अर्थ—पांच सम्यग्ज्ञानी जीवोंके प्रमाणको (केवलियोंके प्रमाणसे कुछ अधिक) सम्पूर्ण जीवराशिके प्रमाणमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतने कुमतिज्ञानी तथा उतने ही कुश्रुतज्ञानी जीव हैं।

॥ इति ज्ञानमार्गणाधिकारः ॥

●

॥ अथ संयममार्गणाधिकारः ॥

क्रमानुसार ज्ञानमार्गणाका वर्णन करके अब संयममार्गणाका प्ररूपण करते हैं। उसमें सबसे प्रथम संयमका लक्षण बताते हैं—

वदसमिदिकसायाणं, दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ[1] ॥४६५॥

व्रतसमितिकषायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पंचानाम्।
धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः ॥४६५॥

अर्थ—अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील (ब्रह्मचर्य) अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोंका धारण करना ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना, क्रोधादि चार प्रकारकी कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन, कायरूप दण्डका त्याग, तथा पांच इन्द्रियोंका जय, इसको संयम[2] कहते हैं। अतएव संयमके पांच भेद हैं।

संयमकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं—

बादरसंजलणुदये, सुहुमुदये समखये य मोहस्स।
संजमभावो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥४६६॥

बादरसंज्वलनोदये सूक्ष्मोदये शमक्षययोश्च मोहस्य।
संयमभावो नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥४६६॥

अर्थ—बादर संज्वलनके उदयसे अथवा सूक्ष्मलोभके उदयसे और मोहनीय कर्मके उपशमसे अथवा क्षयसे नियमसे संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

इसी अर्थको दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं—

बादरसंजलणुदये, बादरसंजमतियं खु परिहारो।
पमदिदरे सुहुमुदये, सुहुमो संजमगुणो होदि ॥४६७॥

बादरसंज्वलनोदये बादरसंयमत्रिकं खलु परिहारः।
प्रमत्तेतरस्मिन् सूक्ष्मोदये सूक्ष्मः संयमगुणो भवति ॥४६७॥

अर्थ—जो संयमके विरोधी नहीं हैं ऐसे बादर संज्वलन कषायके देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे

१. प. खं. १ गा. नं. ९२। २. सं-सम्यक् प्रकारेण यमनं-निरोधः संयमः।

सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि ये तीन संयम-चारित्र होते हैं। इनमेंसे परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्तमें ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं। सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त संज्वलन लोभके उदयसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान-वर्ती संयम होता है।

भावार्थ—ये संयम या चारित्रके भाव बादर संज्वलनकषायके उदय क्षयोपशम, उपशम और क्षयसे हुआ करते हैं। संज्वलनका अर्थ भी यही है कि सं अर्थात् संयमके साथ ज्वलति जलती रहे। मतलब यह कि यह कषाय संयमकी सर्वथा विरोधी नहीं है। संयमचारित्रके-आगम प्रसिद्ध पांच भेद इस प्रकार हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इनमेंसे पहले तीन चारित्र संज्वलनके क्षयोपशमसे हुआ करते हैं। परन्तु परिहारविशुद्धि संयम प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें ही रहा करता है और सामायिक छेदोपस्थापना संयम प्रमत्त–छट्ठे गुणस्थानसे लेकर नौवें गुणस्थान अनिवृत्तिकरण पर्यन्त पाये जाते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र दशवें गुण-स्थानमें हुआ करता है जब कि संज्वलन लोभ कषाय सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त होकर अत्यन्त सूक्ष्मरूप-में उदयमें आया करता है। यथाख्यात चारित्र सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतकषायमें और सर्वथा क्षयसे क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है जैसा कि आगे की गाथामें बताया जा रहा है।

जहखादसंजमो पुण, उवसमदो होदि मोहणीयस्स।
खयदो वि य सो णियमा, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥४६८॥

यथाख्यातसंयमः पुनः उपशमतो भवति मोहनीयस्य।
क्षयतोऽपि च स नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥४६८॥

अर्थ—यथाख्यात संयम नियमसे मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव-ने कहा है।

तदियकसायुदयेण य, विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं।
बिदियकसायुदयेण य, असंजमो होदि णियमेण ॥४६९॥

तृतीयकषायोदयेन च विरताविरतो गुणो भवेत् युगपत्।
द्वितीयकषायोदयेन च असंयमो भवति नियमेन ॥ ४६९ ॥

अर्थ—तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे विरताविरत = देशविरत = मिश्रविरत-संयमासंयम नामका पांचवाँ गुणस्थान होता है और दूसरी अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम (संयमका अभाव) होता है।

भावार्थ—इस तरह कुल मिलाकर संयमके सात भेद होते हैं जिनका कि यहाँ पर संयम मार्गणामें आगे वर्णन किया जायगा।

सामायिक संयमका निरूपण करते हैं—

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवो समुव्वहंतो, सामाइयसंजमो होदि[1] ॥४७०॥

---

१. प. खं. १ गाथा नं. ८७।

संगृह्य सकलसंयममेकयममनुत्तरं दुरवगम्यम् ।
जीवः समुद्वहन् सामायिकसंयमो भवति ॥४७०॥

अर्थ—उक्त व्रतधारण आदिक पांच प्रकारके संयममें संग्रह नयकी अपेक्षासे एकयम-भेद रहित होकर अर्थात् अभेद रूपसे 'मैं सर्व सावद्यका त्यागी हूँ" इस तरहसे जो सम्पूर्ण सावद्यका त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं। यह संयम अनुपम है तथा दुर्लभ है और दुर्धर्ष है। इसके पालन करनेवालेको सामायिकसंयमी कहते है।

छेदोपस्थापना संयमका निरूपण करते हैं।

छेत्तूण य परियायं, पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
पंचजमे धम्मे सो, छेदोवट्ठावगो जीवो[1] ॥४७१॥

छित्वा च पर्यायं पुराणं यः स्थापयति आत्मानम् ।
पंचयमे धर्म्मे सः छेदोपस्थापको[2] जीवः ॥४७१॥

अर्थ—प्रमादके निमित्तसे सामायिकादिसे च्युत होकर जो सावद्य क्रियाके करनेरूप सावद्य-पर्याय होती है उसका प्रायश्चित्तविधिके अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्माको व्रतधारणादिक पांच प्रकारके संयमरूप धर्ममें स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं।

परिहारविशुद्धिसंयमीका स्वरूप बताते हैं—

पंचसमिदो तिगुत्तो, परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंचेक्कजमो पुरिसो, परिहारयसंजदो सो हु[3] ॥४७२॥

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः परिहरति सदापि यो हि सावद्यम् ।
पञ्चैकयमः पुरुषः परिहारकसंयतः स हि ॥४७२॥

अर्थ—पांच प्रकारके संयमियोंमेंसे सामान्य-अभेदरूपसे अथवा विशेष-भेदरूपसे सर्व-सावद्यका सर्वथा परित्याग करनेवाला जो जीव पांच समिति और तीन गुप्तिको धारण कर उनसे युक्त रहकर सदा सावद्यका त्याग करता है उस पुरुषको परिहारविशुद्धिसंयमी कहते हैं। अर्थात् जो इस तरह-से सावद्यसे सदा दूर रहता है वह जीव पांच प्रकारके संयमियोंमें तीसरे परिहारविशुद्धिसंयमका धारक माना जाता है।

इसीका विशेष स्वरूप कहते हैं—

तीसं वासो जम्मे, वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले ।
पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणदुगाउयविहारो ॥४७३॥

त्रिंशद्वार्षो जन्मनि वर्षपृथक्त्वं खलु तीर्थकरमूले ।
प्रत्याख्यानं पठितः संध्योनद्विगव्यूतिविहारः ॥४७३॥

---

१. प. खं. १ गा. नं. १८८।

२. छेदेन-प्रायश्चित्तेन य आत्मानं संयमे उपस्थापयति अथवा छेदे सति पुनः यः आत्मानं संयमे उपस्थापयति स छेदोपस्थापकः।

३. प. खं. १ गा. नं. १८९ तत्र 'पचममेयजमो वा "इति पाठः।

अर्थ—जन्मसे लेकर तीस वर्षतक सदा सुखी रहकर पुनः दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थंकर भगवानके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्वका अध्ययन करनेवाले जीवके यह संयम होता है। इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालोंको छोड़कर प्रतिदिन दो कोस पर्यन्त गमन करता है, रात्रिको गमन नहीं करता। और इसके वर्षाकालमें गमन करनेका या न करनेका कोई नियम नहीं है।

भावार्थ—जिस संयममें परिहारके साथ विशुद्धि हो उसको परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं। प्राणिपीडाके त्यागको परिहार कहते हैं। इस संयमवाला जीव जीवराशिमें विहार करता हुआ भी जलसे कमलकी तरह हिंसासे लिप्त नहीं होता[1] अतएव इसको वर्षायोगका नियम नहीं रहता।

सूक्ष्मसाम्पराय संयमवालेका स्वरूप बताते हैं—

अणुलोहं वेदंतो, जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसांपराओ, जहखादेणूणओ किंचि[2] ॥ ४७४ ॥

अणुलोभं विदन् जीवः उपशामको वा क्षपको वा।
स सूक्ष्मसाम्परायः यथाख्यातेनोनः किञ्चित् ॥ ४७४ ॥

अर्थ—जिस उपशमश्रेणीवाले अथवा क्षपकश्रेणिवाले जीवके अणुमात्र लोभ-सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभकषायके उदयका अनुभव होता है उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं। इसके परिणाम यथाख्यात चारित्रवाले जीवके परिणामोंसे कुछ ही कम होते हैं, क्योंकि यह संयम दशवें गुणस्थानमें होता है और यथाख्यात संयम ग्यारहवेंसे शुरू होता है।

यथाख्यात संयमका स्वरूप बताते हैं—

उवसंते खीणे वा, असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि।
छदुमट्ठो व जिणो वा, जहखादो संजदो सो[3] दु ॥ ४७५ ॥

उपशान्ते क्षीणे वा अशुभे कर्मणि मोहनीये।
छद्मस्थो वा जिनो वा यथाख्यातः संयतः स तु ॥ ४७५ ॥

अर्थ—अशुभरूप मोहनीय कर्मके सर्वथा उपशम होजानेसे ग्याहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके, और सर्वथा क्षीण होजानेसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवाले जीवोंके यथाख्यात संयम होता है।

भावार्थ—यथावस्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिको यथाख्यातसंयम कहते हैं। यह संयम ग्यारहवेंसे लेकर चौदहवें तक चार गुणस्थानोंमें होता है। ग्यारहवेंमें चारित्रमोहनीय कर्मके उपशमसे और ऊपरके तीन गुणस्थानोंमें क्षयसे यह होता है। इस तरहसे यह संयम छद्मस्थ और

---

१. परिहारर्द्धिसमेतः जीवः षट्कायसंकुले विहरन्। पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥ १ ॥ परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिन् स संयमो यस्य स परिहार-विशुद्धिसयमः।

२, ३. ष. खं. १, गाथा नं १९०–१९१।

जिन दोनों ही प्रकारके जीवोंके पाया जाता है। क्षायोपशमिक ज्ञानीको छद्मस्थ और क्षायिक ज्ञानीको जिन कहते हैं।

दो गाथाओं द्वारा देशविरतका निरूपण करते हैं—

पंचतिहिचहुविहेहिं य, अणुगुणसिक्खावयेहिं संजुत्ता।
उच्चंति देसविरया, सम्माइट्ठी झलियकम्मा[1] ॥ ४७६ ॥

पञ्चत्रिचतुर्विधैश्च अणुगुणशिक्षाव्रतैः संयुक्ताः।
उच्यन्ते देशविरताः सम्यग्दृष्टयः झरितकर्माणः ॥ ४७६ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी जीव पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इस तरह कुल बारह व्रतोंसे युक्त हैं उनको देशविरत अथवा संयमासंयमी कहते हैं। इस देशसंयमके द्वारा जीवोंके असंख्यातगुणो कर्मोंकी निर्जरा होती है।

दंसणवयसामाइय, पोसहसच्चित्तरायभत्ते य।
बम्हारंभपरिग्गह, अणुमणमुद्दिट्ठदेसविरदेदे[2] ॥ ४७७ ॥

दर्शनव्रतसामायिकाः प्रोषधसचित्तरात्रिभक्ताश्च।
ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टदेशविरता एते ॥ ४७७ ॥

अर्थ—दार्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पांचवें गुणस्थान) के ग्यारह भेद[3] हैं।

भावार्थ—नामके एकदेशसे पूर्ण नामका बोध हो जाता है, इस नियमके अनुसार यद्यपि गाथामें ग्यारह प्रतिमाओंके नामका एक देशमात्र ही लिखा है परन्तु उससे पूर्ण नाम ग्रहण कर लेना चाहिये।

असंयतका स्वरूप वताते हैं—

जीवा चोद्दसभेया, इंदियविसया तहट्ठवीसं तु।
जे तेसु णेव विरया, असंजदा ते मुणेदव्वा[4] ॥ ४७८ ॥

जीवाश्चतुर्दशभेदा इन्द्रियविषयाः तथाष्टाविंशतिस्तु।
ये तेषु नैव विरता असंयताः ते मन्तव्याः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—चौदह प्रकारके जीवसमास और अट्ठाईस प्रकारके इन्द्रियोंके विषय इनसे जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं।

भावार्थ—चौदह जीवसमासोंके भेद पहले[5] वता चुके हैं और इन्द्रिय विषयोंके अट्ठाईस

१,२,४. प. खं. १ गा. नं. १९२,१९३,१९४।

३. इन ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार, यशस्तिलक उपासकाध्ययन, सागारधर्मामृत आदि चरणानुयोगके ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

५. देखो गाथा नं० ७२।

भेद आगेकी गाथामें बता रहे हैं। जो इनसे विरत हैं वे संयमी हैं। जो विरत नहीं हैं वे असंयमी हैं। संयम दो प्रकारका है—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। जीवोंकी रक्षाको प्राणिसंयम और इन्द्रिय विषयोंके त्यागको इन्द्रियसंयम कहते हैं। जो इस संयमसे रहित हैं उनको असंयमी कहते हैं।

अट्ठाईस इन्द्रियविषयोंके नाम गिनाते हैं—

पंचरसपंचवण्णा, दो गंधा अट्ठफाससत्तसरा।
मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा॥ ४७९॥

पञ्चरसपञ्चवर्णाः द्वौ गन्धौ अष्टस्पर्शसप्तस्वराः।
मनःसहिताः अष्टाविंशतिः इन्द्रियविषयाः मन्तव्याः॥ ४७९॥

अर्थ—पांच रस (मीठा, खट्टा, कषायला, कडुवा, चरपरा) पांच वर्ण (सफेद, पीला, हरा[1] लाल, काला) दो गन्ध (सुगंध, दुर्गन्ध) आठ स्पर्श (कोमल, कठोर, हल्का, भारी, शीत, उष्ण, रूखा, चिकना) सात स्वर (षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद) और एक मन इस तरह ये इन्द्रियोंके अट्ठाईस विषय हैं।

संयममार्गणामें जीवसंख्या बताते हैं—

पमदादिचउण्हजुदी, सामयियदुगं कमेण सेसतियं।
सत्तसहस्सा णवसय, णवलक्खा तीहिं परिहीणा॥ ४८०॥

प्रमत्तादिचतुर्णां युतिः सामायिकद्विकं क्रमेण शेषत्रिकम्।
सप्त सहस्राणि नव शतानि नव लक्षाणि त्रिभिः परिहीनानि॥ ४८०॥

अर्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जीवोंका जितना प्रमाण[2] है उतने सामायिकसंयमी होते हैं और उतने ही छेदोपस्थापनासंयमी होते हैं। परिहारविशुद्धि संयमवाले तीन कम सात हजार (६९९७) सूक्ष्मसांपराय संयमवाले तीन कम नौ सौ (८९७) यथाख्यातसंयमवाले तीन कम नौ लाख (८९९९९७) होते हैं।

पल्लासंखेज्जदिमं, विरदाविरदाण दव्वपरिमाणं।
पुव्वुत्तरासिहीणा, संसारी अविरदाण पमा॥ ४८१॥

पल्यासंख्येयं विरताविरतानां द्रव्यपरिमाणम्।
पूर्वोक्तराशिहीना संसारिणः अविरतानां प्रमा॥ ४८१॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातवें भाग देशसंयमी जीवोंका प्रमाण है। इस प्रकार उक्त संयमियों और देशसंयमियोंको मिलाकर छह राशियोंको संसारी जीवराशिमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना असंयमियोंका प्रमाण है।

॥ इति संयममार्गणाधिकारः॥

०

---

१. कहीं हरेकी जगह नील कहीं नील की जगह हरित पाठ बोला जाता है। कृष्ण-नील-पीत-शुक्ल-लोहितभेदात्। स. सि. ५-२३ तथा ८.११।

२. आठ करोड़ नव्वे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तीन (८९०९९१०३)।

क्रमप्राप्त दर्शनमार्गणाका निरूपण करते हैं—

जं सामण्णं गहणं, भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूण अट्ठे, दंसणमिदि भण्णदे समये[1] ॥ ४८२ ॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावनां नैव कृत्वाकारम्।
अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये ॥ ४८२ ॥

अर्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशको ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्परूपसे ग्रहण होता है उसको परमागममें दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है फिर भी उसमें आकार-भेद न करके जाति गुण क्रिया आकार प्रकारकी विशेषता किए विना ही जो स्व या परका सत्तामात्र सामान्य ग्रहण होता है वही दर्शनोपयोग है।[2]

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—

भावाणं सामण्ण-विसेसयाणं सरूवमेत्तं जं।
वण्णणहीणग्गहणं, जीवेण य दंसणं होदि ॥ ४८३ ॥

भावानां सामान्य-विशेषकानां स्वरूपमात्रं यत्।
वर्णनहीनग्रहणं जीवेन च दर्शनं भवति ॥ ४८३ ॥

अर्थ—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थोंकी स्वरूपमात्र स्व-परसत्ताका निर्विकल्परूपसे जीवके द्वारा जो अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—पदार्थोंमें सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किन्तु इनके केवल स्वरूपमात्रकी अपेक्षासे जो स्व-परसत्ताका अभेदरूप निर्विकल्प अवभासन होता है उसको दर्शन[3] कहते हैं अतएव वह निराकार है और इसीलिए इसका शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसके चार भेद हैं—चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन।

प्रथम चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शनका स्वरूप कहते हैं—

चक्खूण जं पयासइ, दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेंति।
सेसिंदियप्पयासो, णायव्वो सो अचक्खू त्ति[4] ॥ ४८४ ॥

चक्षुषोः यत् प्रकाशते पश्यति तत् चक्षुर्दर्शनं ब्रुवन्ति।
शेषेन्द्रियप्रकाशो ज्ञातव्यः स अचक्षुरिति ॥ ४८४ ॥

अर्थ—चक्षुरिन्द्रिय सम्बन्धी जो सामान्य प्रकाश-आभास अथवा देखना, अथवा वह ग्रहण-विषयका प्रकाशनमात्र जिसके द्वारा हो–जिसके द्वारा वह देखा जाय, यद्वा उसके कर्ता–देखनेवालेको

---

१. द्र. सं. गा. नं. ४३ तथा प. खं. १ गा. नं. ९३।

२. इस गाथा का विशेष अर्थ जाननेके लिए देखो प. खं. १ पृ. १४५ से १४९।

३. पश्यति दृश्यते अनेन दर्शनमात्रं वा दर्शनम्।

४. प. खं. १ गाथा नं. १९५,१९६। तथा देखो पृ. ३८० से ३८२।

चक्षुर्दर्शन कहते हैं और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके द्वारा अथवा मनके द्वारा जो पदार्थका सामान्यरूप ग्रहण होता है उसको अचक्षुर्दर्शन कहते हैं।

अवधिदर्शनका स्वरूप बताते हैं—

परमाणुआदियाइं, अन्तिमखंधं ति मुत्तिदव्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण, जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं[1] ॥ ४८५ ॥

परमाण्वादीनि अन्तिमस्कन्धमिति मूर्तद्रव्याणि ।
तदवधिदर्शनं पुनः यत् पश्यति तानि प्रत्यक्षम् ॥ ४८५ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान होनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणुसे लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यका जो सामान्यरूपसे प्रत्यक्ष–देखना–ग्रहण–प्रकाश–अवभासन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शनके अनन्तर प्रत्यक्ष अवधिज्ञान होता है।

केवलदर्शनको कहते हैं—

बहुविहबहुप्पयारा, उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।
लोगालोगवितिमिरो, जो केवलदंसणुज्जोओ[2] ॥ ४८६ ॥

बहुविधबहुप्रकारा उद्योताः परिमिते क्षेत्रे ।
लोकालोकवितिमिरो यः केवलदर्शनोद्योतः ॥ ४८६ ॥

अर्थ—तीव्र, मंद, मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र-सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्में पाये जाते हैं, परन्तु वे परिमित क्षेत्रमें ही रहते और काम करते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे आत्माके सामान्य आभासरूप प्रकाशको केवलदर्शन कहते हैं।

भावार्थ—समस्त पदार्थोंका जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवलदर्शन कहते हैं।

दर्शनमार्गणामें दो गाथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं—

जोगे चउरक्खाणं, पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं ।
चक्खूणमोहिकेवलपरिमाणं, ताण णाणं च ॥ ४८७ ॥

योगे चतुरक्षाणां पञ्चाक्षाणां क्षीणचरमाणाम् ।
चक्षुषामवधिकेवलपरिमाणं तेषां ज्ञानं च ॥ ४८७ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जितने पञ्चेन्द्रिय हैं उनका तथा चतुरिन्द्रिय जीवोंकी संख्याका परस्पर जोड़ देनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने ही चक्षुर्दर्शनी जीव हैं। और अवधिज्ञानी तथा केवलज्ञानी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही क्रमसे अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनवालोंका प्रमाण है।

भावार्थ—चक्षुर्दर्शन दो प्रकारका होता है, एक शक्तिरूप दूसरा व्यक्तिरूप। चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियलब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके शक्तिरूप चक्षुर्दर्शन होता है, और पर्याप्त जीवोंके व्यक्तिरूप चक्षु-

१. प. सं. १ गाथा नं. १९६।
२. प. सं. १ गाथा नं. १९७।

दर्शन होता है। इनमेंसे प्रथम शक्तिरूप चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं। आवलीके असंख्यातवें भागका प्रतरांगुलमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका भी जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतनी राशिप्रमाण त्रसराशि है। उसमें त्रैराशिक द्वारा लब्ध चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रियोंके प्रमाण-मेंसे कुछ कम करना; क्योंकि द्वीन्द्रियादि जीवोंका प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ कुछ कम कम होता गया है। तथा लब्ध राशिमेंसे पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटाना। शेष शक्तिरूप चक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका प्रमाण होता है। इस ही तरह पर्याप्त त्रस राशिमें चारका भाग देकर दोसे गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसमेंसे कुछ कम व्यक्तरूप चक्षुर्दर्शनवालोंका प्रमाण है। अवधिदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण अवधिज्ञानियोंके बराबर है और केवलज्ञानियोंके बराबर केवलदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण है।

अचक्षुर्दर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं—

एइंदियपहुदीणं, खीणकसायंतणंतरासीणं।
जोगो अचक्खुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं ॥ ४८८ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतीनां क्षीणकषायान्तानन्तराशीनाम्।
योगः अचक्षुर्दर्शनजीवानां भवति परिमाणम् ॥ ४८८ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त अनन्तराशिके जोड़को अचक्षुर्दर्शनवाले जीवोंका प्रमाण समझना चाहिये।

॥ इति दर्शनमार्गणाधिकारः ॥

०

अथ लेश्यामार्गणाधिकारः

क्रमप्राप्त लेश्यामार्गणाका वर्णन करनेके पहले लेश्याका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

लिंपइ अप्पीकीरइ, एदीए णियअपुण्णपुण्णं च।
जीवो त्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा[1] ॥४८९॥

लिम्पत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपुण्यं च।
जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता ॥४८९॥

अर्थ—लेश्याके गुणको-स्वरूपको जाननेवाले गणधरादि देवोंने लेश्याका स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करे,=पुण्य और पापके अधीन करे उसको लेश्या[2] कहते हैं।

भावार्थ—लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। द्रव्यलेश्या शरीरके वर्ण-

---

१. प. खं. १ गाथा ९४। तत्र "णिययपुण्णपावं च" इति पाठः।
२. जीवः पुण्यपापकर्मभिरात्मानं लिम्पत्यात्मीकरोत्यनया सा लेश्या।

रूप और भावलेश्या जीवके परिणामस्वरूप है। यहाँपर भावलेश्याको ही दृष्टिमें रखकर यह निरुक्तिसिद्ध लक्षण कहा गया है।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—

जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्णं कज्जं, बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥४९०॥

योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरञ्जिता भवति।
ततः द्वयोः कार्यं बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥४९०॥

अर्थ—कषायोदयसे अनुरक्त योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। इस ही लिये दोनोंका बन्ध-चतुष्करूप कार्य परमागममें कहा है।

भावार्थ—कषाय और योग इन दोनोंके जोड़को लेश्या कहते हैं। इस ही लिये कषायो-दयानुरंजित योगप्रवृत्तिका जो बन्धचतुष्करूप कार्य है वही लेश्याका कार्य है; क्योंकि बन्धचतुष्क-मेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगके द्वारा होता है और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायके द्वारा होता है। जहाँ पर कषायोदय नहीं रहता वहाँपर केवल योगको भी उपचारसे लेश्या कहते हैं। अतएव वहाँ पर उपचरित लेश्याका कार्य भी केवल प्रकृति-प्रदेशबन्धरूप ही होता है, स्थिति-अनुभागबन्ध नहीं होता।

लेश्यामार्गणाका आगे क्रमसे जिनके द्वारा विशेष वर्णन किया जायगा उन सोलह अधि-कारोंका दो गाथाओं द्वारा नामनिर्देश करते हैं—

णिद्देसवण्णपरिणामसंकमो कम्मलक्खणगदी य।
सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो ॥४९१॥
अन्तरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति।
लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ॥४९२॥

निर्देशवर्णपरिणामसंक्रमाः कर्मलक्षणगतयश्च।
स्वामी साधनसंख्ये क्षेत्रं स्पर्शस्ततः कालः ॥४९१॥
अन्तरभावाल्पबहुत्वमधिकाराः षोडश भवन्तीति।
लेश्यानां साधनार्थं यथाक्रमं तैर्वक्ष्यामि ॥४९२॥

अर्थ—निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व ये लेश्याओंकी सिद्धिके लिये सोलह अधिकार परमागममें कहे गये हैं। इनके ही द्वारा आगे क्रमसे लेश्याओंका निरूपण करेंगे—

प्रथम निर्देशके द्वारा लेश्याका निरूपण करते हैं—

किण्हा णीला काऊ, तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य।
लेस्साणं णिद्देसा, छच्चेव हवंति णियमेण ॥४९३॥

कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ललेश्या च।
लेश्यानां निर्देशाः षट् चैव भवन्ति नियमेन ॥४९३॥

अर्थ—लेश्याओंके नियमसे ये छह ही निर्देश-संज्ञाएं हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या) पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या ।

भावार्थ—इस गाथामें कहे हुए एव शब्दके द्वारा ही नियम अर्थसिद्ध हो जानेसे पुनः नियम शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है । अतएव वह व्यर्थ ठहरकर ज्ञापन सिद्ध विशेष अर्थको सूचित करता है कि लेश्याके यद्यपि सामान्यतया नैगम नयकी अपेक्षा छह भेद ही हैं; तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लेश्याओंके असंख्यात लोकप्रमाण अवान्तर भेद होते हैं ।

वर्णकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं—

वण्णोदयेण जणिदो, सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।
सा सोढा किण्हादी, अणेयभेया सभेयेण ॥४९४॥

वर्णोदयेन जनितः शरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।
सा षोढा कृष्णादिः अनेकभेदा स्वभेदेन ॥४९४॥

अर्थ—वर्ण नामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं । इसके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ये छह भेद हैं । तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं ।

छप्पयणीलकवोदसुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥४९५॥

षट्पदनीलकपोतसुहेमाम्बुजशंखसन्निभाः वर्णे ।
संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च प्रत्येकम् ॥४९५॥

अर्थ—वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणिके (नीलमके) समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोतलेश्या, सुवर्णके समान पीतलेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्ललेश्या होती है । इनमेंसे प्रत्येकके इन्द्रियोंसे प्रकट होनेकी अपेक्षा संख्यात भेद हैं, तथा स्कन्धोंके भेदोंकी अपेक्षा असंख्यात और परमाणुभेदकी अपेक्षा अनन्त तथा अनंतानंत भेद होते हैं ।

किस गतिमें कौनसी लेश्या होती है यह बताते हैं—

णिरया किण्हा कप्पा, भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये ।
उत्तरदेहे छक्कं, भोगे रविचंदहरिदंगा ॥ ४९६ ॥

निरयाः कृष्णाः कल्पाः भावानुगता हि त्रिसुरनरतिरश्चि ।
उत्तरदेहे षट्कं भोगे रविचन्द्रहरितांगा ॥ ४९६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण ही हैं । कल्पवासी देवोंकी द्रव्यलेश्या (शरीरका वर्ण) भावलेश्याके सदृश होती है । भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी मनुष्य तिर्यञ्च इनकी द्रव्यलेश्या छहों होती हैं, तथा देवोंकी विक्रियाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले शरीरका वर्ण भी छह प्रकारमेंसे किसी भी एक प्रकारका होता है । उत्तम भोगभूमिवाले मनुष्य तिर्यंचोंका शरीर सूर्यसमान, मध्यम भोगभूमिवाले मनुष्य तिर्यंचोंका शरीर चन्द्रसमान तथा जघन्य भोगभूमिवाले मनुष्य तिर्यंचोंका शरीर हरितवर्ण होता है ।

वादरआऊतेऊ, सुक्का तेऊय वाउकायाणं ।
गोमुत्तमुग्गवण्णा, कमसो अव्वतवण्णो य ॥ ४९७ ॥

वादराप्तेजसौ शुक्लतेजसौ वायुकायानाम् ।
गोमूत्रमुद्गवर्णौ क्रमशः अव्यक्तवर्णश्च ॥ ४९७ ॥

अर्थ—क्रमसे वादर जलकायिककी द्रव्यलेश्या शुक्ल और वादर तेजस्कायिककी पीतलेश्या होती है। वायुकायिकके तीन भेद हैं, घनोदधिवात, घनवात, तनुवात। इनमेंसे प्रथमका शरीर गोमूत्रवर्ण, दूसरेका शरीर मूंगसमान और तीसरेके शरीरका वर्ण अव्यक्त है।

सव्वेसिं सुहुमाणं, कावोदा सव्वविग्गहे सुक्का ।
सव्वो मिस्सो देहो, कवोदवण्णो हवे णियमा ॥ ४९८ ॥

सर्वेषां सूक्ष्मानां कापोताः सर्वे विग्रहे शुक्लाः ।
सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवोंका देह कपोतवर्ण है। विग्रहगतिमें सम्पूर्ण जीवोंका शरीर शुक्लवर्ण होता है। तथा अपनी-अपनी पर्याप्तिके प्रारम्भ समयसे शरीरपर्याप्तिपर्यन्त समस्त जीवोंका मिश्र शरीर नियमसे कपोतवर्ण होता है।

इस तरह दूसरा वर्णाधिकार पूर्ण हुआ। अब इसके अनन्तर क्रमानुसार पांच गाथाओंमें परिणामाधिकारको कहते हैं—

लोगाणमसंखेज्जा, उदयट्ठाणा कसायगा होंति ।
तत्थ किलिट्ठा असुहा, सुहा विसुद्धा तदालावा ॥ ४९९ ॥

लोकानामसंख्येयान्युदयस्थानानि कषायगाणि भवन्ति ।
तत्र क्लिष्टान्यशुभानि शुभानि विशुद्धानि तदालापात् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—कषायोंके अनुभागरूप उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। इनमेंसे अशुभ लेश्याओंके संक्लेशरूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं तथापि विशेषताकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाणमें असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभाग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं और एक भागप्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्ध स्थान हैं। परन्तु सामान्यसे ये भी असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं। जो संक्लेशरूप स्थान हैं वे अशुभलेश्यासम्बन्धी हैं और जो विशुद्धिस्थान हैं वे शुभलेश्यासम्बन्धी हैं।

तिव्वतमा तिव्वतरा, तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।
मंदतरा मंदतमा, छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥ ५०० ॥

तीव्रतमास्तीव्रतरास्तीव्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।
मन्दतरा मन्दतमाः पट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥ ५०० ॥

अर्थ—अशुभ लेश्यासम्बन्धी तीव्रतम तीव्रतर तीव्र ये तीन स्थान, और शुभलेश्यासम्बन्धी मन्द मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं। इन कृष्ण लेश्यादिक छहों लेश्याओंमेंसे जो शुभ स्थान

हैं उनमें तो जघन्यसे उत्कृष्टपर्यन्त और जो अशुभ स्थान हैं उनमें उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त प्रत्येक-भेदमें असंख्यात लोकप्रमाण षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि होती है।

असुहाणं वरमज्झिमअवरंसे किण्हणीलकाउतिए।
परिणमदि कमेणप्पा, परिहाणीदो किलेसस्स ॥ ५०१ ॥

अशुभानां वरमध्यमावरांशे कृष्णनीलकापोतत्रिकानाम्।
परिणमति क्रमेणात्मा परिहानितः क्लेशस्य ॥ ५०१ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अंशरूपमें यह आत्मा क्रमसे संक्लेशकी हानिरूपसे परिणमन करता है।

भावार्थ—इस आत्माकी जिस जिस तरह संक्लेशपरिणति कम कम होती जाती है उसी उसी तरह यह आत्मा अशुभ लेश्याओंमेंसे उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याको छोड़कर नील लेश्यारूपमें और नीललेश्याको छोड़कर कापोतलेश्याके रूपमें परिणमन करता है। इसी तरह—

काऊ णीलं किण्हं, परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा।
एवं किलेसहाणीवड्ढीदो, होदि असुहतियं ॥ ५०२ ॥

कापोतं नीलं कृष्णं परिणमति क्लेशवृद्धित आत्मा।
एवं क्लेशहानि-वृद्धितः भवति अशुभत्रिकम् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर संक्लेशपरिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्णलेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है।

तेऊ पउमे सुक्के, सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा।
सुद्धिस्स य वड्ढीदो, हाणीदो अण्णहा होदि ॥ ५०३ ॥

तेजसि पद्मे शुक्ले शुभानामवराद्यंशगे आत्मा।
शुद्धेश्च वृद्धितो हानितः अन्यथा भवति ॥ ५०३ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा पीत पद्म शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशरूपमें परिणमन करता है। तथा विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह शुद्धिकी हानि वृद्धि होनेसे शुभ लेश्याओंका परिणमन होता है।

उक्त परिणामाधिकारको मनमें रखकर अब क्रमानुसार चौथे संक्रमाधिकारका तीन गाथाओं द्वारा निरूपण करते हैं—

संकमणं सट्ठाण-परट्ठाणं होदि किण्ह-सुक्काणं।
वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभये वि ॥ ५०४ ॥

संक्रमणं स्वस्थान-परस्थानं भवति कृष्ण-शुक्लयोः।
वृद्धिषु हि स्वस्थानमुभयं हानौ शेषस्योभयेऽपि ॥ ५०४ ॥

अर्थ—परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं। उसके दो भेद हैं—एक स्वस्थानसंक्रमण, दूसरा परस्थान संक्रमण। किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर उस ही लेश्यारूप जब दूसरा परिणाम होता है वहाँ स्वस्थानसंक्रमण होता है। और किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर किसी दूसरी लेश्या (विवक्षित लेश्यासे भिन्न) का जब कोई परिणाम होता है वहाँ परस्थानसंक्रमण होता है।

कृष्ण और शुक्ललेश्यामें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान-संक्रमण ही होता है और हानिकी अपेक्षा स्वस्थान, परस्थान दोनों ही संक्रमण होते हैं। तथा शेष चार लेश्याओंमें हानि तथा वृद्धि दोनों अपेक्षाओंमें स्वस्थान, परस्थान दोनों ही संक्रमणोंके होनेकी सम्भावना है।

भावार्थ—कृष्णलेश्या अशुभलेश्या है, इसलिये उसमें यदि संक्लेशताकी वृद्धि होगी तो कृष्ण-लेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी। तथा शुक्ललेश्या शुभलेश्या है इसलिये शुक्ललेश्यामें यदि शुभपरिणामोंकी वृद्धि होगी तो शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश पर्यन्त ही होगी। इसलिये वृद्धिकी अपेक्षा कृष्ण और शुक्ललेश्यामें स्वस्थानसंक्रमण ही है। तथा कृष्णलेश्यामें संक्लेशताकी यदि हानि हो तो कृष्णलेश्याके जघन्य अंशपर्यन्त भी हो सकती है और इसके नीचे नील कापोत लेश्यारूप भी हो सकती है, इसलिये कृष्णलेश्यामें हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण सम्भव हैं। इस ही तरह शुक्ल-लेश्यामें यदि विशुद्धताकी हानि हो तो शुक्ललेश्याके जघन्य अंशपर्यन्त भी हो सकती है और उसके नीचे पद्म लेश्यारूप भी हो सकती है, इसलिये इसमें भी हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण सम्भव हैं। किन्तु मध्यकी चार लेश्याओंमेंसे अशुभ लेश्याओंमें संक्लेशताकी हानि हो या वृद्धि हो दोनों प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण हो सकता है। तथा शुभलेश्याओंमें विशुद्धताकी हानि हो या वृद्धि हो दोनों प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण हो सकता है। जैसे पद्मलेश्यामें यदि विशुद्धताकी वृद्धि हुई तो वह पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त भी हो सकती है, इसलिये स्वस्थान संक्रमण, और शुक्ललेश्यारूप भी परिणाम हो सकता है, इसलिये परस्थान संक्रमण भी सम्भव है। इसीप्रकार यदि विशुद्धताकी हानि हो तो पद्मलेश्याके ही जघन्य अंशतक स्वस्थान संक्रमण अथवा पीतलेश्यारूप भी परिणमन हो सकता है, अतएव परस्थान संक्रमणकी भी सम्भावना है। नील और कापोतलेश्यामें भी इसी प्रकार संक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तथा पीतलेश्यामें विशुद्धिकी हानिवृद्धिकी अपेक्षासे स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण हो सकता है यह समझ लेना चाहिये।

लेस्साणुक्कस्सादोवरहाणी अवरगादवरवड्ढी।
सट्ठाणे अवरादो, हाणी णियमा परट्ठाणे॥ ५०५॥

लेश्यानामुत्कृष्टादवरहानिः अवरकादवरवृद्धिः।
स्वस्थाने अवरात् हानिर्नियमात् परस्थाने॥ ५०५॥

अर्थ—स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओंके उत्कृष्ट स्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्त भागहानिरूप है। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्य स्थानके समीप-वर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्त भागवृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्त गुणहानिरूप परस्थान संक्रमण ही होता है।

भावार्थ—किसी विवक्षित लेश्याके जघन्य स्थानसे हानि होकर उसके समीपवर्ती लेश्याके उत्कृष्ट स्थानरूप यदि परिणाम हो तो वहाँपर परस्थान संक्रमण ही होता है और यह स्थान

अनन्त गुणहानिरूप होता है। जैसे कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानके समीप नीललेश्याका उत्कृष्ट स्थान है वह कृष्णलेश्याके जघन्य स्थानसे अनन्त गुणहानिरूप है। कृष्ण नील कपोत लेश्याओंमें हानि वृद्धि संक्लेश परिणामोंकी हुआ करती है और पीत पद्म शुक्ललेश्याओंमें हानि वृद्धि विशुद्धताकी हुआ करती है।

पूर्वोक्त निरूपणका कारण क्या है यह वताते हैं—

संकमणे छट्ठाणा, हाणिसु वड्ढीसु होंति तण्णामा।
परिमाणं च य पुव्वं, उत्तकमं होदि सुदणाणे॥ ५०६ ॥

संक्रमणे षट्स्थानानि हानिषु वृद्धिषु भवन्ति तन्नामानि।
परिमाणं च च पूर्वमुक्तक्रमं भवति श्रुतज्ञाने॥ ५०६॥

अर्थ—संक्रमणाधिकारमें हानि और वृद्धि दोनों अवस्थाओंमें षट्स्थान होते हैं। इन षट्स्थानोंके नाम तथा परिमाण पहले श्रुतज्ञानमार्गणामें जो कहे हैं वे ही यहांपर भी समझना।

भावार्थ—षट्स्थानोंके नाम ये हैं—अनन्तभाग, असंख्यातभाग, संख्यातभाग, संख्यातगुण, असंख्यातगुण, अनन्तगुण। इन षट्स्थानोंकी सहनानी क्रमसे उर्वक चतुरङ्क पञ्चाङ्क षडङ्क सप्ताङ्क अष्टांक है और यहाँपर अनन्तका प्रमाण जीवराशिमात्र, असंख्यातका प्रमाण असंख्यातलोकमात्र और संख्यातका प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात है। इस प्रकार संक्रगमणाधिकार पूर्ण हुआ।

अव क्रमानुसार लेश्याओंके कर्माधिकारको दो गाथाओं द्वारा कहते हैं—

पहिया जे छप्पुरिसा, परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि।
फलभरियरुक्खमेगं, पेक्खिता ते विचितंति॥५०७॥
णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं।
खाउं फलाइं इदि जं, मणेण वयणं हवे कम्मं॥५०८॥

पथिका ये षट् पुरुषाः परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे।
फलभरितवृक्षमेकं प्रेक्षित्वा ते विचिन्तयन्ति॥५०७॥
निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि।
खादितुं फलानि इति यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म्म॥५०८॥

अर्थ—कृष्ण आदि छह लेश्यावाले कोई छह पथिक वनके मध्यमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने अपने मनमें इस प्रकार विचार करते हैं और उसके अनुसार वचन कहते हैं। कृष्णलेश्यावाला विचार करता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे उखाड़कर इसके फलोंका भक्षण करूंगा। नीललेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको स्कन्धसे काटकर इसके फल खाऊंगा। कापोतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी वड़ी-वड़ी शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा। पीतलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी-छोटी शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊँगा। पद्मलेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षके फलोंको तोड़कर खाऊँगा। तथा शुक्ललेश्यावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षसे स्वयं टूट कर पड़े हुए फलोंको खाऊँगा।

इस तरह जो मनःपूर्वक वचनादिकी प्रवृत्ति होती है वह लेश्याका कर्म है। यहाँ पर यह एक दृष्टांतमात्र दिया गया है, इसलिये इस ही तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये।

लेश्याओंके लक्षणाधिकारका निरूपण करते हैं—

चंडो ण मुचइ वेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।
दुट्ठो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स[1] ॥५०९॥

चण्डो न मुञ्चति वैरं भण्डनशीलश्च धर्मदयारहितः।
दुष्टो न चेति वशं लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥५०९॥

अर्थ—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, युद्ध करनेका (लड़नेका) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके भी वश न हो ये सब कृष्णलेश्यावालेके चिन्ह-लक्षण हैं।

नीललेश्यावालेके चिन्ह बताते हैं—

मंदो बुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा, आलस्सो चेव भेज्जो[2] य ॥५१०॥
णिद्दावंचणबहुलो, धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य।
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स[3] ॥५११॥

मन्दो बुद्धिविहीनो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च।
मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेद्यश्च ॥५१०॥
निद्रावञ्चनबहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसंज्ञश्च।
लक्षलमेतद् भणितं समासतो नीललेश्यस्य ॥५११॥

अर्थ—काम करनेमें मन्द हो, अथवा स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कला चातुर्यसे रहित हो, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयोंमें लम्पट हो, मानी हो, मायाचारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको सहसा न जान सकें तथा जो अति निद्रालु और दूसरोंको ठगनेमें अतिदक्ष हो और धनधान्यके विषयमें जिसकी अतितीव्र लालसा हो ये नीललेश्यावालेके संक्षेपसे चिन्ह बताये हैं।

तीन गाथाओंमें कपोतलेश्यावालेका लक्षण कहते हैं—

रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोयभयबहुलो।
असुयइ परिभवइ परं, पसंसये अप्पयं बहुसो[4] ॥५१२॥
ण य पत्तियइ परं सो, अप्पाणं यिव परं पि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो, ण य जाणइ हाणि-वड्ढिं वा[5] ॥५१३॥
मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु[6]।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स ॥५१४॥

१,२,३,४,५,६. प. खं. १ गा. २०० से २०५ तक।

रुष्यति निन्दति अन्यं दुष्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।
असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः ॥५१२॥
न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः ।
तुष्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा ॥५१३॥
मरणं प्रार्थयते रणे ददाति सुबहुकमपि स्तूयमानस्तु ।
न गणयति कार्याकार्यं लक्षणमेतत्तु कापोतस्य ॥५१४॥

अर्थ—दूसरेके ऊपर क्रोध करना, दूसरेकी निन्दा करना, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देना अथवा औरोंसे वैर करना, अधिकतर शोकाकुलित रहना तथा भयग्रस्त रहना या हो जाना, दूसरोंके ऐश्वर्यादिको सहन न कर सकना, दूसरेका तिरस्कार करना, अपनी नानाप्रकारसे प्रशंसा करना, दूसरेके ऊपर विश्वास न करना, अपने समान दूसरोंको भी मानना, स्तुति करनेवाले पर संतुष्ट हो जाना, अपनी हानि वृद्धिको कुछ भी न समझना, रणमें मरनेकी प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालेको खूब धन दे डालना, अपने कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना न करना ये सब कपोत-लेश्यावालेके चिन्ह हैं ।

पीतलेश्यावालेके चिन्ह बताते हैं—

जाणइ कज्जाकज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।
दयदाणरदो य मिदू, लक्खणमेयं तु तेउस्स[1] ॥५१५॥

जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी ।
दयादानरतश्च मृदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः ॥५१५॥

अर्थ—अपने कार्य-अकार्य सेव्य-असेव्यको समझनेवाला हो, सबके विषयमें समदर्शी हो, दया और दानमें तत्पर हो, मन वचन कायके विषयमें कोमलपरिणामी हो ये पीतलेश्यावालेके चिन्ह हैं ।

पद्मलेश्यालेके लक्षण बताते है—

चागी भद्दो चोक्खो, उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स[2] ॥५१६॥

त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।
साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य ॥५१६॥

अर्थ—दान देनेवाला हो, भद्रपरिणामी हो; जिसका उत्तम कार्य करनेका स्वभाव हो; कष्ट-रूप तथा अनिष्टरूप उपद्रवोंको सहन करनेवाला हो; मुनिजन गुरुजन आदिकी पूजामें प्रीतियुक्त हो ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ।

शुक्ललेश्यावालेके लक्षण बताते हैं—

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स[3] ॥५१७॥

१, २, ३. पं. खं. १ गा. नं. २०६, २०७ २०८ ।

न च करोति पक्षपातं नापि च निदानं समश्च सर्वेषाम् ।
न स्तः च रागद्वेषौ स्नेहोऽपि च शुक्ललेश्यस्य ॥५१७॥

अर्थ—पक्षपात न करना, निदानको न बांधना, सब जीवोंमें समदर्शी होना, इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष न करना, स्त्री पुत्र मित्र आदिमें स्नेहरहित होना, ये सब शुक्ललेश्यावालेके लक्षण हैं।

इस प्रकार पाँचवें लक्षण अधिकारका वर्णन पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त छट्ठे गति अधिकारका ग्यारह गाथाओंके द्वारा वर्णन करते है।

लेस्साणं खलु अंसा, छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबंधणजोगा, अट्ठट्ठवगरिसकालभवा ॥५१८॥

लेश्यानां खलु अंशाः षड्विंशतिः भवन्ति तत्र मध्यमकाः।
आयुष्कबन्धनयोग्या अष्ट अष्टापकर्षकालभवाः ॥५१८॥

अर्थ—लेश्याओंके कुल छव्वीस अंश हैं, इनमेंसे मध्यके आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष कालमें होते हैं वे ही आयुकर्मके वन्धके योग्य होते हैं।

भावार्थ—छहों लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेदकी अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल सम्बन्धी अंशोंके मिलानेपर २६ भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्चकी भुज्यमान आयुका प्रमाण छह हजार पाँचसौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर इस एक भागके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्षका काल कहा जाता है। इस अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका वन्ध होता है। यदि यहाँ पर वन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भागके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहनेपर उसके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत द्वितीय अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका वन्ध होता है। यदि यहाँ पर भी बंध न हो तो इसी प्रकारसे तीसरे अपकर्षमें होता है। और तीसरेमें भी न हो तो चौथे, पांचवें, छट्ठे, सातवें, आठवें अपकर्षमेंसे किसी भी अपकर्षमें परभवसम्बन्धी आयुका वन्ध होता है। परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षोंमेंसे किसी भी अपकर्षमें आयुका वन्ध हो ही जाय। केवल इन अपकर्षोंमें आयुकर्मके वन्धकी योग्यता मात्र बताई गई है। इसलिये यदि किसी भी अपकर्षमें वन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयुका अन्तिम आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण काल) से पूर्वके अन्तर्मुहूर्तमें अवश्य ही आयुका वन्ध होता है यह नियम है।

भुज्यमान आयुके तीन भागोंमेंसे दो भाग वीतने पर अवशिष्ट एक भागके प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष कालमें लेश्याओंके आठ मध्यमांशोंमेंसे जो अंश होगा उसके अनुसार आयुका वन्ध होगा। तथा आयुवन्धके योग्य आठ मध्यमांशोंमेंसे जो कोई अंश जिस अपकर्षमें होगा उस ही अपकर्षमें आयुका वन्ध होगा दूसरे कालमें नहीं।

जीवोंके दो भेद हैं—एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विषभक्षणादि निमित्तके द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं और इससे जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं। जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीतिसे ही परभवसम्बन्धी आयुका

बन्ध होता है। किन्तु अनुपक्रमायुष्कोंमें कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्योंमें जो देव और नारको हैं वे अपनी आयुके अन्तिम छह महीना शेष रहने पर आयुके बन्ध करनेके योग्य होते हैं। इसमें भी छह महीनाके आठ अपकर्षकालमें ही आयुका बन्ध करते हैं—दूसरे कालमें नहीं। जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यञ्च हैं उनकी आयुका प्रमाण एककोटिपूर्व वर्ष और एक समयसे लेकर तीन पल्योपम पर्यन्त है। इसमेंसे वे अपनी अपनी यथायोग्य आयुके अंतिम नौ महीना शेष रहने पर उन्हीं नौ महीनाके आठ अपकर्षोंमेंसे किसी भी अपकर्षमें आयुका बन्ध करते हैं। इस प्रकार ये लेश्याओंके आठ अंश आयुबन्धके कारण हैं। जिस अपकर्षमें जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयुका बन्ध होता है।

शेष अठारह अंशोंका कार्य बताते हैं—

सेसट्ठारस अंसा, चउगइगमणस्स कारणा होंति ।
सुक्कुक्कस्संसमुदा, सव्वट्ठं जांति खलु जीवा ॥ ५१९ ॥

शेषाष्टादशांशाश्चतुर्गतिगमनस्य कारणानि भवन्ति ।
शुक्लोत्कृष्टांशमृता सर्वार्थं यान्ति खलु जीवाः ॥ ५१९ ॥

अर्थ—अपकर्षकालमें होनेवाले लेश्याओंके आठ मध्यमांशोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश चारों गतियोंके गमनके कारण होते हैं यह सामान्य नियम है। परन्तु विशेष यह है शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे संयुक्त जीव मरकर नियमसे सर्वार्थसिद्धिको जाते हैं। तथा—

अवरंसमुदा होंति सदारदुगे मज्झिमंसगेण मुदा ।
आणदकप्पादुवरिं, सवट्ठाइल्लगे होंति ॥ ५२० ॥

अवरांशमृता भवन्ति शतारद्विके मध्यमांशकेन मृताः ।
आनतकल्पादुपरि सर्वार्थादिमे भवन्ति ॥ ५२० ॥

अर्थ—शुक्लेश्याके जघन्य अंशोंसे संयुक्त जीव मरकर शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं और मध्यमांशोंकरके सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धिसे पूर्वके तथा आनत स्वर्गसे लेकर ऊपरके समस्त विमानोंमेंसे यथा सम्भव किसी भी विमानमें उत्पन्न होता है और आनत स्वर्गमें भी उत्पन्न होता है।

पम्मुक्कस्संसमुदा, जीवा उवजांति खलु सहस्सारं ।
अवरंसमुदा जीवा, सणक्कुमारं च माहिंदं ॥ ५२१ ॥

पद्मोत्कृष्टांशमृता जीवा उपयांति खलु सहस्रारम् ।
अवरांशमृता जीवाः सनत्कुमारं च माहेन्द्रम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव नियमसे सहस्रार स्वर्गको प्राप्त होते हैं और पद्म लेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गको प्राप्त होते हैं।

मज्झिमअंसेण मुदा, तम्मज्झं जांति तेउजेट्ठमुदा ।
साणक्कुमारमाहिंदंतिमचक्किंदसेढिम्मि ॥ ५२२ ॥

मध्यमांशेन मृता तन्मध्यं यान्ति तेजोज्येष्ठमृताः ।
सनत्कुमारमाहेन्द्रान्तिमचक्रेन्द्रश्रेण्याम् ॥ ५२२ ॥

अर्थ—पद्मलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र[1] स्वर्गके ऊपर और सहस्रार स्वर्गके नीचे-नीचे तक विमानोंमें उत्पन्न होते हैं। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पटलमें जो चक्रनामका इन्द्रकसम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान है उसमें उत्पन्न होते हैं।

अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडम्मि सेढिम्मि ।
मज्झिमअंसेण मुदा, विमलविमाणादिबलभद्दे ॥ ५२३ ॥

अवरांशमृताः सौधर्मैशानादिमर्तौ श्रेण्याम् ।
मध्यमांशेन मृताः विमलविमानादिबलभद्रे ॥ ५२३ ॥

अर्थ—पीतलेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके ऋतु (ऋजु) नामक इन्द्रक विमानमें अथवा श्रेणीबद्ध विमानमें उत्पन्न होता है। पीत लेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके दूसरे पटलके विमल नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके द्विचरम पटलके (अन्तिम पटलसे पूर्व पटलके) बलभद्रनामक इन्द्रक विमानपर्यन्त उत्पन्न होता है।

किण्हवरंसेण मुदा, अवधिट्ठाणम्मि अवरअंसमुदा ।
पंचमचरिमतिमिस्से, मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२४ ॥

कृष्णवरांशेन मृता अवधिस्थाने अवरांशमृता ।
पञ्चमचरमतिमिश्रे मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२४ ॥

अर्थ—कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सातवीं पृथ्वीके अवधिस्थान नामक इन्द्रक विलमें उत्पन्न होते हैं। जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव पांचवीं पृथ्वीके अन्तिम पटलके तिमिश्रनामक इन्द्रक विलमें उत्पन्न होते हैं। कृष्णलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव दोनोंके (सातवीं पृथ्वीके अवधिस्थान या अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रकविल और पांचवीं पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी तिमिश्र नामक विलके) मध्यस्थानोंमें यथासम्भव योग्यतानुसार उत्पन्न होते हैं।

नीलुक्कस्संसमुदा, पंचम अंधिंदयम्मि अवरमुदा ।
वालुकसंपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२५ ॥

नीलोत्कृष्टांशमृताः पञ्चमान्ध्रेन्द्रके अवरमृताः ।
वालुकासंप्रज्वलिते मध्ये मध्येन जायते ॥ ५२५ ॥

अर्थ—नीललेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव पांचवीं पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी अन्ध्रनामक इन्द्रकविलमें उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई पाँचवें पटलमें भी उत्पन्न होते हैं। इतना

१. सातवीं भूमिमें पांच विलोंका एक ही पटल है। उसके इन्द्रक विलका नाम अप्रतिष्ठान है। देखो राज ३-२-२।

विशेष और भी है कि कृष्णलेश्याके जघन्य अंशवाले भी जीव मरकर पांचवीं पृथ्वीके अन्तिम पटलमें उत्पन्न होते[1] हैं। नीललेश्याके जघन्य अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। नीललेश्याके मध्यम अंशोंवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलके आगे और पांचवीं पृथ्वीके अन्ध्रनामक इन्द्रकबिलके पहले पहले जितने पटल और इन्द्रक हैं उनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

वरकाओदंसमुदा, संजलिदं जांति तदियणिरयस्स।
सीमंतं अवरमुदा, मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२६ ॥

वरकापोतांशमृताः संज्वलितं यान्ति तृतीयनिरयस्य।
सीमन्तमवरमृता मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२६ ॥

अर्थ—कापोतलेश्याके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वीके नौ पटलोंमेंसे द्विचरम–आठवें पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिलमें भी उत्पन्न होते हैं[2]। कापोतलेश्याके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलमें उत्पन्न होते हैं। और मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमान्त नामक प्रथम इन्द्रकबिलसे आगे और तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिलके पहले तीसरी पृथ्वीके सात पटल, दूसरी पृथ्वीके ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वीके बारह पटलोंमें या घम्मा भूमिके तेरह पटलोंमेंसे पहले सीमान्तक बिलके आगे सभी बिलोंमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार छहों लेश्याओंमेंसे उनके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशोंके द्वारा जीवोंका चार गतियोंमें कहाँ-कहाँ तक गमन होता है यह बताया। अब इसी सम्बन्धमें कुछ विशेष नियम हैं उनको बताते हैं।

किण्हचउक्काणं पुण, मज्झंसमुदा हु भवणगादितिये।
पुढवीआउवणप्फदिजीवेसु, हवंति खलु जीवा ॥ ५२७ ॥

कृष्णचतुष्काणां पुनः मध्यांशमृता हि भवनकादित्रये।
पृथिव्यब्वनस्पतिजीवेषु भवन्ति खलु जीवाः ॥ ५२७ ॥

अर्थ—कृष्णादिक चार लेश्याओंके सम्बन्धमें कुछ विशेष भी वर्णनीय तथा ज्ञातव्य है। वह यह कि कृष्ण नील कपोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए कर्मभूमियाँ मिथ्यादृष्टि तिर्यंच वा मनुष्य, और पीतलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए भोगभूमियाँ मिथ्यादृष्टि तिर्यंच वा मनुष्य, भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं। तथा कृष्ण नील कापोत और पीतलेश्याके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए तिर्यञ्च और मनुष्य अथवा भवनवासी[3] व्यन्तर ज्योतिषी

१, २. देखो जी. प्र. टीका।

३. देवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीतादिक लेश्याएँ ही पाई जाती हैं। अतः उनकी अपेक्षा यहाँ पीत लेश्या और तिर्यञ्च मनुष्योंकी अपेक्षा कृष्ण नील कापोत लेश्याएँ समझनी चाहिए।

वा सौधर्म ईशान स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देव, बादर पर्याप्त पृथिवीकायिक जलकायिक तथा पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवोंमें उत्पन्न होते हैं।

किण्हतियाणं मज्झिमअंसमुदा तेउआउ वियलेसु।
सुरणिरया सगलेस्सहिं, णरतिरियं जांति सगजोग्गं ॥ ५२८ ॥

कृष्णत्रयाणां मध्यमांशमृतास्तेजोत्रायुविकलेषु।
सुरनिरयाः स्वकलेश्याभिनरतिर्यञ्चं यान्ति स्वकयोग्यम् ॥ ५२८ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन लेश्याओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए तिर्यञ्च वा मनुष्य, तेजस्कायिक वातकायिक विकलत्रय असंज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण वनस्पति इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं और भवनत्रय आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके देव तथा सातों पृथिवीसम्बन्धी नारकी अपनी-अपनी लेश्याके अनुसार मनुष्यगति या तिर्यञ्चको प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जिस गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध हुआ हो उस ही गतिमें मरणसमयपर होनेवाली लेश्याके अनुसार वे जीव मरकर उत्पन्न होते हैं। जैसे मनुष्य अवस्थामें किसी जीवने देवायुका बन्ध किया और मरण समयपर उसके कृष्ण आदि अशुभ लेश्यामेंसे कोई हुई तो वह मनुष्य मरण करके भवनत्रिकमेंसे कहीं योग्यतानुसार उत्पन्न होगा, उत्कृष्ट देवोंमें उत्पन्न नहीं होगा। यदि शुभ लेश्या हुई तो यथायोग्य कल्पवासी देवोंमें भी उत्पन्न होगा। इसी प्रकार देवों और नारकियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। उन्होंने भी जिस तरहकी मनुष्य आयु या तिर्यञ्च आयुका बन्ध किया होगा उसी गतिमें वे मरण समयपर होनेवाली लेश्याके अनुसार ही मनुष्य अथवा उक्त तिर्यग्गतिमेंसे कहीं भी जन्म धारण किया करते हैं।

क्रम प्राप्त स्वामी अधिकारका वर्णन करते हैं—

काऊ काऊ काऊ, णीला णीला य णील किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा, लेस्सा पढमादिपुढवीणं[1] ॥ ५२९ ॥

कापोता कापोता कापोता नीला नीला च नीलकृष्णे च।
कृष्णा च परमकृष्णा लेश्या प्रथमादिपृथिवीनाम् ॥ ५२९ ॥

अर्थ—पहली धम्मा या रत्नप्रभा पृथ्वीमें कापोतलेश्याका जघन्य अंश है। दूसरी वंशा या शर्कराप्रभा पृथ्वीमें कापोत लेश्याका मध्यम अंश है। तीसरी मेघा या वालुकाप्रभा पृथ्वीमें कापोत लेश्याका उत्कृष्ट अंश और नील लेश्याका जघन्य अंश है। चौथी अंजना या पंकप्रभा पृथिवीमें नील लेश्याका मध्यम अंश है। पांचवीं अरिष्टा या धूमप्रभामें नील लेश्याका उत्कृष्ट अंश और कृष्ण लेश्याका जघन्य अंश है। छट्ठी मघवी या तमःप्रभा पृथिवीमें कृष्ण लेश्याका मध्यम अंश है। सातवीं माघवी या महातमःप्रभा पृथिवीमें कृष्ण लेश्याका उत्कृष्ट अंश है।

भावार्थ—इस स्वामी अधिकारमें भाव लेश्याकी अपेक्षासे ही कथनकी मुख्यता है। इस लिये पूर्वोक्त प्रकारसे यहाँ नरकोंमें भावलेश्या ही समझना। यद्यपि देवगतिके समान नरक गतिमें भी द्रव्यलेश्या और भावलेश्या सदृश ही हुआ करती है।

---

[1] प. खं. २ गाथा नं. २२२।

णरतिरियाणं ओघो, इगिविगले तिण्णि चउ असण्णिस्स ।
सण्णिअपुण्णगमिच्छे, सासणसम्मे असुहतियं ॥५३०॥

नरतिरश्चामोघ एकविकले तिस्रः चतस्रः असंज्ञिनः ।
संज्ञ्यपूर्णकमिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वेऽपि अशुभत्रिकम् ॥५३०॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यंचोंके सामान्यसे छहों लेश्याएं होती हैं। परन्तु विशेष रूपसे एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) जीवोंके कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके कृष्ण आदि चार लेश्याएं होती हैं, क्योंकि असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कपोतलेश्यावाला जीव मरणकर पहले नरकको जाता है तथा तेजोलेश्यासहित मरनेसे भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होता है। कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यासहित मरनेसे यथायोग्य मनुष्य या तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है। संज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच तथा अपि शब्दसे असंज्ञी लब्ध्यपर्याप्तक और सासादान गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त तिर्यंच मनुष्य तथा भवनत्रिक इतने जीवोंमें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएं ही होती हैं। तिर्यंच और मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंके सम्यक्त्व कालके भीतर विशिष्ट संक्लेशके हो जानेपर भी ये तीन अशुभ लेश्याएं नहीं हुआ करती। किंतु उसकी विराधना करके सासादन बननेवालोंके अपर्याप्त अवस्थामें तीन अशुभ लेश्याएं ही हुआ करती हैं।

भोगा पुण्णगसम्मे, काउस्स जहण्णियं हवे णियमा ।
सम्मे वा मिच्छे वा, पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा ॥५३१॥

भोगापूर्णकसम्यक्त्वे कापोतस्य जघन्यकं भवेत् नियमात् ।
सम्यक्त्वे वा मिथ्यात्वे वा पर्याप्ते तिस्रः शुभलेश्याः ॥५३१॥

अर्थ—भोगभूमियाँ निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवोंमें कापोतलेश्याका जघन्य अंश होता है। तथा भोगभूमियाँ सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीत आदि तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं।

भावार्थ—पहले मनुष्य या तिर्यंच आयुका बंध करके पीछे क्षायिक या कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वको स्वीकार करके यदि कोई कर्मभूमिज मनुष्य या तिर्यंच सम्यक्त्वसहित मरण करे तो वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहाँ पर निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थामें उसके कापोतलेश्याके जघन्य अंशरूप संक्लेश परिणाम होते हैं। परन्तु पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि भोगभूमियाओंके तीन शुभ लेश्याएं ही होती हैं।

अयदो त्ति छ लेस्साओ, सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये ।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥५३२॥

असंयत इति षड् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये ।
ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥५३२॥

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त छहों लेश्याएं होती हैं। तथा देशविरत प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभलेश्याएं ही होती हैं। किन्तु इसके आगे अपूर्व-

करणसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त एक शुक्ललेश्या ही होती है। और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है।

कषायरहित गुणस्थानोंमें लेश्याका अस्तित्व किस तरह संभव है यह वताते हैं—

णट्ठकसाये लेस्सा, उच्चदि सा भूदपुव्वगदिणाया।
अहवा जोगपउत्ती, मुक्खो त्ति तहिं हवे लेस्सा ॥५३३॥

नष्टकषाये लेश्या उच्यते सा भूतपूर्वगतिन्यायात्।
अथवा योगप्रवृत्तिः मुख्येति तत्र भवेल्लेश्या ॥५३३॥

अर्थ—अकषाय जीवोंके जो लेश्या वताई है वह भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे वताई है। अथवा, योगकी प्रवृतिको लेश्या कहते हैं, इस अपेक्षासे वहाँपर मुख्यरूपसे भी लेश्या है, क्योंकि वहाँपर योगका सद्भाव है।

तिण्हं दोण्हं दोण्हं, छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च।
एत्तो य चोद्दसण्हं, लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥ ५३४ ॥
तेऊ तेऊ तेऊ, पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य।
सुक्का य परमसुक्का भवणतियापुण्णगे असुहा ॥ ५३५ ॥

त्रयाणां द्वयोर्द्वयोः षण्णां द्वयोश्च त्रयोदशानां च।
एतस्माच्च चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानाम् ॥ ५३४ ॥
तेजस्तेजस्तेजः पद्मा पद्मा च पद्मशुक्ले च।
शुक्ला च परमशुक्ला भवनत्रिकाऽपूर्णके अशुभाः ॥ ५३५ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इन तीन देवोंके पीतलेश्याका जघन्य अंश है। सौधर्म ईशान स्वर्गवाले देवोंके पीतलेश्याका मध्यम अंश है। सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गवालोंके पीतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्याका जघन्य अंश है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ शुक्र महाशुक्र इन छह स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका मध्यम अंश है। शतार सहस्रार स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंश और शुक्ललेश्याका जघन्य अंश है। आनत प्राणत आरण अच्युत तथा नव ग्रैवेयक इन तेरह वैमानिक देवोंके शुक्ललेश्याका मध्यम अंश है। इसके ऊपर नव अनुदिश तथा पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानवाले देवोंके शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है। भवनवासी आदि तीन देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

भावार्थ—यहाँपर भवनत्रिक देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें तीन अशुभ लेश्याएँ वताई हैं और पर्याप्त अवस्थामें पीत लेश्याका जघन्य अंश वताया है इससे मालूम होता है कि शेप वैमानिक देवोंके ऐसा नहीं होता, उनके पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही अवस्थाओंमें समान ही लेश्या होती है।

इस प्रकार स्वामी अधिकारका वर्णन करके साधन अधिकारका वर्णन करते हैं—

वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
मोहुदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो ॥ ५३६ ॥

वर्णोदयसंपादितशरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।
मोहोदयक्षयोपशमोपशमक्षयजजीवस्पन्दो भावः ॥ ५३६ ॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं। मोहनीय कर्मके उदय या क्षयोपशम या क्षयसे जो जीवके प्रदेशोंकी चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्यलेश्याका साधन वर्णनामकर्मका उदय है। भावलेश्याका साधन असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त प्रथम चार गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका उदय, और देशविरत आदि तीन गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मका उपशम तथा क्षपकश्रेणिमें मोहनीय कर्मका क्षय होता है। मोहके उदयादिसे होनेवाले ये औदयिक आदि चारों ही परिणाम और इनके साथ साथ होनेवाले प्रदेश परिस्पन्दनरूप योग जीवके स्वतत्त्व-परिणाम हैं, अतएव इनको भावलेश्या कहते हैं। इनके साधन जीवविपाकी मोहनीय कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म इनकी अवस्थाएँ है।

क्रमप्राप्त संख्या अधिकारका वर्णन करते हैं—

किण्हादिरासिमावलि-असंखभागेण भजिय पविभत्ते ।
हीणकमा कालं वा, अस्सिय दव्वा दु भजिदव्वा ॥ ५३७ ॥

कृष्णादिराशिमावल्यसंख्यभागेन भक्त्वा प्रविभक्ते।
हीनक्रमाः कालं वा आश्रित्य द्रव्याणि तु भक्तव्यानि ॥ ५३७ ॥

अर्थ—संसारी जीवराशिमें से तीन शुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका प्रमाण है। यह प्रमाण संसारी जीवराशिसे कुछ कम होता है। इस राशिमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर एक भागको अलग रखकर शेष वहुभागके तीन समान भाग करना। तथा शेष-अलग रक्खे हुए एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देकर वहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे कृष्णलेश्या-वाले जीवोंका प्रमाण होता है। और शेष एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे लब्ध वहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे नीललेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है और अवशिष्ट एक भागको तीसरे भागमें मिलानेसे कापोतलेश्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है। इस प्रकार अशुभ लेश्यावालोंका द्रव्यकी अपेक्षासे प्रमाण कहा। यह प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ कुछ घटता घटता है। अव कालकी अपेक्षासे प्रमाण बताते हैं। कृष्ण नील कपोत तीन लेश्याओंका काल मिलानेसे जो अन्तर्मुहूर्तमात्र काल होता है, उसमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना। इसमें एक भागको जुदा रखना और वहुभागके तीन समान भाग करना। तथा अवशिष्ट एक भागमें आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देना। लब्ध एक भागको अलग रखकर वहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कृष्णलेश्याका काल है। अलग रक्खे हुए लब्ध एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे लब्ध वहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह नील लेश्याका काल है। अवशिष्ट एक भागको अवशिष्ट तीसरे समान भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कापोत-

लेश्याका काल है। इस प्रकार तीन अशुभ लेश्याओंके कालका प्रमाण भी उत्तरोत्तर अल्प अल्प समझना चाहिए।

द्रव्य और कालकी अपेक्षासे अशुभ तीन लेश्याओंको संख्या बताकर क्षेत्रकी अपेक्षासे संख्या और कालकी अपेक्षासे संख्याका अल्पबहुत्व बताते हैं—

खेत्तादो असुहतिया, अणंतलोगा कमेण परिहीणा।
कालादोतीदादो, अणंतगुणिदा कमा हीणा॥ ५३८॥

क्षेत्रतः अशुभत्रिका अनन्तलोकाः क्रमेण परिहीनाः।
कालादतीतादनन्तगुणिताः क्रमाद्धीनाः॥ ५३८॥

अर्थ—क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव लोकाकाशके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे हैं, परन्तु उत्तरोत्तर क्रमसे हीन हीन हैं। कृष्णलेश्यावालोंसे कुछ कम नील लेश्यावाले जीव हैं और नीललेश्यावालोंसे कुछ कम कापोतलेश्यावाले जीव हैं। तथा कालकी अपेक्षा अशुभ लेश्या-वालोंका प्रमाण, भूतकालके जितने समय हैं उससे अनन्तगुणा है। यह प्रमाण भी उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये।

केवलणाणाणंतिमभागा भावादु किण्हतियजीवा।
तेउतियासंखेज्जा, संखासंखेज्जभागकमा॥ ५३९॥

केवलज्ञानानन्तिमभागा भावात्तु कृष्णत्रिकजीवाः।
तेजस्त्रिका असंख्येयाः संख्यासंख्येयभागक्रमाः॥ ५३९॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव, केवलज्ञानके जितने अविभागप्रतिच्छेद हैं उसके अनन्तवें भागप्रमाण हैं। यहाँ पर भी पूर्ववत् उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये। पीत आदि तीन शुभ लेश्यावालोंका द्रव्यकी अपेक्षा प्रमाण सामान्यसे असंख्यात है। तथापि पीतलेश्या-वालोंसे संख्यातवें भाग पद्मलेश्यावाले हैं और पद्मलेश्यावालोंसे असंख्यातवें भाग शुक्ललेश्या-वाले जीव हैं।

क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण बताते हैं—

जोइसियादो अहिया, तिरिक्खसण्णिस्स संखभागो दु।
सूइस्स अंगुलस्स य, असंखभागं तु तेउतियं॥ ५४०॥

ज्योतिष्कतोऽधिकाः तिर्यक्संज्ञिनः संख्यभागस्तु।
सूचेरङ्गुलस्य च असंख्यभागं तु तेजस्त्रयम्॥ ५४०॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक तेजोलेश्यावाले जीव हैं और समस्त तेजो-लेश्यावाले जीवोंसे ही संख्यातगुणे कम नहीं अपि तु तेजोलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंच जीवोंके प्रमाणसे भी संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले जीव हैं और सूच्यङ्गुलके असंख्यातवें भागप्रमाण मात्र शुक्ललेश्यावाले जीव हैं।

भावार्थ—पैंसठ हजार पाँचसौ छत्तीस प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ज्योतिषी देव हैं। घनांगुलके प्रथम वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणीप्रमाण भवनवासी,

तीनसौ योजनके वर्गसे भक्त जगत्प्रतरप्रमाण व्यन्तर, घनांगुलके तृतीय वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण सौधर्म ईशान स्वर्गके देव और पांच बार संख्यातसे गुणित पण्णट्ठीप्रमाण प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण रहे उतने तेजोलेश्यावाले तिर्यंच और संख्यात तेजोलेश्यावाले मनुष्य, इन सब राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने ही समस्त तेजोलेश्यावाले जीव हैं। इन सब तेजोलेश्यावालोंसे ही संख्यातगुणे कम नहीं किंतु तेजोलेश्यावाले संज्ञी तिर्यंचोंसे भी संख्यातगुणे कम पद्मलेश्यावाले जीव हैं और शुक्ललेश्यावाले जीव सूच्यंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं।

अब उक्त तेजोलेश्या और पद्मलेश्यावाले जीवोंके प्रमाणके लिए ही स्पष्ट करते हैं—

वेसदछप्पण्णंगुलकदिहदपदरं तु जोइसियमाणं।
तस्स य संखेज्जदिमं, तिरिक्खसण्णीण परिमाणं॥ ५४१॥

द्विशतषट्पञ्चाशगुलकृतिहितप्रतरं तु ज्योतिष्कमानम्।
तस्य च संख्येयतमं तिर्यक्संज्ञिनां परिमाणम्॥ ५४१॥

अर्थ—दो सौ छप्पन अंगुलके वर्गप्रमाण (पण्णट्ठीप्रमाण = ६५५३६) प्रतरांगुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण हो उतने ज्योतिषी देव हैं और इसके संख्यातवें भागप्रमाण संज्ञी तिर्यंच जीव हैं।

भावार्थ—पहले तेजोलेश्यावालोंका प्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक कहा था और पद्मलेश्यावालोंका प्रमाण संज्ञी तिर्यंचोंके संख्यातवें भाग बताया था इसीलिये यहाँ दोनों राशियोंका प्रमाण बताया गया है।

तेउदु असंखकप्पा, पल्लासंखेज्जभागया सुक्का।
ओहिअसंखेज्जदिमा, तेउतिया भावदो होंति॥ ५४२॥

तेजोद्वया असंख्यकल्पाः पल्यासंख्येयभागकाः शुक्लाः।
अवध्यसंख्येयाः तेजस्त्रिका भावतो भवन्ति॥ ५४२॥

अर्थ—असंख्यात कल्पकालके जितने समय हैं उतने ही सामान्यसे तेजोलेश्यावाले और उतने ही पद्मलेश्यावाले जीव हैं। तथापि तेजोलेश्यावालोंसे पद्मलेश्यावाले संख्यातवें भाग हैं और पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण शुक्ललेश्यावाले जीव हैं। इस प्रकार कालकी अपेक्षासे तीन शुभ लेश्याओंका प्रमाण समझना चाहिये। तथा अवधिज्ञानके जितने विकल्प हैं उसके असंख्यातवें भाग सामान्यसे प्रत्येक शुभ लेश्यावाले जीव हैं। तथापि तेजोलेश्यावालोंसे संख्यातवें भाग पद्मलेश्यावाले और पद्मलेश्यावालोंसे शुक्ललेश्यावाले असंख्यातवें भाग मात्र हैं। यहाँ यह लेश्याओंका प्रमाण भावकी अपेक्षासे है। इस प्रकार संख्याके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करनेवाला दसवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

अब क्रमानुसार ग्यारहवें क्षेत्राधिकारके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करते हैं—

सट्ठाणसमुग्घादे, उववादे सव्वलोयमसुहाणं।
लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेत्तं तु तेउतिये॥ ५४३॥

स्वस्थानसमुद्घाते उपपादे सर्वलोकमशुभानाम् ।
लोकस्यासंख्येयभागं क्षेत्रं तु तेजस्त्रिके ॥ ५४३ ॥

अर्थ—विवक्षित लेश्यावाले जीवोंके द्वारा विवक्षित पदमें रहते हुए वर्तमानमें जितना आकाश रुके उसको क्षेत्र कहते हैं। यह क्षेत्र तीन अशुभ लेश्याओंका सामान्यसे स्वस्थान समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा सर्वलोकप्रमाण है और तीन शुभलेश्याओंका क्षेत्र लोकप्रमाणके असंख्यातवें भागमात्र है।

भावार्थ—यह सामान्यसे कथन है; किन्तु लेश्याओंके क्षेत्रका विशेष वर्णन स्वस्थान स्वस्थान विहारवत्स्वस्थान, सात प्रकारका समुद्घात और एक प्रकारका उपपाद इस तरह दस पदोंकी अपेक्षा किया गया है। सो विशेष जिज्ञासुओंको बड़ी टीकामें देखना चाहिये।

विवक्षित पर्यायविशिष्ट जीवके उत्पन्न होते रहने या पाये जाने योग्य क्षेत्रको स्वस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं एक स्वस्थानस्वस्थान दूसरा विहारवत्स्वस्थान। विपक्षित लेश्यावाले जीवके उत्पन्न होनेके ग्राम नगर आदि क्षेत्रको स्वस्थान स्वस्थान और जहाँ तक वह जा आ सकता है उतने क्षेत्रको विहारवत्स्वस्थान कहते हैं।

शरीरसे सम्बन्धको न छोड़कर आत्माके कुछ प्रदेशोंका बाहर निकलना समुद्घात कहा जाता है। निमित्त भेदके अनुसार वह सात प्रकारका है। यथा वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और केवल। पीड़ा-वेदनाके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना वेदनासमुद्घात है। क्रोधादिके वश प्रदेशोंका बाहर निकलना कषायसमुद्घात है। विक्रियाके द्वारा प्रदेशोंका बाहर निकलना वैक्रियिकसमुद्घात है। मरणसे पहले नवीन जन्मके योग्य क्षेत्रका स्पर्श करके आनेके लिये प्रदेशोंके बाहर निकलनेको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। शुभ या अशुभ तैजस ऋद्धिके द्वारा निकलनेवाले तैजसशरीरके साथ आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको तैजससमुद्घात कहते हैं। ऋद्धिधारी प्रमत्त मुनियोंके मस्तकसे निकलनेवाले आहारक शरीरके द्वारा आत्मप्रदेशोंके बाहर निकलनेको आहारक समुद्घात कहते हैं। आयुस्थितिके बराबर शेष तीन अघातिकर्मोंकी स्थिति करनेके लिए केवली भगवान्‌के जो दण्ड कपाट आदिरूप क्रियाके द्वारा प्रदेश बाहर निकलते हैं उसको केवल समुद्घात कहते हैं।

पूर्वभव-पर्यायको छोड़कर और उत्तर पर्यायके शरीरको ग्रहण करनेसे पूर्व जो प्रवृत्ति होती है उसको उपपाद कहते हैं।

इन दस पदोंमेंसे किस-किस पदमें किस-किस लेश्याका कितना-कितना क्षेत्रप्रमाण है यह विशेष जिज्ञासुओंको आगमके अनुसार जीवप्रबोधिनी टीका आदिसे समझ लेना चाहिए।

उपपादक्षेत्रके निकालनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मरदि असंखेज्जदिमं, तस्सासंखा य विग्गहे होंति।
तस्सासखं दूरे उववादे तस्स खु असंखं ॥ ५४४ ॥

म्रियते असंख्येयं तस्यासंख्याश्च विग्रहे भवन्ति।
तस्यासंख्यं दूरे उपपादे तस्य खलु असंख्यम् ॥ ५४४ ॥

अर्थ—घनांगुलके तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने सौधर्म

और ईशान स्वर्गके जीवोंका प्रमाण है। इसमें पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण प्रतिसमय मरनेवाले जीव हैं। मरनेवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण रहे उतने विग्रहगति करनेवाले जीव हैं। विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं। इसमें भी पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे लब्ध एकभाग प्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं। इसमें भी पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण उपपाद जीव हैं। यहाँपर तिर्यञ्चोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे एक जीवसम्बन्धी प्रदेश फैलनेकी अपेक्षा डेढ़ राजू लम्बा संख्यात सूच्यंगुलप्रमाण चौड़ा वा ऊँचा क्षेत्र है, इसके घन क्षेत्रफलको उपपाद जीवोंके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही उपपाद क्षेत्रका प्रमाण है।

भावार्थ—जिस स्थानवाले जीवोंका क्षेत्र निकालना हो उस स्थानवाले जीवोंकी संख्याका अपनी-अपनी एक जीवसम्बन्धी अवगाहनाके प्रमाणसे अथवा जहाँ तक एक जीव गमन कर सकता है उस क्षेत्रप्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो सामान्यसे उतना ही उनका क्षेत्र कहा जाता है। यहाँपर पीतलेश्यासम्बन्धी क्षेत्रका प्रमाण बताया है और वह भी मध्यलोकसे दूर सौधर्म ईशान स्वर्गवर्ती जीवोंके अधिक क्षेत्रको दृष्टिमें रखकर बताया गया है। पद्मलेश्यामें तथा शुक्ललेश्यामें भी क्षेत्रका प्रमाण इस ही प्रकारसे होता है। कुछ विशेषता है सो बड़ी टीकासे देखना।

सुक्कस्स समुग्घादे, असंखलोगा य सव्वलोगो य।

शुक्लायाः समुद्घाते असंख्यलोकाश्च सर्वलोकश्च।

अर्थ—इस सूत्रके इस पूर्वार्धमें शुक्ललेश्याका क्षेत्र लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण वा सर्वलोक बताया है सो केवलसमुद्घातकी अपेक्षासे है।

भावार्थ—शुक्ललेश्याका क्षेत्र केवलसमुद्घातके सिवाय दूसरे स्थानोंमें पहले कही गई विधिके अनुसार ही समझना।

क्रमप्राप्त स्पर्शाधिकारका वर्णन करते हैं—

फासं सव्वं लोयं, तिट्ठाणे असुहलेस्साणं ॥ ५४५ ॥

स्पर्शः सर्वो लोकस्त्रिस्थाने अशुभलेश्यानाम् ॥ ५४५ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका स्पर्श स्वस्थान, समुद्घात, उपपाद, इन तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्वलोक है।

भावार्थ—वर्तमानमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको क्षेत्र कहते हैं और भूत तथा वर्तमान कालमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहा हो और रहे उतनेको स्पर्श कहते हैं। सो तीन अशुभलेश्यावाले जीवोंका स्पर्श उक्त तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्वलोक है। विशेषकी अपेक्षासे कृष्णलेश्यावालोंका दस स्थानोंमेंसे स्वस्थानस्वस्थान, वेदना, कषाय, मारणान्तिक समुद्घात तथा उपपादस्थानमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है। संख्यात सूच्यंगुलको जगत्प्रतरसे गुणा करनेपर जो प्रमाण उत्पन्न हो उतना विहारवत्स्वस्थानसे स्पर्श है। एक राजू लम्बा चौड़ा और संख्यात सूच्यंगुल ऊँचे तिर्यक् लोकका क्षेत्रफल यही होता है और यही यहाँ स्पर्शका प्रमाण है, क्योंकि गमन क्रिया युक्त कृष्णलेश्यावाले त्रस जीव इस तिर्यक्लोकमें ही पाये जाते हैं। तथा वैक्रियिक समुद्घातमें लोकके

संख्यातवें भागप्रमाण[1] स्पर्श है। इस लेश्यामें तैजस आहारक और केवल समुद्घात नहीं होता। कृष्णलेश्याके समान ही नील तथा कापोतलेश्याका भी स्पर्श समझना।

तेजोलेश्यामें स्पर्शका वर्णन करते हैं—

तेउस्स य सट्ठाणे, लोगस्स असंखभागमेत्तं तु।
अडचोद्दसभागा वा, देसूणा होंति णियमेण ॥ ५४६ ॥

तेजसश्च स्वस्थाने लोकस्य असंख्यभागमात्रं तु।
अष्ट चतुर्दशभागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४६ ॥

अर्थ—पीतलेश्याका स्वस्थानस्वस्थानकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्श है और विहारवत्स्वस्थानको अपेक्षा त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है।

एवं तु समुग्घादे, णव चोद्दसभागयं च किंचूणं।
उववादे पढमपदं, दिवड्ढचोद्दस य किंचूणं ॥ ५४७ ॥

एवं तु समुद्घाते नव चतुर्दशभागश्च किञ्चदूनः।
उपपादे प्रथमपदं व्यर्धचतुर्दश च किञ्चिदूनम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—विहारवत्स्थानकी तरह समुद्घातमें भी त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है तथा मारणान्तिक समुद्घातकी अपेक्षा चौदह भागोंमेंसे कुछ कम नव भाग-प्रमाण स्पर्श है। और उपपाद स्थानमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम डेढ़ भागप्रमाण स्पर्श है। इस प्रकार यह पीतलेश्याका स्पर्श सामान्यसे तीन स्थानोंमें बताया है।

डेढ़-डेढ़ गाथामें पद्म तथा शुक्ललेश्याका स्पर्श बताते हैं—

पम्मस्स य सट्ठाणसमुग्घाददुगेसु होदि पढमपदं।
अड चोद्दस भागा वा, देसूणा होंति णियमेण ॥ ५४८ ॥

पद्मायाश्च स्वस्थानसमुद्घातद्विकयोः भवति प्रथमपदम्।
अष्ट चतुर्दश मागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४८ ॥

अर्थ—पद्मलेश्याका विहारवत्स्वस्थान, वेदना कषाय तथा वैक्रियिक समुद्घातमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है। मारणान्तिक समुद्घातमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण ही स्पर्श है, क्योंकि पद्मलेश्यावाले भी देव पृथ्वी जल और वनस्पतिमें उत्पन्न होते हैं। तैजस तथा आहारक समुद्घातमें संख्यात घनांगुलप्रमाण स्पर्श है। यहाँ पर "च" शब्द का ग्रहण किया है, इसलिये स्वस्थानस्वस्थानमें लोकके असंख्यातभागोंमेंसे एक भागप्रमाण स्पर्श है।

उववादे पढमपदं, पणचोद्दसभागयं च देसूणं।
सुक्कस्स य तिट्ठाणे, पढमो छच्चोदसा हीणा ॥ ५४९ ॥

---

१. एक राजू लम्बा चौड़ा पांच राजू ऊँचा।

उपपादे प्रथमपदं पञ्चचतुर्दशभागकश्च देशोनः ।
शुक्लायाश्च त्रिस्थाने प्रथमः षट्चतुर्दश हीनाः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—पद्मलेश्या शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त सम्भव है और शतार सहस्रार स्वर्ग मध्यलोकसे पाँच राजू ऊपर है, इसलिये उपपादकी अपेक्षासे पद्मलेश्याका स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागमेंसे कुछ कम पाँच भागप्रमाण है। शुक्ललेश्यावाले जीवोंका स्वस्थानस्वस्थानमें तेजोलेश्याकी तरह लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण स्पर्श है और विहारवत्स्वस्थान तथा वेदना कषाय वैक्रियिक मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद इन तीन स्थानोंमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है। तैजस तथा आहारक समुद्घातमें संख्यात घनांगुलप्रमाण स्पर्श है।

णवरि समुग्घादम्मि य, संखातीदा हवंति भागा वा ।
सव्वो वा खलु लोगो फासो होदित्ति णिद्दिट्ठो॥ ५५० ॥

नवरि समुद्घाते च संख्यातीता भवन्ति भागा वा ।
सर्वो वा खलु लोकः स्पर्शो भवतीति निर्दिष्टः ॥ ५५० ॥

अर्थ—केवल समुद्घातमें विशेषता है, वह इस प्रकार है कि दण्ड समुद्घातमें स्पर्श क्षेत्रकी तरह संख्यात प्रतरांगुलसे गुणित जगच्छ्रेणीप्रमाण है। स्थित वा उपविष्ट कपाट समुद्घातमें संख्यातसूच्यंगुलमात्र जगत्प्रतर प्रमाण है। प्रतर समुद्घातमें लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहु भागप्रमाण स्पर्श है तथा लोकपूर्ण समुद्घातमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है।

भावार्थ—केवलसमुद्घातके चार भेद हैं—दण्ड कपाट प्रतर लोकपूर्ण। दण्ड समुद्घातके भी दो भेद हैं, एक स्थित दूसरा उपविष्ट और स्थित तथा उपविष्टके भी आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। कपाट समुद्घातके चार भेद हैं, १. पूर्वाभिमुख स्थित, २. उत्तराभिमुख स्थित, ३. पूर्वाभिमुख-उपविष्ट, ४. उत्तराभिमुख-उपविष्ट। इन चारोंमेंसे प्रत्येकके आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो-दो भेद हैं तथा प्रतर और लोकपूर्णका एक-एक ही भेद है।

यहाँ पर जो दण्ड और कपाट समुद्घातका स्पर्श बताया है वह आरोहक और अवरोहककी अपेक्षा दो भेदोंमें से एक ही भेदका है, क्योंकि एक जीव समुद्घात अवस्थामें जितने क्षेत्रका आरोहण अवस्थामें स्पर्श करता है उतने ही क्षेत्रका अवरोहण अवस्थामें भी स्पर्श करता है। इसलिये यदि आरोहण और अवरोहण दोनों अवस्थाओंका सामान्य स्पर्श जानना हो तो दण्ड और कपाट दोनों ही का उक्त अपने-अपने प्रमाणसे दूना-दूना स्पर्श समझ लेना चाहिये। प्रतर समुद्घातमें लोकके असंख्यातवें भागप्रमाण वातवलयका स्थान छूट जाता है, इसलिये यहाँपर लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण स्पर्श है। लोकपूर्ण समुद्घातमें लोकाकाशका एक भी प्रदेश स्पर्श करनेसे नहीं छूटता इसलिये उसका सम्पूर्ण लोकप्रमाण स्पर्श है।

॥ इति स्पर्शाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त लेश्याओंके कालाधिकारका दो गाथाओंमें वर्णन करते हैं—

कालो छल्लेस्साणं, णाणाजीवं पडुच्च सव्वद्धा ।
अंतोमुहुत्तमवरं, एगं जीवं पडुच्च हवे ॥ ५५१ ॥

काल: षड्लेश्यानां नानाजीवं प्रतीत्य सर्वाद्धा ।
अन्तर्मुहूर्तोऽवरं एकं जीवं प्रतीत्य भवेत् ॥ ५५१ ॥

अर्थ—नाना जीवोंकी अपेक्षा कृष्ण आदि छहों लेश्याओंका सर्व काल है, क्योंकि छहों लेश्याएँ संसारमें सदा पाई जाती हैं। सामान्यतया किसी भी लेश्यासे रहित कोई काल नहीं है। तथा एक जीवकी अपेक्षा सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है।

उवहीणं तेत्तीसं, सत्तर सत्तेव होंति दो चेव ।
अट्ठारस तेत्तीसा, उक्कस्सा होंति अदिरेया ॥ ५५२ ॥

उदधीनां त्रयस्त्रिंशत् सप्तदश सप्तैव भवन्ति द्वौ चैव ।
अष्टादश त्रयस्त्रिंशत् उत्कृष्टा भवन्ति अतिरेकाः ॥ ५५२ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्याका तेतीस सागर, नीललेश्याका सत्रह सागर, कापोतलेश्याका सात सागर, पीतलेश्याका दो सागर, पद्मलेश्याका अठारह सागर, शुक्ललेश्याका तेतीस सागर और कुछ अधिक है।

भावार्थ—यह अधिकका सम्बन्ध छहों लेश्याओंके उत्कृष्ट कालके साथ-साथ करना चाहिए। जैसे कृष्ण लेश्याका तेतीस सागरसे कुछ अधिक, नीललेश्याका सत्रह सागरसे कुछ अधिक, इत्यादि। क्योंकि यह उत्कृष्ट कालका वर्णन देव और नारकियोंकी अपेक्षासे है। सो जिस पर्यायको छोड़कर देव या नारकी उत्पन्न हो उस पर्यायके अन्तके अन्तर्मुहूर्तमें तथा देव नारक पर्यायको छोड़कर जिस पर्यायमें उत्पन्न हो उस पर्यायके आदिके अन्तर्मुहूर्तमें वही लेश्या होती है। इस ही लिए छहों लेश्याओंके उत्कृष्ट कालप्रमाणमें दो दो अन्तर्मुहूर्तका काल अधिक अधिक समझना। तथा पीत और पद्मलेश्याके कालमें कुछ कम आधा सागर भी अधिक होता है। जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्गमें दो सागरकी आयु है। परन्तु यदि कोई घातायुष्क[1] सम्यग्दृष्टि सौधर्म और ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हो तो उसकी अन्तर्मुहूर्त कम ढाई सागरकी भी आयु हो सकती है। इस ही तरह घातायुष्क मिथ्यादृष्टिकी पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण आयु अधिक हो सकती है। परन्तु यह अधिकपना सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ही है, क्योंकि आगे घातायुष्क जीव उत्पन्न नहीं होता। सहस्रारके ऊपर जितना आयुका प्रमाण बताया है उतना ही लेश्याका काल समझना चाहिये।

॥ इति कालाधिकारः ॥

०

दो गाथाओंमें अन्तर अधिकारका वर्णन करते हैं—

अंतरमवरुक्कस्सं, किण्हतियाणं मुहुत्तअंतं तु ।
उवहीणं तेत्तीसं, अहियं होदि त्ति णिद्दिट्ठं ॥ ५५३ ॥

---

१. ऊपरकी अधिक आयु बाँधकर पीछे परिणाम विशेषके द्वारा स्थितिका अपवर्तन-घात करनेवालेको घातायुष्क कहते हैं।

तेउतियाणं एवं, णवरि य उक्कस्सविरहकालो दु ।
पोग्गलपरिवट्टा हु असंखेज्जा होंति णियमेण ॥ ५५४ ॥

अन्तरमवरोत्कृष्टं कृष्णत्रयाणां मुहूर्तान्तिस्तु ।
उदधीनां त्रयस्त्रिंशदधिकं भवतीति निर्दिष्टम् ॥ ५५३ ॥
तेजस्त्रयाणामेवं नवरि च उत्कृष्टविरहकालस्तु ।
पुद्गलपरिवर्ता हि असंख्येया भवन्ति नियमेन ॥ ५५३ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओंका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्तमात्र है। और उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक तेतीस सागर होता है। पीत आदि तीन शुभ लेश्याओंका अन्तर भी इस ही प्रकार है; परन्तु कुछ विशेषता है। शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अन्तर नियमसे असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है।

भावार्थ—किसी विवक्षित एक लेश्याको छोड़कर दूसरी लेश्यारूप परिणमन करके जितने कालमें फिरसे उसी विवक्षित लेश्यारूप परिणमन करे उतने मध्यवर्त्ती कालको विवक्षित लेश्याका विरहकाल या अन्तर कहते हैं। इस प्रकारका कृष्णलेश्याका जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्तमात्र है। उत्कृष्ट अन्तर दस अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व वर्ष अधिक तेतीस सागरप्रमाण है। इस ही प्रकार नील तथा कापोतलेश्याका भी अन्तर जानना। परन्तु इतनी विशेषता है कि नील लेश्याके अन्तरमें आठ अन्तर्मुहूर्त और कापोतलेश्याके अन्तरमें छह अन्तर्मुहूर्त ही अधिक हैं। अब शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अन्तर दृष्टांतद्वारा बताते हैं। कोई जीव पीत लेश्याको छोड़कर क्रमसे एक-एक अन्तर्मुहूर्तमात्रतक कपोत नील कृष्ण लेश्याको प्राप्त हुआ, इसके बाद एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरिवर्तनोंका जितना काल हो उतने काल पर्यन्त भ्रमण कर विकलेन्द्रिय हुआ, यहाँपर भी उत्कृष्टतासे संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया। पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे एक-एक अन्तर्मुहूर्तमें क्रमसे कृष्ण नील कपोत लेश्याको प्राप्त होकर पीत लेश्याको प्राप्त हुआ। इस प्रकारके जीवके पीत लेश्याका उत्कृष्ट अन्तर छह अन्तर्मुहूर्त और संख्यात हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलद्रव्य-परावर्तनप्रमाण होता है। पद्म लेश्याका उत्कृष्ट अन्तर इस प्रकार है कि कोई पद्मलेश्यावाला जीव पद्मलेश्याको छोड़कर अन्तर्मुहूर्त तक पीत लेश्यामें रहकर पल्यके असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरकी आयुके साथ सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। वहाँसे चयकर पूर्ववत् एकेन्द्रय अवस्थामें आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनोंके कालका जितना प्रमाण है उतने काल तक भ्रमण किया। पीछे विकलेन्द्रिय होकर संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया। पीछे पंचेन्द्रिय होकर भवके प्रथम समयसे लेकर एक-एक अन्तर्मुहूर्ततक क्रमसे कृष्ण नील कापोत पीत लेश्याको प्राप्त होकर पद्मलेश्याको प्राप्त हुआ। इस तरहके जीवके पाँच अन्तर्मुहूर्त और पल्यके असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर तथा संख्यात हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तन मात्र पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अन्तर होता है। शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अन्तर इस प्रकार है कि कोई शुक्ल लेश्यावाला जीव शुक्ललेश्याको छोड़कर क्रमसे एक-एक अन्तर्मुहूर्त तक पद्म पीत लेश्याको प्राप्त होकर सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न होकर तथा वहाँपर पूर्वोक्त प्रमाण काल तक रह कर पीछे एकेन्द्रिय अवस्थामें पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण कर पीछे विकलेन्द्रिय होकर भी पूर्वोक्त प्रमाण

काल तक भ्रमण करके क्रमसे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक-एक अन्तर्मुहूर्त तक क्रमसे कृष्ण नील कापोत पीत पद्म लेश्याको प्राप्त होकर शुक्ल लेश्याको प्राप्त हुआ। इस तरहके जीवके सात अन्तर्मुहूर्त संख्यात हजार वर्ष और पल्यके असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर अधिक आवलीके असंख्यातवें भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र शुक्ललेश्याका अन्तर होता है।

॥ इति अंतराधिकारः ॥

क्रमप्राप्त भाव और अल्पवहुत्व अधिकारका वर्णन करते हैं—

भावादो छल्लेस्सा, ओदइया होंति अप्पवहुगं तु।
दव्वपमाणे सिद्धं, इदि लेस्सा वण्णिदा होंति ॥ ५५५ ॥

भावतः षड्लेश्या औदयिका भवन्ति अल्पबहुकं तु।
द्रव्यप्रमाणे सिद्धमिति लेश्या वर्णिता भवन्ति ॥ ५५५ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा छहों लेश्याएँ औदयिक हैं; क्योंकि कषायसे अनुरंजित योगपरिणामको ही लेश्या कहते हैं और ये दोनों अपने-अपने योग्य कर्मके उदयसे होते हैं। तथा लेश्याओंका अल्पवहुत्व, पहले लेश्याओंका जो संख्या अधिकारमें द्रव्यप्रमाण बताया है उसीसे सिद्ध है। इनमें सवसे अल्प शुक्ललेश्यावाले हैं, फिर भी उनका प्रमाण असंख्यात है, इनसे असंख्यातगुणे पद्मलेश्यावाले और इनसे भी असंख्यातगुणे पीतलेश्यावाले जीव हैं। पीत लेश्यावालोंसे अनन्तानन्तगुणे कपोतलेश्यावाले हैं, इनसे कुछ अधिक नील लेश्यावाले और इनसे भी कुछ अधिक कृष्णलेश्यावाले जीव हैं।

॥ इति भावाल्पबहुत्वाधिकारौ ॥

इस प्रकार सोलह अधिकारोंके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करके अव लेश्यारहित जीवोंका वर्णन करते हैं—

किण्हादिलेस्सरहिया, संसारविणिग्गया अणंतसुहा।
सिद्धिपुरं संपत्ता, अलेस्सिया ते मुणेयव्वा ॥ ५५६ ॥

कृष्णादिलेश्यारहिताः संसारविनिर्गता अनंतसुखाः।
सिद्धिपुरं संप्राप्ता अलेश्यास्ते ज्ञातव्याः ॥ ५५६ ॥

अर्थ—जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओंसे रहित हैं, अतएव जो पंच परिवर्तनरूप संसारसमुद्रके पारको प्राप्त हो गये हैं तथा जो अतीन्द्रिय अनन्त सुखसे तृप्त हैं, आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको जो प्राप्त हो गये हैं उन जीवोंको अयोगकेवली या सिद्ध भगवान् कहते हैं।

भावार्थ—जो अनन्त सुखको प्राप्तकर संसारसे सर्वथा रहित होकर सिद्धिपुरको प्राप्त हो गये हैं वे जीव सर्वथा लेश्याओंसे रहित होते हैं, अतएव उनको अलेश्य-सिद्ध कहते हैं, क्योंकि लेश्याओंका सम्बन्ध कषाय और योगसे है अतएव जहाँतक कषायोंके उदयस्थान और योगप्रवृत्ति पाई जाती है वहाँतक लेश्याएँ भी मानी जाती है, इनके ऊपर चौदहवें गुणस्थान एवं सिद्धअवस्था में इनका सर्वथा अभाव है, अतएव ये दोनों ही स्थान अलेश्य हैं।

॥ इति लेश्याप्ररूपणा समाप्ताः ॥

क्रमप्राप्त भव्यमार्गणाका वर्णन करते हैं—

भविया सिद्धी जेसिं, जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।
तव्विवरीयाऽभव्वा, संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५७ ॥

भव्या सिद्धिर्येषां जीवानां ते भवन्ति भवसिद्धाः ।
तद्विपरीता अभव्याः संसारान्न सिध्यन्ति ॥ ५५७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी अनन्त चतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसको प्राप्तिके योग्य हों उनको भवसिद्ध कहते हैं । जिनमें इन दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवोंको अभव्यसिद्ध कहते हैं ।

भावार्थ—कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्ति प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती स्त्रीमें पुत्रोत्पत्तिकी योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा। इसके सिवाय कोई भव्य ऐसे हैं जो नियमसे मुक्त होंगे। जैसे बन्ध्यापनेके दोषसे रहित स्त्रीके निमित्त मिलनेपर नियमसे पुत्र उत्पन्न होगा । इस तरह योग्यताभेदके कारण भव्य दो प्रकारके हैं । इन दोनों योग्यताओंसे जो रहित हैं उनको अभव्य कहते हैं । जैसे बन्ध्या स्त्रीके निमित्त मिलै चाहे न मिलै; परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

जिनमें मुक्तिप्राप्तिकी योग्यता है उनको भव्यसिद्ध कहते हैं इस अर्थको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं—

भव्वत्तणस्स जोग्गा, जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा ।
ण हु मलविगमे णियमा, ताणं कणओवलाणमिव ॥ ५५८ ॥

भव्यत्वस्य योग्या ये जीवास्ते भवन्ति भवसिद्धाः ।
न हि मलविगमे नियमात् तेषां कनकोपलानामिव ॥ ५५८ ॥

अर्थ—जो जीव अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धिकी प्राप्तिके योग्य हैं; उनको भवसिद्ध कहते हैं । किन्तु यह बात नहीं है कि इस प्रकारके जीवोंका कर्ममल नियमसे दूर हो ही । जैसे कनकोपलका ।

भावार्थ—ऐसे भी बहुतसे कनकोपल हैं जिनमें कि निमित्त मिलानेपर शुद्ध स्वर्णरूप होनेकी योग्यता तो है, परन्तु उनकी इस योग्यताकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी। अथवा जिस तरह अहमिन्द्र देवोंमें नरकादिमें गमन करनेकी शक्ति है परन्तु उस शक्तिकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होती। इस ही तरह जिन जीवोंमें अनन्त चतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी। उनको भी भवसिद्ध कहते हैं। ये जीव भव्य होते हुए भी सदा संसारमें ही रहते हैं।

ण य जे भव्वाभव्वा, मुत्तिसुहातीदणंतसंसारा ।
ते जीवा णायव्वा, णेव य भव्वा अभव्वा य ॥ ५५९ ॥

न च ये भव्या अभव्या मुक्तिसुखा अतीतानन्तसंसाराः ।
ते जीवा ज्ञातव्या नैव च भव्या अभव्याश्च ॥ ५५९ ॥

अर्थ—जिनका पांच परिवर्तनरूप अनन्त संसार सर्वथा छूट गया है और इसीलिये जो मुक्तिसुखके भोक्ता हैं उन जीवोंको न तो भव्य समझना और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रही है इसलिये वे भव्य भी नहीं हैं और अनन्त चतुष्टयको प्राप्त हो चुके हैं इसलिये अभव्य भी नहीं हैं।

भावार्थ—जिसमें अनंत चतुष्टयके अभिव्यक्त होनेकी योग्यता ही न हो उसको अभव्य कहते हैं। अतः मुक्त जीव अभव्य भी नहीं हैं; क्योंकि इन्होंने अनंत चतुष्टयको प्राप्त कर लिया है। और "भवितुं योग्या भव्या" इस निरुक्तिके अनुसार भव्य उनको कहते हैं जिनमें कि अनन्त चतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है। किन्तु अब वे उस अवस्थाको प्राप्त कर चुके, इसलिये उनके भव्यत्व-उनकी उस योग्यताका परिपाक हो चुका अतएव अपरिपक्व अवस्थाकी अपेक्षासे भव्य भी नहीं हैं।

भव्यमार्गणामें जीवोंकी संख्या बताते हैं—

अवरो जुत्ताणंतो, अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं।
तेण विहीणो सव्वो, संसारी भव्वरासिस्स ॥ ५६० ॥

अवरो युक्तानन्तः अभव्यराशेर्भवति परिमाणम्।
तेन विहीनः सर्वः संसारी भव्यराशेः ॥ ५६० ॥

अर्थ—जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि है और सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे अभव्यराशिका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्यराशिका प्रमाण है।

भावार्थ—भव्यराशि बहुत अधिक है और अभव्य राशि बहुत थोड़ी है। अभव्य जीव सदा पाँच परिवर्तनरूप संसारसे युक्त ही रहते हैं। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका प्राप्त होना इसको संसार-परिवर्तन कहते हैं। इस संसार अर्थात् परिवर्तनके पाँच भेद हैं—द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव। द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन। यहाँ पर इन परिवर्तनोंका क्रमसे स्वरूप बताते हैं। किसी जीवने, स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मन्द मध्यम भावोंमेंसे यथासम्भव भावोंसे युक्त औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीरसम्बन्धी तथा छह पर्याप्तिरूप परिणमनेके योग्य पुद्गलोंको एक समयमें ग्रहण किया। पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस द्रव्यकी निर्जरा कर दी। पीछे अनन्त बार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया, अनन्त बार मिश्र द्रव्यको ग्रहण करके छोड़ दिया, अनन्त बार ग्रहीतको भी ग्रहण करके छोड़ दिया। जब वही जीव उन ही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उन ही पुद्गलोंको जितने समय-बाद ग्रहण करे प्रारम्भसे लेकर उतने कालसमुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कन्धमें हों उसको ग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहले ग्रहण नहीं किया हो उसको अग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें दोनों प्रकारके परमाणु हों उसको मिश्र कहते हैं। अग्रहीत परमाणु भी लोकमें अनन्तानन्त हैं; क्योंकि सम्पूर्ण जीवराशिका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उसका अतीत कालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उससे भी अनन्तगुणा पुद्गलद्रव्य है।

इस परिवर्तनका काल, अग्रहीतग्रहण ग्रहीतग्रहण मिश्रग्रहणके भेदसे तीन प्रकारका है। इसकी घटना किस तरह होती है यह अनुक्रम यन्त्र द्वारा बताते हैं—

द्रव्यपरिवतन यंत्र					
०० ×	०० ×	००१	०० ×	०० ×	००१
× × ०	× × ०	× × १	× × ०	× × ०	× × १
× × १	× × १	× × ०	× ×.१	× × १	× × ०
११ ×	११ ×	११०	११+	११ ×	११०

इस यन्त्रमें शून्यसे अग्रहीत, हंसपदसे (× इस चिन्हसे) मिश्र और एकके अंकसे ग्रहीत समझना चाहिये। तथा दो बार लिखनेसे अनन्त बार समझना चाहिये। इस यन्त्रके देखनेसे स्पष्ट होता है कि निरन्तर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, मिश्रग्रहणके बाद फिर निरन्तर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्त बार मिश्रका ग्रहण हो चुकनेपर अनन्त बार अग्रहीत-ग्रहणके अनन्तर एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर उस ही तरह अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण होकर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनन्त बार हो चुकनेपर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण करके एक बार फिर ग्रहीतका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये ही प्रथम पंक्तिमें पहले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे दिये हैं। अर्थात् इस क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है। इसके बाद दूसरे भेदका प्रारम्भ होता है। यहाँपर अनन्त बार मिश्रका ग्रहण होनेपर एक बार अग्रहीतका ग्रहण, फिर अनंत बार मिश्रका ग्रहण होने पर एक बार अग्रहीतका ग्रहण इस ही क्रमसे अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण होकर अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। जिस क्रमसे एक बार ग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तन का दूसरा भेद समाप्त होता है। इसके बाद तीसरे भेदमें अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीत का ग्रहण होता है, फिर अनंत बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंत बार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर अनंत बार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अग्रहीत ग्रहण होता है। जिस तरह एक बार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही तरह अनंत बार अग्रहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्म-पुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है। इसके बाद चौथे भेदका प्रारम्भ होता है। इसमें प्रथम ही अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण करके एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, इसके बाद फिर अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होनेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। इस तरह अनन्त बार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंत बार ग्रहीतका ग्रहण करके एक बार अग्रहीतका ग्रहण होता है। जिस तरह एक बार अग्र-

हीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तन का चौथा भेद समाप्त होता है। इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारम्भके प्रथम समयमें वर्ण गन्ध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उस ही भावसे युक्त उस शुद्ध ग्रहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है। इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं। तथा इसमें जितना काल लगे उसको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल कहते हैं।

इस तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनी ही है कि जिस तरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उस ही तरह यहाँ पर कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है। कर्मोंके ग्रहणमें त्रिभागके समय आयुसहित आठ कर्मोंका समयप्रबद्धमें ग्रहण हुआ करता है जैसा कि पहले बताया जा चुका है और त्रिभागके सिवाय अन्य कालमें आयुकर्मको छोड़कर शेष सात कर्मोंके ही योग्य कर्मपुद्गल द्रव्यका समयप्रबद्धमें ग्रहण होता है। किन्तु इस परिवर्तनके सम्बन्धमें आठ कर्मोंके योग्य ही समयप्रबद्ध-कर्म पुद्गलद्रव्यका ग्रहण करना चाहिये। दूसरी बात यह कि जिस तरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनके वर्णनमें ग्रहीत द्रव्यकी निर्जरा दूसरे ही समयसे होनी बताई गई है वैसा यहाँ नहीं है। कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें ग्रहीत समयप्रबद्धरूप कर्म-द्रव्यकी निर्जराका प्रारम्भ एक आवली कालके अनन्तर होना कहना और समझना चाहिये, क्योंकि कर्मोंके ग्रहणके समयसे लेकर एक आवली कालतक उनकी निर्जरा न तो होती है और न हो सकती है। इन दो बातोंको छोड़कर और परिवर्तनके क्रममें कुछ भी विशेषता नहीं है। जिस तरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें होते हैं उस ही तरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें भी चार भेद होते हैं। इन चार भेदोंमें भी अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है, इससे अनंतगुण काल मिश्रग्रहण का है। इससे भी अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका जघन्य काल है, इससे अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है, क्योंकि प्रायः करके उस ही पुद्गलद्रव्यका ग्रहण होता है कि जिसके साथ द्रव्य क्षेत्र काल भावका संस्कार हो चुका है। इस ही अभिप्राय से यह सूत्र कहा भी है कि—

सुहमट्ठिदिसंजुत्तं, आसण्णं कम्मणिज्जरामुक्कं।
पाएण एदि गहणं, दव्वमणिद्दिट्ठसंठाणं॥ १ ॥

सूक्ष्मस्थितिसंयुक्तमासन्नं कर्मनिर्जरामुक्तम्।
प्रायेणेति ग्रहणं द्रव्यमनिर्दिष्टसंस्थानम्॥ १ ॥

अर्थ—जो अल्पस्थितिसे युक्त है, जीव प्रदेशोंपर ही स्थित है तथा निर्जराके द्वारा कर्मरूप अवस्थाको छोड़ चुका है, और अनिर्दिष्ट संस्थान है अर्थात् विवक्षित प्रथम समयमें ग्रहीत द्रव्यके स्वरूपसे रहित है, इस तरहके पुद्गल द्रव्यको ही प्रायः करके जीव ग्रहण करता है।

भावार्थ—यद्यपि यह नियम नहीं है कि इस ही तरहके पुद्गलको जीव ग्रहण करे तथापि बहुधा इस ही तरहके पुद्गलको ग्रहण करता है, क्योंकि यह द्रव्य क्षेत्र काल भावसे संस्कारित है।

द्रव्यपरिवर्तनके उक्त चार भेदोंका इस गाथामें निरूपण किया है—

अगहिदमिस्सं गहिदं, मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च।
मिस्सं गहिदमगहिदं, गहिदं मिस्सं अगहिदं च॥ २ ॥

इस परिवर्तनका काल, अग्रहीतग्रहण ग्रहीतग्रहण मिश्रग्रहणके भेदसे तीन प्रकारका है। इसकी घटना किस तरह होती है यह अनुक्रम यन्त्र द्वारा बताते हैं—

द्रव्यपरिवतन यंत्र					
००×	००×	००१	००×	००×	००१
××०	××०	××१	××०	××०	××१
××१	××१	××०	××.१	××१	××०
११×	११×	११०	११+	११×	११०

इस यन्त्रमें शून्यसे अग्रहीत, हंसपदसे (× इस चिन्हसे) मिश्र और एकके अंकसे ग्रहीत समझना चाहिये। तथा दो बार लिखनेसे अनन्त बार समझना चाहिये। इस यन्त्रके देखनेसे स्पष्ट होता है कि निरन्तर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, मिश्रग्रहणके बाद फिर निरन्तर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्त बार मिश्रका ग्रहण हो चुकनेपर अनन्त बार अग्रहीत-ग्रहणके अनन्तर एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर उस ही तरह अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण होकर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनन्त बार हो चुकनेपर अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण करके एक बार फिर ग्रहीतका ग्रहण होता है। इस ही क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये ही प्रथम पंक्तिमें पहले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे दिये हैं। अर्थात् इस क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है। इसके बाद दूसरे भेदका प्रारम्भ होता है। यहाँपर अनन्त बार मिश्रका ग्रहण होनेपर एक बार अग्रहीतका ग्रहण, फिर अनंत बार मिश्रका ग्रहण होने पर एक बार अग्रहीतका ग्रहण इस ही क्रमसे अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण होकर अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है। जिस क्रमसे एक बार ग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तन का दूसरा भेद समाप्त होता है। इसके बाद तीसरे भेदमें अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीत का ग्रहण होता है, फिर अनंत बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंत बार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकनेपर अनंत बार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अग्रहीत ग्रहण होता है। जिस तरह एक बार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही तरह अनंत बार अग्रहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्म-पुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है। इसके बाद चौथे भेदका प्रारम्भ होता है। इसमें प्रथम ही अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण करके एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, इसके बाद फिर अनन्त बार ग्रहीतका ग्रहण होनेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है। इस तरह अनन्त बार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंत बार ग्रहीतका ग्रहण करके एक बार अग्रहीतका ग्रहण होता है। जिस तरह एक बार अग्र-

वर्तनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नहीं रहता। इस क्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेमें जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं। तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसको भवपरिवर्तन कहते हैं।

योगस्थान अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान[1] स्थितिस्थान इन चारके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेशवन्धको कारणभूत आत्माके प्रदेशपरिस्पन्द-रूप योगके तरतमरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। जिन कषायोंके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभाग-वन्ध होता है उनको अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिवन्धको कारणभूत कषाय-परिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान या स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं। वन्धरूप कर्मकी जघन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं। इनका परिवर्तन किस तरह होता है यह दृष्टांत द्वारा आगे लिखते हैं—

श्रेणिके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके हो जानेपर एक अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान होता है, और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक कषायध्यावसाय-स्थान होता है, तथा असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके होजाने पर एक स्थितिस्थान होता है। इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूलप्रकृति वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका वन्ध होता है। यही यहाँपर जघन्य स्थिति है। अतः इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्य ही अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योगस्थान होते हैं। यहाँसे ही भावपरिवर्तनका प्रारम्भ होता है। अर्थात् इसके आगे श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजाने पर दूसरा अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान होता है। इसके वाद फिर श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर तीसरा अनुभागवंधाध्यवसायस्थान होता है। इस ही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर भी वही जघन्य स्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्य स्थिति स्थानमें वताया वही क्रम एक-एक समय अधिक द्वितीयादि स्थितिस्थानोंमें समझना चाहिये। तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणकी जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक समस्त स्थितिस्थानोंके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोंकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थितिस्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है। तथा इस परिवर्तनमें जितना काल लगे उसको एकभाव परिवर्तनका काल[2] कहते हैं। इस प्रकार संक्षेपमें इन पाँच परिवर्तनोंका स्वरूप यहाँ पर कहा है। इनका काल उत्तरोत्तर अनन्तगुणा अनन्तगुणा है। नानाप्रकारके दुःखोंसे आकुलित पांच परिवर्तनरूप संसारमें यह जीव मिथ्यात्वके निमित्तसे अनन्त कालसे भ्रमण कर रहा है। इस

---

१. एक ही कषाय परिणाममें दो कार्य करनेका स्वभाव है। एक स्वभाव अनुभागवंधको कारण है, और दूसरा स्वभाव स्थितिवंधको कारण है। इसको ही अनुभागवंधाध्यवसाय और कषायाध्यवसाय कहते हैं।

२. सभी परिवर्तनोंमें जहाँ क्रमभंग होगा वह गणनामें नहीं आवेगा।

परिभ्रमणके कारणभूत कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी जिनमें योग्यता नहीं है उनको अभव्य कहते हैं और जिनमें कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी योग्यता है उनको भव्य कहते हैं।

॥ इति भव्यत्वमार्गणा समाप्ता ॥

०

क्रमप्राप्त सम्यक्त्व मार्गणाका वर्णन करते हैं—

छप्पंचणवविहाणं, अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य, सद्दहणं होइ सम्मत्तं[1] ॥ ५६१ ॥

षट्पञ्चनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम्।
आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—छह द्रव्य पाँच अस्तिकाय नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेवने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं। यह दो प्रकारसे होता है—एक तो केवल आज्ञासे दूसरा अधिगमसे।

भावार्थ—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं। तथा कालको छोड़कर शेष ये ही पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं और जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नव[2] प्रकारके पदार्थ हैं। इनका "जिनेन्द्रदेवने जैसा स्वरूप कहा है वास्तवमें वही सत्य है," इस तरह[3] बिना युक्तिसे निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व[4] कहते हैं। तथा इनके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निक्षेप इत्यादिके द्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वके श्रद्धेय विषयोंमेंसे क्रमानुसार सबसे पहले द्रव्योंका वर्णन करनेके लिए उनके सात अधिकारोंका निर्देश करते हैं—

छद्दव्वेसु य णामं, उवलक्खणुवाय अत्थणे कालो।
अत्थणखेत्तं संखा, ठाणसरूवं फलं च हवे ॥ ५६२ ॥

षड्द्रव्येषु च नाम उपलक्षणानुवादः अस्तित्वकालः।
अस्तित्वक्षेत्रं संख्या स्थानस्वरूपं फलं च भवेत् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—छह द्रव्योंके निरूपण करनेमें ये सात अधिकार हैं—नाम, उपलक्षणानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप, फल। इन सात अधिकारोंके द्वारा छहों द्रव्योंका यहाँ वर्णन किया जायगा।

प्रथम ही नाम अधिकारको कहते हैं—

---

१. प. खं. १ गाथा ९६, २१२।

२. इन नौ पदार्थोंमें सात तत्त्व भी अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि इनमेंसे पुण्य पापको छोड़कर बाकी जीवादिक सात तत्त्व हैं।

३. "इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्नचान्यथा। इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥ ॥ र. क.। सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ ॥पुरु०।

४. आज्ञा—निसर्ग इत्यर्थः। "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" त. सू.।

जीवाजीवं दव्वं, रूवारूवि त्ति होदि पत्तेयं ।
संसारत्था रूवा, कम्मविमुक्का अरूवगया ॥ ५६३ ॥

जीवाजीवं द्रव्यं रूप्यरूपीति भवति प्रत्येकम् ।
संसारस्था रूपिणः कर्मविमुक्ता अरूपगताः ॥ ५६३ ॥

अर्थ—द्रव्यके सामान्यतया दो भेद हैं—एक जीवद्रव्य दूसरा अजीव द्रव्य । फिर इनमें भी प्रत्येकके दो-दो भेद हैं—एक रूपी दूसरा अरूपी । जितने संसारी जीव हैं वे सब रूपी हैं; क्योंकि उनका कर्म-पुद्गलके साथ एक क्षेत्रावगाहसम्बन्ध है । जो जीव कर्मसे रहित होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं वे सब अरूपी हैं; क्योंकि उनसे कर्मपुद्गलका सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है ।

अजीव द्रव्यमें भी रूपी अरूपीका भेद गिनाते हैं—

अज्जीवेसु य रूवी, पुग्गलदव्वाणि धम्म इदरो वि ।
आगासं कालो वि य, चत्तारि अरूविणो होंति ॥ ५६४ ॥

अजीवेषु च रूपीणि पुद्गलद्रव्याणि धर्म्म इतरोऽपि ।
आकाशं कालोपि च चत्वारि अरूपीणि भवन्ति ॥ ५६४ ॥

अर्थ—अजीव द्रव्यके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म्म, अधर्म, आकाश, काल । इनमें एक पुद्गल द्रव्य रूपी[1] है और शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अरूपी हैं ।

उपलक्षणानुवाद अधिकारको कहते हैं—

उवजोगो वण्णचऊ, लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ॥ ५६५ ॥

उपयोगो वर्णचतुष्कं लक्षणमिह जीवपुद्गलानां तु ।
गतिस्थानावगाहवर्तनक्रियोपकारस्तु धर्मचतुर्णाम् ॥ ५६५ ॥

अर्थ—ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग जीवद्रव्यका लक्षण है । वर्ण गन्ध रस स्पर्श यह पुद्गलद्रव्यका लक्षण है । जो गमन करते हुए जीव और पुद्गलद्रव्यको गमन करनेमें सहकारी हो उसको धर्मद्रव्य कहते हैं । जो ठहरे हुए जीव तथा पुद्गलद्रव्यको ठहरनेमें सहकारी हो उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं । जो सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देनेमें सहायक हो उसको आकाश कहते हैं । जो समस्त द्रव्योंके अपने-अपने स्वभावमें वर्तनेका सहकारी है उसको काल कहते हैं ।

गदिठाणोग्गहकिरिया, जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे ।
धम्मतिये ण हि किरिया, मुक्खा पुण साधका होंति ॥ ५६६ ॥

गतिस्थानावगाहक्रिया जीवानां पुद्गलानामेव भवेत् ।
धर्मत्रिके न हि क्रिया मुख्याः पुनः साधका भवन्ति ॥ ५६६ ॥

अर्थ—गमन करनेकी या ठहरनेकी तथा रहनेकी क्रिया जीवद्रव्य तथा पुद्गलद्रव्यकी ही होती है । धर्म अधर्म आकाशमें ये क्रिया नहीं होती, क्योंकि न तो ये एक स्थानसे चलायमान

१. "रूपिणः पुद्गलाः" त. सू. ।

होते हैं, और न प्रदेश ही चलायमान होते हैं। किन्तु ये तीनों ही द्रव्य जीव और पुद्गलको उक्त तीनों क्रियाओंके मुख्य साधक हैं।

भावार्थ—मुख्य साधक कहनेका अभिप्राय यह नहीं है कि धर्मादिक द्रव्य जीव पुद्गलको गमन आदि करनेमें प्रेरक हैं; किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय जीव या पुद्गल गति आदिरूपसे परिणित हों उस समय उनकी उस गति आदिमें सहकारी होना धर्मादि द्रव्यका मुख्य कार्य है। मतलब यह है कि जीव-पुद्गलकी गति क्रियामें धर्म द्रव्य, स्थिति क्रियामें अधर्म द्रव्य और अवगाहन क्रियामें आकाश द्रव्य उदासीन कारण हैं। प्रेरक कारण नहीं है। वे उस क्रियारूप परिणत होनेके लिए जीव पुद्गलको प्रेरित नहीं किया करते, किन्तु तद्रूप परिणत होने-पर वे उस क्रियामें सहायक हुआ करते हैं।

गति आदिमें धर्मादि द्रव्य किस तरह सहायक होते हैं यह दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं—

जत्तस्स पहं ठत्तस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा।
गदिठाणोग्गहकरणे धम्मतियं साधगं होदि ॥ ५६७ ॥

यातस्य पन्थाः तिष्ठतः आसनं निवसकस्य वसतिर्वा।
गतिस्थानावगाहकरणे धर्मत्रयं साधकं भवति ॥ ५६७ ॥

अर्थ—गमन करनेवालेको मार्गकी तरह धर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी गतिमें सहकारी होता है। ठहरनेवालेको आसनकी तरह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी होता है। निवासकरने-वालेको मकानकी तरह आकाशद्रव्य जीव पुद्गल आदिको अवगाह देनेमें सहकारी होता है।

भावार्थ—जिस तरह चलनेवाले पथिकको मार्ग चलनेके लिए प्रेरित नहीं करता, फिर भी सहायक होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गलके गमनमें धर्म द्रव्य सहायक है। इसी प्रकार अधर्म और आकाशके विषयमें समझना चाहिये।

वत्तणहेदू कालो, वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु।
कालाधारेणेव य, वट्टंति हु सव्वदव्वाणि ॥ ५६८ ॥

वर्तनाहेतुः कालो वर्तनागुणमवेहि द्रव्यनिचयेषु।
कालाधारेणैव च वर्तन्ते हि सर्वद्रव्याणि ॥ ५६८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका यह स्वभाव है कि वे अपने-अपने स्वभावमें सदा ही वर्ते। परन्तु उनका यह वर्तना किसी बाह्य सहकारीके बिना नहीं हो सकता, इसलिए इनको वर्तानेवाला सहकारी कारणरूप वर्तनागुण[1] जिसमें पाया जाय उसको काल कहते हैं, क्योंकि कालके आश्रयसे ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं।

मूर्तीक जीव पुद्गलके वर्तनेका सहकारी कारण होना काल द्रव्यमें सम्भव है, परन्तु धर्मादिक अमूर्तिक तथा व्यापक द्रव्योंमें किस तरह घटित हो सकता है? इस शङ्काका समाधान करते हैं—

---

१. णिजन्तात् वृतुञ धातोः कर्मणि भावे वा वर्तनाशब्दव्युत्पत्तिः।.... वर्तते द्रव्यपर्यायः तस्य वर्तयिता कालः। जी. प्र.।

धम्माधम्मादीणं, अगुरुगलहुगं तु छहिं वि वड्ढीहिं ।
हाणीहिं वि वड्ढंतो, हायंतो वट्टदे जम्हा ।। ५६९ ।।

धर्माधर्मादीनामगुरुकलघुकं तु षड्भिरपि वृद्धिभिः ।
हानिभिरपि वर्धमानं हायमानं वर्तते यस्मात् ।। ५६९ ।।

अर्थ—धर्मादिक द्रव्योंमें अगुरुलघु नामका एक गुण है। इस गुणमें तथा इसके निमित्तसे धर्मादिक द्रव्यके शेष गुणोंमें छह प्रकारकी वृद्धि तथा छह प्रकारकी हानि होती है और इन वृद्धि हानिके निमित्तसे वर्धमान तथा हीयमान धर्मादि द्रव्योंमें वर्तना सम्भव है।

भावार्थ—धर्मादि द्रव्योंमें स्वसत्ताका नियामक कारणभूत अगुरुलघु गुण है। उसके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि तथा अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनन्तगुणहानि ये छह हानि होती हैं। तथा इस गुणके निमित्तसे दूसरे गुणोंमें भी ये हानि वृद्धि होती हैं। इसलिए धर्मादि द्रव्योंके इस परिणमनका भी बाह्य सहकारी कारण मुख्य काल द्रव्य ही है। सूक्ष्म अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदयुक्त अगुरुलघुगुणके द्वारा धर्मादिक द्रव्य षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमन करते हैं और उस परिणमनके द्वारा वे स्वयं वर्त रहे हैं तथा काल द्रव्य उदासीन सहकारी निमित्त बनकर उनको उस रूपमें वर्त्ता रहा है।

वर्तनाका कारण कालद्रव्य किस तरह है यह स्पष्ट करते हैं—

ण य परिणमदि सयं सो, ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं ।
विविहपरिणामियाणं, हवदि हु कालो सयं हेदू ।। ५७० ।।

न च परिणमति स्वयं स न च परिणामयति अन्यदन्यैः ।
विविधपरिणामिकानां भवति हि कालः स्वयं हेतुः ।। ५७० ।।

अर्थ—परिणामी होनेसे कालद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है, वह न तो स्वयं दूसरे द्रव्यरूप परिणत होता है और न दूसरे द्रव्योंको अपने स्वरूप अथवा भिन्न द्रव्यस्वरूप परिणमाता है; किन्तु अपने-अपने स्वभावसे ही अपने-अपने योग्य पर्यायोंसे परिणत होनेवाले द्रव्योंके परिणमनमें कालद्रव्य उदासीनतासे स्वयं बाह्य सहकारी हो जाता है।

कालं अस्सिय दव्वं, सगसगपज्जायपरिणदं होदि ।
पज्जायावट्ठाणं, सुद्धणये होदि खणमेत्तं ।। ५७१ ।।

कालमाश्रित्य द्रव्यं स्वकस्वकपर्यायपरिणतं भवति ।
पर्यायावस्थानं शुद्धनयेन भवति क्षणमात्रम् ।। ५७१ ।।

अर्थ—कालके आश्रयसे प्रत्येक द्रव्य अपने योग्य पर्यायोंसे परिणत होता है। इन पर्यायोंकी स्थिति शुद्धनयसे एक क्षणमात्र रहती है।

भावार्थ—शुद्ध ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षासे सभी द्रव्योंकी अर्थ पर्यायका काल एक क्षणमात्र है और काल द्रव्यके निमित्तसे सभी द्रव्य इस तरह स्वभावसे प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं।

ववहारो य वियप्पो, भेदो तह पज्जओ त्ति एयट्ठो।
ववहार अवट्ठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ॥ ५७२ ॥

व्यवहारश्च विकल्पो भेदस्तथा पर्याय इत्येकार्थः।
व्यवहारावस्थानस्थितिर्हि व्यवहारकालस्तु ॥ ५७२ ॥

अर्थ—व्यवहार विकल्प भेद तथा पर्याय इन शब्दोंका एक ही अर्थ है। अर्थात् एक ही अर्थके ये पर्यायवाचक शब्द हैं। व्यंजनपर्यायके वर्तमानरूपमें ठहरनेका जितना काल है उतने कालको व्यवहारकाल कहते हैं।

अवरा पज्जायठिदी, खणमेत्तं होदि तं च समओ त्ति।
दोण्हमणूणमदिक्कमकालपमाणं हवे सो दु ॥ ५७३ ॥

अवरा पर्यायस्थितिः क्षणमात्रं भवति सा च समय इति।
द्वयोरण्वोरतिक्रमकालप्रमाणं भवेत् स तु ॥ ५७३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंकी पर्यायकी जघन्य स्थिति एक क्षणमात्र होती है, इसीको समय कहते हैं। दो परमाणुओंके अतिक्रमण करनेके कालका जितना प्रमाण है उसको समय कहते हैं।

भावार्थ—समीपमें स्थित दो परमाणुओंमेंसे मंद गमनरूप परिणत होकर जितने कालमें एक परमाणु दूसरे परमाणुका उल्लंघन करें उतने कालको एक समय कहते हैं। इतनी ही प्रत्येक पर्यायकी जघन्य स्थिति है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षासे पर्यायका काल एक क्षणमात्र ही है। किन्तु स्थूल ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षासे अधिक काल भी होता है। उसको व्यवहार काल कहते हैं।

क्षेपक गाथा द्वारा प्रकारान्तरसे समयका प्रमाण बताते हैं।

[1]णभएयपयेसत्थो, परमाणू मंदगइपवट्टंतो।
वीयमणंतरखेत्तं, जावदियं जादि तं समयकालो ॥ १ ॥

नभएकप्रदेशस्थः परमाणुर्मन्दगतिप्रवर्तमानः।
द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावत् याति सः समयकालः ॥ १ ॥

अर्थ—आकाशके एक प्रदेशपर स्थित एक परमाणु मन्दगतिके द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेशपर जितने कालमें प्राप्त हो उतने कालको एक समय कहते हैं।

प्रदेशका प्रमाण कितना है सो बताते हैं—

जेत्ती वि[2] खेत्तमेत्तं, अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च।
तं च पदेसं भणियं, अवरावरकारणं जस्स ॥ २ ॥

यावदपि क्षेत्रमात्रमणुना रुद्धं खलु गगनद्रव्यं च।
स च प्रदेशो भणितः अपरपरकारणं यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—जितने आकाशद्रव्यमें पुद्गलका एक अविभागी परमाणु आजाय उतने क्षेत्रमात्रको

---

१. २. ये दोनों ही गाथा क्षेपक हैं। जीव प्रबोधिनी टीकाकारने इनको उपयोगी गाथा कहकर उद्धृत किया है।

एक प्रदेश कहते हैं। इस प्रदेशके निमित्तसे ही आगे पीछेका अथवा दूर समीपका व्यवहार सिद्ध होता है।

भावार्थ—अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके आगे है और अमुक पदार्थ पीछे है। अथवा अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके समीप है और अमुक पदार्थसे दूर है इस तरह क्षेत्रसम्बन्धी आगे पीछे या निकट दूरके व्यवहारको सिद्ध करनेवाला प्रदेशविभाग ही है। क्षेत्रविषयक व्यवहार आकाशके द्वारा हुआ करता है। इसीलिये प्रदेशका लक्षण यह बताया गया है कि जितना आकाश अविभागी परमाणुके द्वारा अवरुद्ध हो उसको प्रदेश कनते हैं।

व्यवहारकालका निरूपण करते हैं—

आवलिअसंखसमया, संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुस्सासा थोवो, सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥ ५७४ ॥

आवलिरसंख्यसमया संख्येयावलिसमूह उछ्वासः।
सप्तोच्छ्वासाः स्तोकः सप्तस्तोको लवो भणितः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—असंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है। सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है।

उच्छ्वासका स्वरूप क्षेपक गाथा द्वारा बताते हैं—

अड्ढस्स अणलसस्स य, णिरुवहदस्स य हवेज्ज जीवस्स।
उस्सासाणिस्सासो, एगो पाणो त्ति आहीदो ॥ १ ॥

आढ्यस्यानलसस्य च निरुपहतस्य च भवेत् जीवस्य।
उच्छ्वासनिःश्वास एकः प्राण इति आख्यातः ॥ १ ॥

अर्थ—सुखी, आलस्यरहित, रोग पराधीनता चिन्ता आदिसे रहित जीवके संख्यात आवलीके समूहरूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है।

भावार्थ—दुःखी आदि जीवके संख्यात आवलीप्रमाण कालके पहले भी श्वासोच्छ्वास हो जाता है, इसलिये यहाँ पर सुखी आदि विशेषणोंसे युक्त जीवका ग्रहण किया है। इस तरहके जीवके जो श्वासोच्छ्वास होता है वह संख्यात आवलीके समूहरूप है। इसीको एक प्राण कहते हैं।

अट्ठत्तीसद्धलवा,-णाली वेणालिया मुहुत्तं तु।
एगसमयेण हीणं, भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥ ५७५ ॥

अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिको मुहूर्तस्तु।
एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तस्ततः ॥ ५७५ ॥

अर्थ—साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली (घड़ी) होती है। दो घड़ीका एक मुहूर्त होता है। इसमें एक समय कम करनेसे भिन्नमुहूर्त अथवा अन्तमुहूर्त होता है। तथा इसके आगे दो तीन चार आदि समय कम करनेसे अन्तमुहूर्तके भेद होते हैं।

जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण क्षेपक गाथाके द्वारा बताते हैं—

ससमयमावलि अवरं, समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं ।
मज्झासंखवियप्पं, वियाण अंतोमुहुत्तमिणं ॥ १ ॥

ससमय आवलिरवरः समयोनमुहूर्तकस्तु उत्कृष्टः ।
मध्यासंख्यविकल्पः विजानीहि अन्तर्मुहूर्तमिमम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक समयसहित आवलीप्रमाण कालको जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। एक समय कम मुहूर्तको उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कम कहते हैं। इन दोनोंके मध्यके असंख्यात भेद हैं। उन सबको भी अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिये।

दिवसो पक्खो मासो, उडु अयणं वस्समेवमादी हु ।
संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥ ५७६ ॥

दिवसः पक्षो मास ऋतुरयनं वर्षमेवमादिर्हि ।
संख्येयासंख्येयानन्ता भवन्ति व्यवहाराः ॥ ५७६ ॥

अर्थ—तीस मुहूर्तका एक दिवस (अहोरात्र), पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, दो अयनका एक वर्ष इत्यादि व्यवहार कालके आवलीसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद होते हैं।

ववहारो पुण कालो, माणुसखेत्तम्हि जाणिदव्वो दु ।
जोइसियाणं चारे, ववहारो खलु समाणो त्ति ॥ ५७७ ॥

व्यवहारः पुनः कालः मानुषक्षेत्रे ज्ञातव्यस्तु ।
ज्योतिष्काणां चारे व्यवहारः खलु समान इति ॥ ५७७ ॥

अर्थ—परन्तु यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्रमें ही समझना चाहिये, क्योंकि मनुष्यक्षेत्रके ही ज्योतिषी देवोंके विमान गमन करते हैं और इनके गमनका काल तथा व्यवहार काल दोनों समान हैं।

भावार्थ—कालके इन भेदोंका व्यवहार मुख्यतया मनुष्य क्षेत्रमें ही पाया जाता है। तथा इस व्यवहार कालकी वास्तविक सिद्धि ज्योतिष्क विमानोंके चार पर निर्भर है।

प्रकारान्तरसे व्यवहार कालके भेद और उनका प्रमाण बताते हैं—

ववहारो पुण तिविहो, तीदो वट्टंतगो भविस्सो दु ।
तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥ ५७८

व्यवहारः पुनस्त्रिविधोऽतीतो वर्तमानो भविष्यंस्तु ।
अतीतः संख्येयावलिहतसिद्धानां प्रमाणं तु ॥ ५७८ ॥

अर्थ—व्यवहार कालके तीन भेद हैं—भूत वर्तमान भविष्यत्। इनमेंसे सिद्धराशिका संख्यात आवलीके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत अर्थात् भूत कालका प्रमाण है।

भावार्थ—छह महीना आठ समयमें छह सौ आठ जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं और सिद्धराशि जीवराशिके अनन्तवें भाग है। यह सिद्धराशि कितने कालमें हुई इसके लिए त्रैराशिक फलराशि

छह महीना ८ समयका इच्छाराशि सिद्धोंके प्रमाणसे गुणा करके प्रमाण राशि-छह सौ आठका भाग देने पर अतीत कालका प्रमाण संख्यात आवलि गुणित सिद्धराशि लब्ध आता है।

वर्तमान और भविष्यत् कालका प्रमाण बताते हैं—

समओ हु वट्टमाणो, जीवादो सव्वपुग्गलादो वि ।
भावी अणंतगुणिदो, इदि ववहारो हवे कालो ॥ ५७९ ॥

समयो हि वर्तमानो जीवात् सर्वपुद्गलादपि ।
भावी अनंतगुणित इति व्यवहारो भवेत्कालः ॥ ५७९ ॥

अर्थ—वर्तमान कालका प्रमाण एक समय है। सम्पूर्ण जीवराशि तथा समस्त पुद्गलद्रव्य-राशिसे भी अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है। इस प्रकार व्यवहार कालके तीन भेद होते हैं।

कालो वि य ववएसो, सब्भावपरूवओ हवदि णिच्चो ।
उप्पण्णप्पद्धंसी, अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ ५८० ॥

कालोऽपि च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः ।
उत्पन्नप्रध्वंसी अपरो दीर्घान्तरस्थायी ॥ ५८० ॥

अर्थ—काल यह व्यपदेश [संज्ञा] मुख्यकालका बोधक है; निश्चयकाल द्रव्यके अस्तित्वको सूचित करता है क्योंकि विना मुख्यके गौण अथवा व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है। तथा व्यवहारकाल वर्तमानकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत्की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है। इस प्रकार छह द्रव्योंका निरूपण करनेवाले सात अधिकारोंमेंसे दूसरा उपलक्षणानुवाद अधिकार पूर्ण हुआ।

अब क्रमानुसार स्थिति अधिकारका वर्णन करते हैं—

छद्दव्वावट्ठाणं, सरिसं तियकालअत्थपज्जाये ।
वेंजणपज्जाये वा, मिलिदे ताणं ठिदित्तादो ॥ ५८१ ॥

षड्द्रव्यावस्थानं सदृशं त्रिकालार्थपर्याये ।
व्यञ्जनपर्याये वा मिलिते तेषां स्थितित्वात् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—अवस्थान = स्थिति छहों द्रव्योंकी समान है। क्योंकि त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यञ्जनपर्यायके मिलनेसे ही उनकी स्थिति होती है।

भावार्थ—छहों द्रव्य अनादिनिधन हैं, फिर भी वह कथंचित् पर्यायोंसे भिन्न कुछ भी चीज नहीं है। और इन पर्यायोंके दो भेद हैं—एक व्यञ्जनपर्याय दूसरी अर्थपर्याय। वाग्गोचर—वचनके विषयभूत स्थूलपर्यायको व्यञ्जनपर्याय[1] कहते हैं और वचनके अगोचर सूक्ष्म पर्यायोंको अर्थपर्याय कहते हैं। ये दोनोंही पर्याय पर्यायत्वकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती अर्थात् अनादिनिधन हैं और द्रव्य इनके समूहरूप है, क्योंकि सदा रहते हुए भी वह स्वभावसे उत्पादव्ययात्मक है।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं—

---

१. प्रदेशवत्त्व गुणकी अवस्थाओंको भी व्यञ्जनपर्याय कहते हैं।

एयदवियम्मि जे, अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि ।
तीदाणागदभूदा, तावदियं तं हवदि दव्वं[1] ॥ ५८२ ॥

एकद्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यञ्जनपर्यायाश्चापि ।
अतीतानागतभूताः तावत्तत् भवति द्रव्यम् ॥ ५८२ ॥

अर्थ—एक द्रव्यमें जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है ।

भावार्थ—त्रिकालसम्बन्धी संस्थानस्वरूप (आकाररूप) प्रदेशवत्त्वगुणकी पर्याय-व्यंजन पर्याय तथा प्रदेशवत्त्वगुणको छोड़कर शेष गुणोंकी त्रिलालसम्बन्धी समस्त पर्याय-अर्थपर्याय इनका जो समूह है वही द्रव्य है ।

इस प्रकार तीसरे स्थिति अधिकारका वर्णन करके क्रमके अनुसार चौथे क्षेत्र अधिकारका वर्णन करते हैं—

आगासं वज्जित्ता, सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि वहिं ।
वावी धम्माधम्मा, अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥ ५८३ ॥

आकाशं वर्जयित्वा सर्वाणि लोके चैव न सन्ति बहिः ।
व्यापिनौ धर्माधर्मौ अवस्थितावचलितौ नित्यौ ॥ ५८३ ॥

अर्थ—आकाशको छोड़कर शेष समस्त द्रव्य लोकमें ही हैं—बाहर नहीं हैं । तथा धर्म और अधर्मद्रव्य व्यापक हैं, अवस्थित हैं, अचलित हैं और नित्य हैं ।

भावार्थ—आकाशद्रव्यके दो भेद हैं—एक लोक दूसरा अलोक । जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल पाया जाय उतने आकाशको लोक कहते हैं । इसके बाहर जितना अनन्त आकाशद्रव्य है उसको अलोक कहते हैं । धर्म अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें तिलमें तैलकी तरह व्याप्त[2] हैं, इसलिये इनको व्यापक कहा है । तथा ये दोनों ही द्रव्य आकाशके जिन प्रदेशोंमें स्थित हैं उनही प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं, चलायमान नहीं होते, जीवादिकी तरह एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें गमन नहीं करते, इसलिये अवस्थित हैं और अपने स्थान पर रहते हुए भी इनके प्रदेश जलकल्लोलकी तरह सकम्प नहीं होते हैं, इसीलिये अचलित हैं । ये दोनों ही द्रव्य कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं अर्थात् न तो इनमें विभाव पर्याय ही होती है और न इनका कभी सर्वथा अभाव ही होता है ।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगो त्ति ।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८४ ॥

---

१. प. ग्रं. १ गा. १९९ ।

२. आधार तीन तरहका माना है । यथा—औपश्लेपिकवैषयिकाभिव्यापक इत्यादि । आधारस्त्रिविधः प्रोक्तः कटाकाशतिलेषु च अर्थात् चटाईपर बैठा है, यहां चटाई औपश्लेपिक आधार है, आकाशमें घट पट गृह मेघ आदि हैं । यहां आकाश वैषयिक आधार है । तिलमें तैल है । यहां तिल अभिव्यापक आधार है । प्रकृतमें आकाश, धर्म अधर्म द्रव्यका अभिव्यापक आधार है ।

लोकस्यासंख्येयादिभागप्रभृतिस्तु सर्वलोक इति ।
आत्मप्रदेशविसर्पणसंहारे व्यापृतो जीवः ॥ ५८४ ॥

अर्थ—एक जीव अपने प्रदेशोंके संहार-विसर्पकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतकमें व्याप्त होकर रहता है।

भावार्थ—आत्मामें प्रदेशसंहार-विसर्पत्व गुण है। इसके निमित्तसे उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं, इसलिये एक जीवका क्षेत्र शरीरप्रमाणकी अपेक्षा अंगुलके असंख्यातवें भागसे लेकर हजार योजन तकका होता है। इसके आगे समुद्घातकी अपेक्षा लोकके असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग, तथा सम्पूर्ण लोकप्रमाण भी होता है।

पोग्गलदव्वाणं पुण, एयपदेसादि होंति भजणिज्जा ।
एक्केक्को दु पदेसो, कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८५ ॥

पुद्गलद्रव्याणां पुनरेकप्रदेशादयो भवन्ति भजनीयाः ।
एकैकस्तु प्रदेशः कालाणूनां ध्रुवो भवति ॥ ५८५ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यका क्षेत्र एकप्रदेशसे लेकर यथासम्भव समझना चाहिये—जैसे परमाणुका एक प्रदेशप्रमाण ही क्षेत्र है, तथा द्व्यणुकका एक प्रदेश और दो प्रदेश भी क्षेत्र है, त्र्यणुकका एक प्रदेश दो प्रदेश तीन प्रदेश भी क्षेत्र है, इत्यादि। किन्तु एक एक कालाणुका क्षेत्र एक एक प्रदेश ही निश्चित है।

भावार्थ—कालद्रव्य अणुरूप ही है। कालाणुके पुद्गलद्रव्यकी तरह स्कन्ध नहीं होते। जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं, इसलिये रत्नराशिकी तरह एक एक कालाणु लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर ही सदा स्थित रहता है। तथा जो कालाणु जिस प्रदेशपर स्थित है वह उसी प्रदेशपर सदा स्थित रहता है। किन्तु पुद्गल द्रव्य स्कंध अवस्थाको भी प्राप्त होता है, अत. उसके अनेक प्रकारके क्षेत्र होते हैं।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा ।
लोगागासेव ठिदी, एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८६ ॥

संख्येयासंख्येयानन्ता वा भवन्ति पुद्गलप्रदेशाः ।
लोकाकाश एव स्थितिरेकप्रदेशोऽणोर्भवेत् ॥ ५८६ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध संख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके हैं, परन्तु उन सबकी स्थिति लोकाकाशमें ही हो जाती है; किन्तु एक अणु एक ही प्रदेशमें रहता है।

भावार्थ—जिस तरह जलसे अच्छी तरह भरे हुए पात्रमें लवण आदि कई पदार्थ आसकते हैं उसी तरह असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंतप्रदेशी स्कन्ध आदि भी समा सकते हैं।

लोगागासपदेसा, छद्दव्वेहिं फुडा सदा होंति ।
सव्वमलोगागासं, अण्णेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८७ ॥

लोकाकाशप्रदेशाः षड्द्रव्यैः स्फुटाः सदा भवन्ति ।
सर्वमलोकाशमन्यैर्विवर्जितं भवति ॥ ५८७ ॥

अर्थ—लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें छहों द्रव्य व्याप्त हैं और आलोकाकाश अकाशको छोड़कर शेष द्रव्योंसे सर्वथा रहित है।

॥ इति क्षेत्राधिकारः ॥

इस तरह क्षेत्र अधिकारका वर्णन करके संख्या अधिकारको कहते हैं—

जीवा अणंतसंखाणंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु।
धम्मतियं एक्केक्कं, लोगपदेसप्पमा कालो ॥ ५८८ ॥

जीवा अनन्तसंख्या अनन्तगुणाः पुद्गला हि ततस्तु।
धर्मत्रिकमेकैकं लोकप्रदेशप्रमः कालः ॥ ५८८ ॥

अर्थ—जीव द्रव्य अनन्त हैं। उससे अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। धर्म अधर्म आकाश ये एक एक द्रव्य हैं, क्योंकि ये प्रत्येक अखण्ड एक एक हैं। तथा लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं।

लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासी इव, ते कालाणू मुणेयव्वा[1] ॥ ५८९ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिता हि एकैके।
रत्नानां राशिरिव ते कालाणवो मन्तव्याः ॥ ५८९ ॥

अर्थ—वे कालाणु रत्नराशिकी तरह लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें एक-एक स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस तरह रत्नोंकी राशिमें प्रत्येक रत्न भिन्न-भिन्न स्थित है उसी तरह प्रत्येक कालाणु लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर भिन्न-भिन्न स्थित है, इसीलिये जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही असंख्यात कालद्रव्य हैं।

ववहारो पुण कालो, पोग्गलदव्वादणंतगुणमेत्तो।
तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंख्या ॥ ५९० ॥

व्यवहारः पुनः कालः पुद्गलद्रव्यादनन्तगुणमात्रः।
ततः अनन्तगुणिता आकाशप्रदेशपरिसंख्या ॥ ५९० ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके प्रमाणसे अनन्तगुणा व्यवहारकालका प्रमाण है। तथा व्यवहार कालके प्रमाणसे अनन्तगुणी आकाशके प्रदेशोंकी संख्या है।

लोगागासपदेसा, धम्माधम्मेगजीवगपदेसा।
सरिसा हु पदेसो पुण, परमाणुअवट्ठिदं खेत्तं ॥ ५९१ ॥

लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवगप्रदेशाः।
सदृशा हि प्रदेशः पुनः परमाण्ववस्थितं क्षेत्रम् ॥ ५९१ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, एक जीवद्रव्य तथा लोकाकाश, इनमेंसे प्रत्येककी प्रदेशसंख्या परस्परमें

१—द्रव्यसंग्रह गा, २२।

समान जगच्छ्रेणीके घनप्रमाण है और जितने क्षेत्रको एक पुद्गलका परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रको प्रदेश कहते हैं—

संख्याधिकारमें छहों द्रव्योंकी संख्या या द्रव्यप्रमाण बताकर क्रमानुसार स्थानस्वरूपाधिकारका वर्णन करते हैं—

सव्वमरूवी दव्वं, अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि ।
रूवी जीवा चलिया, तिवियप्पा होंति हु पदेसा ॥ ५९२ ॥

सर्वमरूपि द्रव्यमवस्थितमचलिताः प्रदेशा अपि ।
रूपिणो जीवाश्चलितास्त्रिकल्पा भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपी द्रव्य अवस्थित हैं। जहां स्थित हैं वहाँ ही सदा स्थित रहते हैं, तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते। किन्तु रूपी (संसारी) जीवद्रव्य चल हैं, सदा एक ही स्थानपर नहीं रहा करते तथा इनके प्रदेश भी तीन प्रकारके होते हैं।

भावार्थ—धर्म अधर्म आकाश काल और मुक्त जीव ये अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते, तथा एक स्थान पर ही रहते हुए भी इनके प्रदेश भी कभी सकम्प नहीं होते। किन्तु संसारी जीव अनवस्थित हैं और उनके प्रदेश भी तीन प्रकारके होते हैं। चल भी होते हैं; अचल भी होते हैं, तथा चलाचल भी होते हैं। विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रदेश चल ही होते हैं। और शेष जीवोंके प्रदेश चलाचल होते हैं। आठ मध्यप्रदेश अचल होते हैं और शेष प्रदेश चलित हैं।

पोग्गलदव्वम्हि अणू, संखेज्जादी हवंति चलिदा हु ।
चरिममहक्खंधम्मि य, चलाचला होंति हु पदेसा ॥ ५९३ ॥

पुद्गलद्रव्येऽणवः संख्यातादयो भवंति चलिता हि ।
चरममहास्कन्धे च चलाचला भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९३ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कन्ध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अन्तिम महास्कन्ध चलाचल है, क्योंकि उसमें कोई भाग चल है और कोई भाग अचल है।

परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्रव्यके तेईस भेदोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं—

अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहि अंतरिया ।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खंधा ॥ ५९४ ॥
सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तियदेहधुवसुण्णा ।
बादरणिगोदसुण्णा, सुहुमणिगोदा णभो महक्खंधा ॥ ५९५ ॥

अणुसंख्यासंख्यातानन्ताश्च अग्राह्यकाभिरन्तरिताः ।
आहारतेजोभाषामनःकार्मणा ध्रुवस्कन्धाः ॥ ५९४ ॥
सान्तरनिरन्तरया च शून्या प्रत्येकदेहध्रुवशून्याः ।
बादरनिगोदशून्याः सूक्ष्मनिगोदा नभो महास्कन्धाः ॥ ५९५ ॥

अर्थ—पुद्गलवर्गणाओंके[1] तेईस भेद हैं—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजसवर्गणा अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्य-वर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा।

इन वर्गणाओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद तथा इनका अल्पवहुत्व बताते हैं—

परमाणुवग्गणम्मि ण, अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि।
गेज्झमहक्खंधाणं वरमहियं सेसगं गुणियं ॥ ५९६ ॥

परमाणुवर्गणायां नावरोत्कृष्टं च शेषके अस्ति।
ग्राह्यमहास्कन्धानां वरमधिकं शेषकं गुणितम् ॥ ५९६ ॥

अर्थ—तेईस प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणामें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है। शेष बाइस जातिकी वर्गणाओंमें जघन्य उत्कृष्ट भेद हैं। तथा इन बाईस जातिकी वर्गणाओंमें भी आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा ये पांच ग्राह्यवर्गणा और एक महास्कन्ध वगणा इन छह वर्गणाओंके जघन्यसे उत्कृष्ट भेद प्रतिभागकी अपेक्षासे हैं। किन्तु शेष सोलह जाति की वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद गुणकारकी अपेक्षासे हैं।

पांच ग्राह्यर्गवर्गणाओंका तथा अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभाग का प्रमाण बताते हैं—

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठट्ठं।
पल्ला संखेज्जदिमं, अन्तिमखंधस्स जेट्ठट्ठं ॥ ५९७ ॥

सिद्धानन्तिमभागः प्रतिभागो ग्राह्याणां ज्येष्ठार्थम्।
पल्यासंख्येयमन्तिमस्कन्धस्य ज्येष्ठार्थम् ॥ ५९७ ॥

अर्थ—पांच ग्राह्य वर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिए प्रतिभागका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तवें भाग है और अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालने के लिए प्रतिभागका प्रमाण पल्यके असंख्यातवें भाग है।

भावार्थ—सिद्धराशिके अनंतवें भागका अपने-अपने जघन्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अपने अपने जघन्यमें मिलानेसे पाँच ग्राह्य वर्गणाओंके अपने अपने उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है और अन्तिम महास्कन्धके जघन्य भेदमें पल्यके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको जघन्यके प्रमाणमें मिलानेसे महास्कन्धके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है।

संखेज्जासंखेज्जे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते।
चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो ॥ ५९८ ॥

संख्यातासंख्यातायां गुणकारः स तु भवति हि अनन्तायाम्।
चतसृषु अग्राह्यास्वपि सिद्धानामनन्तिमो भागः ॥ ५९८ ॥

१. मूर्तिमत्सु पदार्थेषु संसारिण्यपि पुद्गलः अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणाः ॥

अर्थ—संख्याताणुवर्गणा और असंख्याताणुवर्गणामें गुणकारका प्रमाण अपने अपने उत्कृष्टमें अपने अपने जघन्यका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है। इस गुणाकारके साथ अपने अपने जघन्यका गुणा करनेसे अपना अपना उत्कृष्ट भेद निकलता है और अनन्ताणुवर्गणा तथा चार अग्राह्य वर्गणाओंके गुणकारका प्रमाण सिद्धराशिके अनंतवें भागमात्र है। इस गुणकारके साथ अपने अपने जघन्यका गुणा करनेसे अपना अपना उत्कृष्ट भेद निकलता है।

जीवादोणंतगुणो, धुवादितिण्हं असंखभागो दु।
पल्लस्स तदो तत्तो असंखलोगवहिदो मिच्छो ॥ ५९९ ॥

जीवादनन्तगुणो ध्रुवादितिसृणामसंख्यभागस्तु।
पल्यस्य ततस्ततः असंख्यलोकावहिता मिथ्या ॥ ५९९ ॥

अर्थ—ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा इन तीन वर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये गुणकारका प्रमाण जीवराशिसे अनन्तगुणा है, प्रत्येकशरीर वर्गणाका गुणकार पल्यके असंख्यातवें भाग है और ध्रुवशून्यवर्गणाका गुणकार, मिथ्यादृष्टि जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उतना है। इस गुणकारके साथ जघन्य भेदका गुणा करनेसे उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है।

सेढी सूई पल्ला, जगपदरा संखभागगुणगारा।
अप्पप्पणअवरादो, उक्कस्से होंति णियमेण ॥ ६०० ॥

श्रेणी सूची पल्यजगत्प्रतरासंख्यभागगुणकाराः।
आत्मात्मनोवराद्रुत्कृष्टे भवन्ति नियमेन ॥ ६०० ॥

अर्थ—बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा इन चार वर्गणाओंके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकालनेके लिये गुणकारका प्रमाण क्रमसे जगच्छ्रेणीका असंख्यातवाँ भाग, सूच्यंगुलका असंख्यातवाँ भाग, पल्यका असंख्यातवाँ भाग, जगत्प्रतरका असंख्यातवाँ भाग है। अपने अपने गुणकारके प्रमाणसे अपने अपने जघन्यका गुणा करनेसे अपने अपने उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है।

भावार्थ—यहाँ पर पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंका एक पंक्तिकी अपेक्षा वर्णन किया है। जिनको नानापंक्तिकी अपेक्षा इन वर्गणाओंका स्वरूप जानना हो वे बड़ी टीकामें देखलें। किसीभी वर्तमान एक कालमें उक्त तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन कौनसी वर्गणा कितनी-कितनी पाई जाती हैं इस अपेक्षाको लेकर जो वर्णन किया जाता है उसको नाना पंक्तिकी अपेक्षा वर्णन कहते हैं।

हेट्ठिमउक्कस्सं पुण रूवहियं उवरिमं जहण्णं खु।
इदि तेवीसवियप्पा, पुग्गलदव्वा हु जिणदिट्ठा ॥ ६०१ ॥

अधस्तनोत्कृष्टं पुनः रूपाधिकमुपरिमं जघन्यं खलु।
इति त्रयोविंशतिविकल्पानि पुद्गलद्रव्याणि हि जिनदिष्टानि ॥ ६०१ ॥

अर्थ—तेइस वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणाको छोड़कर शेष बाईस वर्गणाओंमें नीचेकी वर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे आगेकी वर्गणाके जघन्य भेदका प्रमाण होता है।

जैसे संख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे असंख्याताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है। और असंख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदमें एक मिलानेसे अनन्ताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है। इसी तरह आगे भी समझना। इसी क्रमसे पुद्गल स्कन्ध-द्रव्यके वाईस भेद होते हैं; किन्तु एक अणुवर्गणाको मिलानेसे पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद हो जाते हैं; यह जिनेन्द्रदेवने कहा है।

प्रकारान्तरसे होनेवाले पुद्गलद्रव्यके छह भेदोंके दृष्टान्त दिखाते हैं—

पुढवी जलं च छाया, चउरिंदियविसयकम्मपरमाणु।
छव्विहभेयं भणियं, पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं॥ ६०२॥

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणवः।
षड्विधभेदं भणितं पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः॥ ६०२॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यको जिनेन्द्रदेवने छह प्रकारका बताया है। जैसे—१ पृथ्वी, २ जल, ३ छाया, ४ नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंका विषय, ५, कर्म, ६ परमाणु।

इन छह भेदोंकी क्या २ संज्ञा है यह बताते हैं।

बादरबादर बादर, बादरसुहमं च सुहमथूलं च।
सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं॥ ६०३॥

बादरबादरं बादरं बादरसूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च।
सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति षड्भेदम्॥ ६०३॥

अर्थ—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म इस तरह पुद्गलद्रव्यके छह भेद हैं, जैसे उक्त पृथ्वी आदि।

भावार्थ—जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादरबादर कहते हैं, यथा पृथ्वी काष्ठ पाषाण आदि। जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादर कहते हैं, जैसे जल तैल आदि। जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण कुछ भी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको बादरसूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप, चांदनी आदि। नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषयभूत पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं, जैसे शब्द गन्ध रस आदि। जिसका किसी इन्द्रियके द्वारा ग्रहण न हो सके उस पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्म कहते हैं, जैसे कर्म। जो स्कन्धरूप नहीं है ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओंको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं।

खंधं सयलसमत्थं, तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी चेव परमाणू॥ ६०४॥

स्कन्धं सकलसमर्थं तस्य चार्धं भणन्ति देशमिति।
अर्द्धार्द्धं च प्रदेशमविभागिनं चैव परमाणुम्॥ ६०४॥

अर्थ—जो सर्वांशमें पूर्ण है उसको स्कन्ध कहते हैं। उसके आधेको देश और आधेके आधेको प्रदेश कहते हैं। जो अविभागी है उसको परमाणु कहते हैं।

॥ इति स्थानस्वरूपाधिकारः॥

०

क्रमप्राप्त फलाधिकारको कहते हैं—

गदिठाणोग्गहकिरियासाधणभूदं खु होदि धम्मतियं।
वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु॥ ६०५॥

गतिस्थानावगाहक्रियासाधनभूतं खलु भवति धर्मत्रयम्।
वर्तनाक्रियासाधनभूतो नियमेन कालस्तु॥ ६०५॥

अर्थ—गति, स्थिति अवगाह इन क्रियाओंके साधन क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य हैं। और वर्तना क्रियाका साधन काल द्रव्य है।

भावार्थ—क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्तिकी कारणभूत जीव पुद्गलकी पर्यायविशेषको गति कहते हैं। इस गतिक्रियाका साधन (उदासीन निमित्त) धर्मद्रव्य है। जैसे जलमें मछलियोंकी गतिक्रिया जलके निमित्तसे होती है। जल मछलियोंको गमन करनेके लिये प्रेरित नहीं करता। यदि वे गमन करती हैं तो वह गतिमें सहायक अवश्य होता है। जलकी सहायताके विना वे गमन नहीं कर सकतीं। इसी प्रकार धर्म द्रव्यकी सहायताके विना जीव और पुद्गल गमन नहीं कर सकते। गति-विरुद्ध पर्यायको स्थिति कहते हैं। यह पर्याय भी जीव पुद्गलकी होती है तथा यह स्थितिक्रिया अधर्मद्रव्यके निमित्तसे ही होती है। जैसे पथिकोंको ठहरनेमें उदासीन निमित्त छाया हुआ करती है। कहीं पर भी रहनेको अवगाह कहते हैं। यह अवगाहक्रिया आकाशद्रव्यके निमित्तसे ही होती है। तथा प्रत्येक पदार्थकी वर्तना क्रिया कालद्रव्यके निमित्तसे ही होती है। किसी भी पदार्थकी वर्तना क्रिया कालद्रव्यके निमित्तके विना नहीं हो सकती।

शंका—सूक्ष्म पुद्गलादिक भी एक दूसरेको अवकाश देते हैं, इसलिये अवगाहहेतुत्व आकाश का ही असाधारण लक्षण क्यों कहा ? **समाधान**—यद्यपि सूक्ष्म पुद्गलादिक एक दूसरेको अवगाह देते हैं तथापि ये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह नहीं दे सकते। समस्त द्रव्योंको युगपत् अवगाह देनेकी सामर्थ्य आकाशमें ही है। इसलिये आकाशका ही अवगाहहेतुत्व यह लक्षण असाधारण और युक्त है। यद्यपि अलोकाकाश किसी द्रव्यको अवगाह नहीं देता, तथापि उसका अवगाह देनेका स्वभाव वहां पर भी है। किन्तु धर्मद्रव्यका निमित्त न मिलनेसे जीवादि अवगाह्य पदार्थ अलोकाकाशमें गमन नहीं करते इसलिए अलोकाकाश किसीको अवगाह नहीं देता। इस तरह अवगाह्य जीव पुद्गलके वहां न रहने पर आकाशके अवगाहन स्वभावका वहां अभाव नहीं माना जा सकता। आकाशद्रव्य एक अखण्ड है उसका जो स्वभाव यहां है वही वहां है।

जीव और पुद्गलका उपकार—फल वताते हैं।

अण्णोण्णुवयारेण य, जीवा वट्टंति पुग्गलाणि पुणो।
देहादीणिव्वत्तणकारणभूदा हु णियमेण॥ ६०६॥

अन्योन्योपकारेण च जीवा वर्तन्ते पुद्गलाः पुनः।
देहादिनिर्वर्तनकारणभूता हि नियमेन॥ ६०६॥

अर्थ—जीव परस्परमें उपकार करते हैं। जैसे सेवक स्वामीकी हितसिद्धिमें प्रवृत्त होता है, स्वामी सेवकको धनादि देकर संतुष्ट करता है। तथा पुद्गल शरीरादि उत्पन्न करनेमें कारण है।

भावार्थ—शरीर इन्द्रिय मन श्वासोच्छ्वास भाषा आदिके द्वारा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है तथा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है। यही नहीं किन्तु परस्परमें भी उपकार करता है। जैसे शास्त्रका उपकार गत्ता वेष्टन आदि करते हैं और कांसे आदिके वर्तनोंको शुद्ध करके भस्म उनका उपकार करती है इत्यादि। यहां पर चकारका ग्रहण किया है, इसलिये जिस तरह परस्परमें या एक दूसरेका जीव पुद्गल उपकार करते हैं उस तरह अपकार भी करते हैं क्योंकि द्रव्योंके फल निर्देशमें अच्छे या वुरेका भेद नहीं है।

इसी अर्थको दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं—

आहारवग्गणादो तिण्णि, सरीराणि होंति उस्सासो।
णिस्सासो वि य तेजोवग्गणखंधादु तेजंगं ॥ ६०७ ॥

आहारवर्गणातः त्रीणि शरीराणि भवन्ति उच्छ्वासः।
निश्वासोपि च तेजोवर्गणास्कन्धात्तु तेजोऽङ्गम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ—तेईस जातिकी वर्गणाओंमेंसे आहारवर्गणाके द्वारा औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं तथा तेजोवर्गणारूप स्कन्धके द्वारा तैजस शरीर बनता है।

भासमणवग्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो।
अट्ठविहकम्मदव्वं होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६०८ ॥

भाषामनोवर्गणातः क्रमेण भाषा मनश्च कार्मणतः।
अष्टविधकर्मद्रव्यं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६०८ ॥

अर्थ—भाषावर्गणाके द्वारा चार प्रकारका वचन, मनोवर्गणाके द्वारा हृदयस्थानमें अष्ट दल कमलके आकार द्रव्यमन, तथा कार्मण वर्गणाके द्वारा आठ प्रकारके कर्म बनते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

अविभागी पुद्गल परमाणु स्कन्धरूपमें किस तरह परिणत होते हैं, इसका कारण बताते हैं—

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी।
संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धलुक्खगुणा ॥ ६०९ ॥

स्निग्धत्वं रूक्षत्वं बन्धस्य च[1] कारणं तु एकादयः।
संख्येयासंख्येयानन्तविधा स्निग्धरूक्षगुणाः ॥ ६०९ ॥

अर्थ—बन्धका कारण स्निग्धत्व और रूक्षत्व[2] है। इस स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणके एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं।

भावार्थ—एक किसी गुणविशेषकी स्निग्धत्व और रूक्षत्व ये दो पर्याय हैं। ये ही बन्धके कारण हैं। इन पर्यायोंके अविभागप्रतिच्छेदोंकी (शक्तिके निरंश अंश) अपेक्षा एकसे लेकर संख्यात

---

१. ते स्निग्धत्वरूक्षत्वे द्व्यणुकादिपर्यायपरिणमनरूपबंधस्य, च शब्दाद्विश्लेषस्य च कारणे भवतः।
२. स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः। त सू० अ० ५–३३।

असंख्यात अनंत भेद हैं। जैसे स्निग्ध पर्यायके एक अंश दो अंश तीन अंश इत्यादि एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंश होते हैं और इन्हींकी अपेक्षा एकसे लेकर अनन्त तक भेद होते हैं। उस ही तरह रूक्षत्व पर्यायके एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त अंशोंकी अपेक्षा एकसे लेकर अनन्त तक भेद होते हैं। अथवा बन्ध कमसे कम दो परमाणुओंमें होता है। सो ये दोनों परमाणु स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों या एक स्निग्ध एक रूक्ष हो परन्तु बन्ध हो सकता है। जिस तरह दो परमाणुओंमें बन्ध होता है उस ही तरह संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणुओंमें भी बन्ध हो सकता है; क्योंकि बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व है।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं—

एगगुणं तु जहण्णं णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ- ।
संखेज्जाणंतगुणं, होदि तहा रुक्खभावं च ॥ ६१० ॥

एकगुणं तु जघन्यं स्निग्धत्वं द्विगुणत्रिगुणसंख्येयाऽ- ।
संख्येयानन्तगुणं भवति तथा रूक्षभावं च ॥ ६१० ॥

अर्थ—स्निग्धत्वका जो एक निरंश अंश है उसको ही जघन्य कहते हैं। इसके आगे स्निग्धत्वके दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनन्त अंशरूप भेद होते हैं। इस ही तरह रूक्षत्वके भी एक अंशको जघन्य कहते हैं और इसके आगे भी दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनन्त अंशरूप भेद होते हैं।

एवं गुणसंजुत्ता, परमाणू आदिवग्गणम्मि ठिया ।
जोग्गदुगाणं बंधे, दोण्हं बंधो हवे णियम ॥ ६११ ॥

एवं गुणसंयुक्ताः परमाणव आदिवर्गणायां स्थिताः ।
योग्यद्विकयोः बंधे द्वयोर्बन्धो भवेन्नियमात् ॥ ६११ ॥

अर्थ—इस प्रकारके स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त परमाणु अणुवर्गणामें ही हैं। इसके आगे दो आदि परमाणुओंका बन्ध होता है, परन्तु यह दोका बन्ध भी तब ही होता है जब कि दोनों नियमसे बन्धके योग्य हों।

जब कि सामान्यसे बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व बता दिया तब उसमें योग्यता और अयोग्यता क्या है ? यह बताते हैं—

णिद्धणिद्धा ण बज्झंति, रुक्खरुक्खा य पोग्गला ।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति, रूवारूवी य पोग्गला ॥ ६१२ ॥

स्निग्धस्निधा न बध्यन्ते रूक्षरूक्षाश्च पुद्गलाः ।
स्निग्धरूक्षाश्च बध्यन्ते रूप्यरूपिणश्च पुद्गलाः ॥ ६१२ ॥

अर्थ—स्निग्ध स्निग्ध पुद्गलका और रूक्ष रूक्ष पुद्गलका परस्परमें बन्ध नहीं होता। किन्तु स्निग्ध रूक्ष और रूपी अरूपी पुद्गलोंका परस्परमें बन्ध होता है।

भावार्थ—यद्यपि यहाँपर यह कहा है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका बन्ध नहीं होता। तथापि यह कथन सामान्य है; क्योंकि आगे चलकर विशेष कथनके द्वारा स्वयं ग्रन्थकार इस

बातको स्पष्ट कर देंगे कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है। और इस ही लिये यहाँपर रूपी अरूपीका बन्ध होता है ऐसा कहा है। यथा—

रूपी अरूपी संज्ञा किसकी है यह बताते हैं—

णिद्धिदरोलीमज्झे, विसरिसजादिस्स समगुण[1] एक्कं।
रूवि त्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवि त्ति ॥ ६१३ ॥

स्निग्धेतरावलीमध्ये विसदृशजातेः समगुणः एकः।
रूपीति भवति संज्ञा शेषाणां ते अरूपिण इति ॥ ६१४ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणियोंमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है उसकी रूपी संज्ञा है और समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है।

भावार्थ—जब कि विसदृश जातिके एक समगुणकी ही रूपी संज्ञा है और शेषकी अरूपी, और रूपी अरूपीका बन्ध होता है, तब यह सिद्ध है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है। स्निग्धकी अपेक्षा रूक्ष और रूक्षकी अपेक्षा स्निग्ध विसदृश जाति है।

रूपी अरूपीका उदाहरण दिखाते हैं—

दोगुणणिद्धाणुस्स य, दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी।
इगितिगुणादि अरूवी, रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे ॥ ६१४ ॥

द्विगुणस्निग्धाणोश्च द्विगुणरूक्षाणुको भवेत् रूपी।
एकत्रिगुणादिः अरूपी रूक्षस्यापि तद्वदिति जानीहि ॥ ६१४ ॥

अर्थ—स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दोगुण युक्त परमाणु रूपी है शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं। इस ही तरह रूक्षका भी समझना चाहिये।

भावार्थ—रूक्षके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणु रूपी है और शेष एक तीन आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं।

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण[2]।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो, जहण्णवज्जे[3] विसमे समे[4] वा ॥६१५॥

स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्यधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्यधिकेन।
स्निग्धस्य रूक्षेण भवेद्बन्धो जघन्यवर्ज्ये विषमे समे वा ॥ ६१५ ॥

अर्थ—एक स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुण अधिक स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध होता है। एक रूक्ष परमाणुका दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध होता है।

---

१. गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ त. सू. अ. ५–३५।
२. द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ त. सू अ. ५–३६ ॥
३. न जघन्यगुणानाम् ॥ त. सू. अ ५–३४ ॥
४. यद्येवं सदृशग्रहणं किमर्थं ? गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते ॥ स' स. ५-३५ ॥

एक स्निग्ध परमाणुका दूसरे दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ भी बन्ध होता है। सम विषम दोनोंका बन्ध होता है, किन्तु जघन्य गुणवालेका बन्ध नहीं होता।

भावार्थ—एक गुणावालेका तीन गुणावाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता। शेष स्निग्ध या रूक्ष दोनों जातिके परमाणुओंका समधारा या विषमधारामें दो गुण अधिक होनेपर बन्ध होता है। दो चार छह आठ दश इत्यादि जहाँ पर दोके ऊपर दो दो अंशोंकी अधिकता हो उसको समधारा कहते हैं, तीन पाँच सात नौ ग्यारह इत्यादि जहाँ पर तीनके ऊपर दो-दो अंशोंकी वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं। इन दोनों धाराओंमें जघन्य गुणको छोड़कर दो गुण अधिकका ही बन्ध होता है, औरका नहीं।

णिद्धिदरे समविसमा, दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति।
उभयेवि य समविसमा, सरिसिदरा होंति पत्तेयं ॥ ६१६ ॥

स्निग्धेतरयोः समविषमा द्वित्रिकादयः द्व्युत्तरा भवन्ति।
उभयेऽपि च समविषमाः सदृशेतरे भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ६१६ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्ष दोनोंमें ही दो गुणके ऊपर जहाँ दो-दोकी वृद्धि हो वहाँ समधारा होती है और जहाँ तीन गुणके ऊपर दो-दोकी वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं। सो स्निग्ध और रूक्ष दोनोंमें ही दोनों ही धारा होती हैं। तथा प्रत्येक धारामें रूपी और अरूपी[1] होते हैं।

इस ही अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं—

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसुणंतरदुगाण बंधो दु।
णिद्धे लुक्खे वि तहा वि जहण्णुभये वि सव्वत्थ ॥ ६१७ ॥

द्वित्रिकप्रभवद्व्युत्तरगतेष्वनन्तरद्विकयोः बन्धस्तु।
स्निग्धे रूक्षे पि तथापि जघन्योभयेऽपि सर्वत्र ॥ ६१७ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुणमें समधारामें दो अंशोंके आगे दो-दो अंशोंकी वृद्धि होती है। और विषमधारामें तीनके आगे दो-दोकी वृद्धि होती है। सो इन दोनोंमें ही अनन्तरद्विकका बन्ध होता है। जैसे दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्षका चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ तथा तीन गुणवाले स्निग्ध या रूक्षका पाँच गुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ बन्ध होता है। इस तरह आगे भी समझना चाहिये। किन्तु जघन्यका बन्ध नहीं होता। दूसरी सब जगह स्निग्ध और रूक्षमें बन्ध होता है।

भावार्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त जिन दो पुद्गलोंमें बन्ध होता है उनसे स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंमें दो अंशोंका अन्तर होना चाहिए। जैसे दो चार, तीन पाँच, चार छह, पांच सात इत्यादि इस तरह दो अंश अधिक रहनेपर सर्वत्र बन्ध होता है। इस नियमके अनुसार एक गुणवाले और तीन गुणवालोंका भी बन्ध होना चाहिये, किन्तु इनमें बन्ध नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जघन्य गुणवालेका बन्ध नहीं होता। अतएव एक गुणवालेका तीन गुणवालेके साथ बंध नहीं होता; किन्तु तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ बन्ध हो सकता है; क्योंकि तीन गुणवाला जघन्य गुणवाला नहीं है, एक गुणवालेको ही जघन्य गुणवाला कहते हैं।

---

१. रूपीका बन्ध नहीं होता, अरूपियोंका स्वस्थानमें और परस्थानमें भी बन्ध होता है। जी. प्र.।

णिद्धिदरवरगुणाणू, सपरट्ठाणे वि णेदि बंधट्ठं ।
बहिरंतरंगहेदुहि, गुणंतरं संगदे एदि ॥ ६१८ ॥

स्निग्धेतरावरगुणाणुः स्वपरस्थानेऽपि नैति बन्धार्थम् ।
बहिरंतरंगहेतुभिर्गुणान्तरं संगते एति ॥ ६१८ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्षका जघन्य गुणवाला परमाणु स्वस्थान या परस्थान कहीं भी बन्धको प्राप्त नहीं होता। किन्तु बाह्य और अन्तरंग कारणके निमित्तसे किसी दूसरे गुणवाला-अंशवाला होनेपर बन्धको प्राप्त होता है।

भावार्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुणका जब एक अंश-अविभागप्रतिच्छेदरूप परिणमन होता है तब उसका न तो स्वस्थानमें ही बन्ध हो सकता है या होता है और न परस्थानमें बन्ध होता है। किन्तु बाह्य अभ्यन्तर कारणके मिलनेपर जब जघन्य स्थानको छोड़कर अधिक अंशरूप परिणमन हो जाय तब वे हो स्निग्ध रूक्ष गुण बन्धको प्राप्त हो सकते हैं।

णिद्धिदरगुणा अहिया, हीणं परिणामयंति बंधम्मि ।
संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं ॥ ६१९ ॥

स्निग्धेतरगुणा अधिका हीनं परिणामयंति बन्धे[1] ।
संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम् ॥ ६१९ ॥

अर्थ—संख्यात असंख्यात अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कन्ध अपनेसे हीनगुणवाले परमाणु या स्कन्धोंको अपनेरूप परणमाते हैं। जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणुको या स्कन्धको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कन्ध अपने स्वरूप परणमा लेता है। इसी तरह अन्यत्र भी सर्वत्र समझना चाहिए।

॥ इति फलाधिकारः ॥

o

इस तरह सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्योंका वर्णन करके अब पंचास्तिकायका वर्णन करते हैं—

दव्वं छक्कमकालं, पंचत्थीकायसण्णिदं होदि ।[2]
काले पदेसपचयो, जम्हा णत्थि त्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६२० ॥

द्रव्यं षट्कमकालं पञ्चास्तिकायसंज्ञितं भवति ।
काले प्रदेशप्रचयो यस्मात् नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६२० ॥

अर्थ—कालमें प्रदेशप्रचय नहीं है, इसलिए कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं।

---

१. बंधेऽधिको पारणामिकौ च ॥ त. सू ५–३७ ।
२. उत्तं कालविजुत्तं णायव्वा पंच अत्थिकाया दु. ॥ २३ ॥ द्र. स. ।

भावार्थ—जो सद्रूप हो उसको अस्ति कहते हैं और जिनके प्रदेश अनेक हों उनको काय कहते हैं। काय दो प्रकारके होते हैं—एक मुख्य दूसरा उपचरित। जो अखण्डप्रदेशी हैं-अखण्डितानेक प्रदेशरूप हैं उन द्रव्योंको मुख्य काय कहते हैं। जैसे जीव धर्म अधर्म आकाश। जिनके प्रदेश तो खण्डित पृथक्-पृथक् हों अर्थात् जो स्वभावसे तो खंडैकदेशरूप हों किन्तु स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे परस्परमें बन्धको प्राप्त होकर जिनमें एकत्व हो गया हो, अथवा बन्ध होकर एकत्वको प्राप्त होनेकी जिनमें सम्भावना हो उनको उपचरित काय कहते हैं, जैसे पुद्गल। किन्तु कालद्रव्यमें ये दोनों ही बातें नहीं हैं। वह स्वयं अनेकप्रदेशी न होनेसे मुख्य काय भी नहीं है और स्निग्ध रूक्ष गुण न होनेसे बंधको प्राप्त होकर एकत्वकी भी उनमें सम्भावना नहीं है, इसलिये वह (काल) उपचरित काय भी नहीं है। अतः कालद्रव्यको छोड़कर शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश इन पाँच द्रव्योंको ही पंचास्तिकाय कहते हैं और कालद्रव्यको कायरूप नहीं किन्तु अस्तिरूप कहते हैं।

नव पदार्थोंको बताते हैं—

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंति त्ति ॥ ६२१ ॥

नव च पदार्था जीवाजीवा: तेषां च पुण्यपापद्विकम्।
आस्रवसंवरनिर्जराबन्धा मोक्षश्च भवन्तीति ॥ ६२१ ॥

अर्थ—मूलमें जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं दोनों हीके पुण्य और पाप ये दो-दो भेद हैं। इसलिये चार पदार्थ हुए। तथा जीव और अजीवके ही आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष ये पांच भेद भी होते हैं, इसलिये सब मिलाकर नव पदार्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—जिसमें ज्ञान-दर्शनरूप चेतना पाई जाय उसको जीव कहते हैं। जिसमें चेतना न हो उसको अजीव कहते हैं। अचेतन जिनबिम्ब आदि आयतनोंको पुण्य अजीव तथा अचेतन अनायतनों आदिको पाप अजीव कहते हैं। अथवा शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं। अकर्मके कर्मरूप होनेको अथवा जीवके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं उन मिथ्यात्वादिरूप परिणामोंको या मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दको, अथवा बन्धके कारणोंको आस्रव कहते हैं। अनेक पदार्थोंमें एकत्वबुद्धिके उत्पादक सम्बन्धविशेषको अथवा आत्मा और कर्मके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धविशेषको या इसके कारणभूत जीवके परिणामोंको बन्ध कहते हैं। आस्रवके निरोधको संवर[1] कहते हैं। बद्ध कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे समस्त कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। ये ही नव पदार्थ हैं।

जीव द्रव्यके पुण्य और पाप भेद किस तरह होते हैं यह बताते हैं—

जीवदुगं उत्तट्ठं, जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वदसहिदा वि य पावा, तव्विवरीया हवंति त्ति ॥ ६२२ ॥

---

१. संवर निर्जरा और मोक्ष इनके भी द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। देखो द्रव्यसंग्रह गाथा नं. ३४, ३६, ३७। तथा समयसार गाथा नं. १३ की टीका आदि।

भावार्थ—जो सद्रूप हो उसको अस्ति कहते हैं और जिनके प्रदेश अनेक हों उनको काय कहते हैं। काय दो प्रकारके होते हैं—एक मुख्य दूसरा उपचरित। जो अखण्डप्रदेशी हैं-अखण्डितानेक प्रदेशरूप हैं उन द्रव्योंको मुख्य काय कहते हैं। जैसे जीव धर्म अधर्म आकाश। जिनके प्रदेश तो खण्डित पृथक्-पृथक् हों अर्थात् जो स्वभावसे तो खंडैकदेशरूप हों किन्तु स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे परस्परमें बन्धको प्राप्त होकर जिनमें एकत्व हो गया हो, अथवा बन्ध होकर एकत्वको प्राप्त होनेकी जिनमें सम्भावना हो उनको उपचरित काय कहते हैं, जैसे पुद्गल। किन्तु कालद्रव्यमें ये दोनों ही बातें नहीं हैं। वह स्वयं अनेकप्रदेशी न होनेसे मुख्य काय भी नहीं है और स्निग्ध रूक्ष गुण न होनेसे बंधको प्राप्त होकर एकत्वकी भी उनमें सम्भावना नहीं है, इसलिये वह (काल) उपचरित काय भी नहीं है। अतः कालद्रव्यको छोड़कर शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश इन पाँच द्रव्योंको ही पंचास्तिकाय कहते हैं और कालद्रव्यको कायरूप नहीं किन्तु अस्तिरूप कहते हैं।

नव पदार्थोंको बताते हैं—

णव य पदत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं।
आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होंति त्ति॥ ६२१॥

नव च पदार्था जीवाजीवाः तेषां च पुण्यपापद्विकम्।
आस्रवसंवरनिर्जराबन्धा मोक्षश्च भवन्तीति॥ ६२१॥

अर्थ—मूलमें जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं दोनों हीके पुण्य और पाप ये दो-दो भेद हैं। इसलिये चार पदार्थ हुए। तथा जीव और अजीवके ही आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष ये पांच भेद भी होते हैं, इसलिये सब मिलाकर नव पदार्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—जिसमें ज्ञान-दर्शनरूप चेतना पाई जाय उसको जीव कहते हैं। जिसमें चेतना न हो उसको अजीव कहते हैं। अचेतन जिनबिम्ब आदि आयतनोंको पुण्य अजीव तथा अचेतन अनायतनों आदिको पाप अजीव कहते हैं। अथवा शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं। अकर्मके कर्मरूप होनेको अथवा जीवके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं उन मिथ्यात्वादिरूप परिणामोंको या मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दको, अथवा बन्धके कारणोंको आस्रव कहते हैं। अनेक पदार्थोंमें एकत्वबुद्धिके उत्पादक सम्बन्धविशेषको अथवा आत्मा और कर्मके एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धविशेषको या इसके कारणभूत जीवके परिणामोंको बन्ध कहते हैं। आस्रवके निरोधको संवर[1] कहते हैं। बद्ध कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे समस्त कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं। ये ही नव पदार्थ हैं।

जीव द्रव्यके पुण्य और पाप भेद किस तरह होते हैं यह बताते हैं—

जीवदुगं उत्तट्ठं, जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा।
वदसहिदा वि य पावा, तव्विवरीया हवंति त्ति॥ ६२२॥

---

१. संवर निर्जरा और मोक्ष इनके भी द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो-दो भेद हैं। देखो द्रव्यसंग्रह गाथा न. ३४, ३६, ३७। तथा समयसार गाथा नं. १३ की टीका आदि।

अर्थ—अंतरायरहित-निरन्तर आठ समयपर्यन्त क्षपकश्रेणि माड़नेवाले जीव अधिकसे अधिक, पूर्वोक्त आठ समयोंमें होनेवाले उपशमश्रेणीवालोंसे दूने होते हैं। इनमेंसे प्रथम समयमें ३२, दूसरे समयमें ४८, तीसरे समयमें ६०, चतुर्थ समयमें ७२, पांचवें समयमें ८८, छट्ठे समयमें ९६, सातवें समयमें १०८, आठवें समयमें १०८ होते हैं।

अट्ठेव सयसहस्सा, अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं।
संखा जोगिजिणाणं, पंचसयविउत्तरं वंदे[1] ॥ ६२९ ॥

अष्टैव शतसहस्राणि अष्टानवतिस्तथा सहस्राणाम्।
संख्या योगिजिनानां पंचशतद्व्युत्तरं वन्दे ॥ ६२९ ॥

अर्थ—सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो है। इनको मैं सदाकाल वन्दना करता हूं।

भावार्थ—निरंतर आठ समयोंमें एकत्रित होनेवाले सयोगी जिनोंकी संख्या दूसरे आचार्यकी अपेक्षासे इस प्रकार[2] कही है कि "छसु सुद्धसमयेसु तिण्णि तिण्णि जीवा केवलमुप्पाययंति, दोसु समयेसु दो दो जीवा केवलमुप्पाययंति एवमट्ठसमयसंचिदजीवा बावीसा[3] हवंति"। अर्थात् आठ समयोंमेंसे छह समयोंमें प्रतिसमय तीन तीन जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं और दो समयोंमें दो दो जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। इस तरह आठ समयोंमें बाईस सयोगी जिन होते हैं।

जब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें छह महीनाका अंतराल होता है तब अन्तरालके अनन्तर

त्रैराशिकषट्कयंत्र

नं.	प्रमाणराशि	फलराशि	इच्छाराशि	लब्धराशि
१	केवली २२	काल— ६ महीना ८ समय	केवली ८९८५०२	काल ४०८४१ मा. ६ स ८. गुणित
२	काल— ६ माह ८ समय	समय ८	काल ४०८४१ माह ६ समय ८ गुणित	समय ३२६७२८
३	समय ८	[4]केवली २२	समय ३२६७२८	केवली ८९८५०२
४	समय ८	[5]केवली ४४	समय ३२६७२८ ÷ २	८९८५०२
५	समय ८	[6]केवली ८८	समय ३२६७२८ ÷ ४	८९८५०२
६	समय ८	केवली १७६	समय ३२६७२८ ÷ ८	८९८५०२

१. षट् ख. गाथा नं. ४८।
२. जी. प्र. टीका।
३. देखो षट्. खं. ३ पृ. ९५, ९६।
४. ५. ६. देखो षट्. खं. ३ पृ. ९७।

छह महीना आठ समयोंमेंसे केवल निरन्तर आठ समयोंमें ही बाईस केवली होते हैं। इसके कथनमें छह प्रकारका त्रैराशिक[1] होता है। प्रथम यह कि जब छह महीना आठ समयमात्र बाईस केवली होते हैं तब आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो केवली कितने कालमें. इसमें चालीस हजार आठसौ इकतालिसको छह महीना आठ समयोंसे गुणा करनेपर जो कालका प्रमाण लब्ध आवे वही उत्तर होगा। दूसरा छह महीना आठ समयोंमें निरंतर केवलज्ञान उत्पन्न होनेका काल आठ समय है तब पूर्वोक्तप्रमाण कालमें कितने समय होंगे। इसका उत्तर तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अट्ठाईस है। तथा दूसरे आचार्योंके मतकी अपेक्षा आठ समयोंमें बाईस या चवालीस या अठासी या एकसौ छिहत्तर जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। तब पूर्वोक्त समयप्रमाणमें या उसके आधेमें या चतुर्थांशमें या अष्टमांशमें कितने जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करेंगे। इन चार प्रकारके त्रैराशिकोंका उत्तर आठ लाख अठानवें हजार पांचसौ दो होता है।

क्षपक तथा उपशमक जीवोंकी युगपत् संभवती विशेष संख्याको तीन गाथाओंमें कहते हैं—

होंति खवा इगिसमये, बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।
उक्कस्सेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा ॥ ६३० ॥
पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा ।
दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो ॥ ६३१ ॥
जेट्ठावरबहुमज्झिम, ओगाहणगा दु चारि अट्ठेव ।
जुगवं हवंति खवगा, उवसमगा अद्धमेदेसिं ॥६३२॥ विसेसयं[2] ।

भवन्ति क्षपका एकसमये बोधितबुद्धाश्च पुरुषवेदाश्च ।
उत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतप्रमाः स्वर्गतश्च च्युताः ॥ ६३० ॥
प्रत्येकबुद्धतीर्थकरस्त्रीनपुंसकमनोवधिज्ञानयुताः ।
दशषट्कविंशतिदशविंशत्यष्टाविंशो यथाक्रमशः ॥ ६३१ ॥
ज्येष्ठावरबहुमध्यमावगाहा द्वौ चत्वारोऽष्टैव ।
युगपत् भवन्ति क्षपका उपशमका अर्धमेतेषाम् ॥ ६३२ ॥ विशेषकम् ॥

अर्थ—युगपत्—एक समयमें क्षपकश्रेणिवाले जीव अधिकसे अधिक होते हैं तो कितने होते हैं ? उत्तर—इसका प्रमाण इस प्रकार है कि बोधितबुद्ध एकसौ आठ, पुरुषवेदी एकसौ आठ, स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि माड़नेवाले एकसौ आठ, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिके धारक दश, तीर्थंकर छह, स्त्रीवेदी वीस, नपुंसकवेदी दश, मनःपर्ययज्ञानी वीस, अवधिज्ञानी अट्ठाईस, मुक्त होनेके योग्य शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक दो, जघन्य अवगाहनाके धारक चार, समस्त अवगाहनाओंकी मध्यवर्ती अवगाहनाके धारक आठ। ये सब मिलकर चारसौ बत्तीस होते हैं। उपशमश्रेणिवाले इसके आधे (२१६) होते हैं।[3]

१. इसका यंत्र पृ. २८० पर है।
२. द्वाभ्यां युग्ममितिप्रोक्तं त्रिभिःस्यात्तु विशेषकम् । कालापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥
३. षट्. खं. ३ गाथा नं. ५१ का पूर्वार्ध, तथा गा. नं. ६३०, ६३१, के लिये षट् खं. ५ के पृ. क्रमसे ३०४ ३११, ३२३ और ३०७, ३२०, ३२३।

अर्थ—अंतरायरहित-निरन्तर आठ समयपर्यन्त क्षपकश्रेणि माड़नेवाले जीव अधिकसे अधिक, पूर्वोक्त आठ समयोंमें होनेवाले उपशमश्रेणीवालोंसे दूने होते हैं। इनमेंसे प्रथम समयमें ३२, दूसरे समयमें ४८, तीसरे समयमें ६०, चतुर्थ समयमें ७२, पांचवें समयमें ८४, छट्ठे समयमें ९६, सातवें समयमें १०८, आठवें समयमें १०८ होते हैं।

अट्ठेव सयसहस्सा, अट्ठाणउदी तहा सहस्साणं।
संखा जोगिजिणाणं, पंचसयविउत्तरं वंदे[1] ॥ ६२९ ॥

अष्टैव शतसहस्राणि अष्टानवतिस्तथा सहस्राणाम्।
संख्या योगिजिनानां पंचशतद्व्युत्तरं वन्दे ॥ ६२९ ॥

अर्थ—सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो है। इनकी मैं सदाकाल वन्दना करता हूँ।

भावार्थ—निरंतर आठ समयोंमें एकत्रित होनेवाले सयोगी जिनोंकी संख्या दूसरे आचार्यकी अपेक्षासे इस प्रकार[2] कही है कि "छसु सुद्धसमयेसु तिण्णि तिण्णि जीवा केवलमुप्पाययंति, दोसु समयेसु दो दो जीवा केवलमुप्पाययंति एवमट्ठसमयसंचिदजीवा बावीसा[3] हवंति"। अर्थात् आठ समयोंमेंसे छह समयोंमें प्रतिसमय तीन तीन जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं और दो समयोंमें दो दो जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। इस तरह आठ समयोंमें बाईस सयोगी जिन होते हैं।

जब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें छह महीनाका अंतराल होता है तब अन्तरालके अनन्तर

त्रैराशिकषट्कयंत्र

नं	प्रमाणराशि	फलराशि	इच्छाराशि	लब्धराशि
१	केवली २२	काल— ६ महीना ८ समय	केवली ८९८५०२	काल ४०८४१ मा. ६ स ८. गुणित
२	काल— ६ माह ८ समय	समय ८	काल ४०८४१ माह ६ समय ८ गुणित	समय ३२६७२८
३	समय ८	[4]केवली २२	समय ३२६७२८	केवली ८९८५०२
४	समय ८	[5]केवली ४४	समय ३२६७२८ ÷ २	८९८५०२
५	समय ८	[6]केवली ८८	समय ३२६७२८ ÷ ४	८९८५०२
६	समय ८	केवली १७६	समय ३२६७२८ ÷ ८	८९८५०२

१. पट् खं. गाथा नं. ४८।
२. जी. प्र. टीका।
३. देखो पट्. खं. ३ पृ. ९५, ९६।
४. ५. ६. देखो पट्. खं. ३ पृ. ९७।

छह महीना आठ समयोंमेंसे केवल निरन्तर आठ समयोंमें ही बाईस केवली होते हैं। इसके कथनमें छह प्रकारका त्रैराशिक[1] होता है। प्रथम यह कि जब छह महीना आठ समयमात्र बाईस केवली होते हैं तब आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो केवली कितने कालमें। इसमें चालीस हजार आठसौ इकतालिसको छह महीना आठ समयोंसे गुणा करनेपर जो कालका प्रमाण लब्ध आवे वही उत्तर होगा। दूसरा छह महीना आठ समयोंमें निरंतर केवलज्ञान उत्पन्न होनेका काल आठ समय है तब पूर्वोक्तप्रमाण कालमें कितने समय होंगे। इसका उत्तर तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अट्ठाईस है। तथा दूसरे आचार्योंके मतकी अपेक्षा आठ समयोंमें बाईस या चवालीस या अठासी या एकसौ छिहत्तर जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं। तब पूर्वोक्त समयप्रमाणमें या उसके आधेमें या चतुर्थांशमें या अष्टमांशमें कितने जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करेंगे। इन चार प्रकारके त्रैराशिकोंका उत्तर आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो होता है।

क्षपक तथा उपशमक जीवोंकी युगपत् संभवतो विशेष संख्याको तीन गाथाओंमें कहते हैं—

होंति खवा इगिसमये, बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य।
उक्कस्सेणट्ठुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा ॥ ६३० ॥
पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणंउसयमणोहिणाणजुदा।
दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो ॥ ६३१ ॥
जेट्ठावरबहुमज्झिम, ओगाहणगा दु चारि अट्ठेव।
जुगवं हवंति खवगा, उवसमगा अद्धमेदेसिं ॥६३२॥ विसेसयं[2]।

भवन्ति क्षपका एकसमये बोधितबुद्धाश्च पुरुषवेदाश्च।
उत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतप्रमाः स्वर्गतश्च च्युताः ॥ ६३० ॥
प्रत्येकबुद्धतीर्थकरस्त्रीनपुंसकमनोवधिज्ञानयुताः।
दशषट्कविंशतिदशविंशत्यष्टाविंशो यथाक्रमशः ॥ ६३१ ॥
ज्येष्ठावरबहुमध्यमावगाहा द्वौ चत्वारोऽष्टैव।
युगपत् भवन्ति क्षपका उपशमका अर्धमेतेषाम् ॥ ६३२ ॥ विशेषकम् ॥

अर्थ—युगपत्—एक समयमें क्षपकश्रेणिवाले जीव अधिकसे अधिक होते हैं तो कितने होते हैं? उत्तर—इसका प्रमाण इस प्रकार है कि बोधितबुद्ध एकसौ आठ, पुरुषवेदी एकसौ आठ, स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि माड़नेवाले एकसौ आठ, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिके धारक दश, तीर्थंकर छह, स्त्रीवेदी वीस, नपुंसकवेदी दश, मनःपर्ययज्ञानी वीस, अवधिज्ञानी अट्ठाईस, मुक्त होनेके योग्य शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक दो, जघन्य अवगाहनाके धारक चार, समस्त अवगाहनाओंकी मध्यवर्ती अवगाहनाके धारक आठ। ये सब मिलकर चारसौ बत्तीस होते हैं। उपशमश्रेणिवाले इसके आधे (२१६) होते हैं।[3]

१. इसका यंत्र प. २८० पर है।
२. द्वाभ्यां युग्ममितिप्रोक्तं त्रिभिःस्यात्तु विशेषकम्। कालापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥
३. षट्. खं. ३ गाथा नं. ५१ का पूर्वार्धं, तथा गा. नं. ६३०, ६३१, के लिये षट् खं. ५ के पृ. क्रमसे ३०४ ३११, ३२३ और ३०७, ३२०, ३२३।

भावार्थ—पहले तो गुणस्थानमें एकत्रित होनेवाले जीवोंकी संख्या बताई थी और यहाँ पर श्रेणिमें युगपत् सम्भवती जीवोंकी उत्कृष्ट संख्या बताई है।

सर्व संयमी जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

सत्तादी अट्ठंता, छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमोलियहत्थो, तियरणसुद्धे णमंसामि[1] ॥ ६३३ ॥

सप्तादयोऽष्टान्ताः षण्णवमध्याश्च संयताः सर्वे।
अञ्जलिमौलिकहस्तस्त्रिकरणशुद्ध्या नमस्यामि[2] ॥ ६३३ ॥

अर्थ—सात आदिमें, आठ अन्तमें और दोनों अंकोंके मध्यमें छह जगह नौका अंक "अंकानां वामतो गतिः," के नियमानुसार रखनेपर सम्पूर्ण संयमियोंका प्रमाण होता है। अर्थात् छट्ठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकके सर्व संयमियोंका प्रमाण तीन कम नव करोड़ है[3] (८९९९९९९७)। इनको मैं हाथ जोड़कर शिर नवाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रमत्तवाले जीव ५९३८२०६, अप्रमत्तवाले २९६९९१०३, उपशमश्रेणीवाले चारों गुणस्थानवर्ती ११९६, क्षपकश्रेणीवाले चार गुणस्थानवर्ती २३९२, सयोगी जिन ८९८५०२, इन सबका जोड़ ८९९९९३९९ होता है। सो इसको सर्व संयमियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर शेष अयोगी जीवोंका प्रमाण ५९८ रहता है। इसको भी संयमियोंके प्रमाणमें जोड़नेसे संयमियों का कुल प्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है।

चारों गतिसम्बन्धी मिथ्यादृष्टि सासादन मिश्र और अविरत इनकी संख्याके साधकभूत पल्य के भागहारका विशेष वर्णन करते हैं—

ओघासंजदमिस्सयसासणसम्माण भागहारा जे।
रूऊणावलियासंखेज्जेणिह भजिय तत्थ णिक्खित्ते[4] ॥ ६३४ ॥
देवाणं अवहारा, होंति असंखेण ताणि अवहरिय।
तत्थेव य पक्खित्ते, सोहम्मीसाण अवहारा[5] ॥ ६३५ ॥ जुम्मं।

ओघा असंयतमिश्रकसासनसमीचां भागहारा ये।
रूपोनावलिकासंख्यातेनेह भक्त्वा तत्र निक्षिप्ते ॥ ६३४ ॥
देवानामवहारा भवन्ति असंख्येन तानवहृत्य।
तत्रैव च प्रक्षिप्ते सौधर्मैशानावहाराः ॥ ६३५ ॥ युग्मम्

अर्थ—गुणस्थानसंख्यामें असंयत मिश्र सासादनके भागहारोंका जो प्रमाण बताया है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है। तथा देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें

---

१. षट् खं. ३ गाथा नं. ५१। २. तान् इत्यध्याहारः।
३. इस विषयमें ष. खं. ३ पृ. ९८, ९९ का शंका समाधान देखने योग्य है।
४. ५. ष. खं. ३ पृ. क्रमसे १६०, २८४।

एक कम आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको देवगतिसम्बन्धी भागहार के प्रमाणमें मिलानेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है।

भावार्थ—जहाँ जहाँका जितना जितना भागहारका प्रमाण बताया है उस उस भागहारका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने उतने ही वहाँ वहाँ जीव समझना चाहिये। पहले गुणस्थानसंख्यामें असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण एकबार असंख्यात कहा था, इसमें एक कम आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है, इस देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानवर्ती जीव हैं। तथा देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातवें भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको उस भागहारमें मिलानेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है। इस भागहारका पल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयत गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण है। इसी तरह मिश्र और सासादनके भागहारका प्रमाण भी समझना चाहिये।

सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारका प्रमाण बताते हैं—

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूवसंगुणिदे।
उवरि असंजदमिस्सयसासणसम्माण अवहारा[1] ॥ ६३६ ॥

सौधर्मैशानहारमसंख्येन च संख्यरूपसंगुणिते।
उपरि असंयतमिश्रकसासनसमीचामवहाराः॥ ६३६ ॥

अर्थ—सौधर्म ईशान स्वर्गके सासादान गुणस्थानमें जो भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा मिश्र गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। तथा मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादन गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है।

इस गुणितक्रमकी व्याप्तिको बताते हैं—

सोहम्मादासारं, जोइसिवणभवणतिरियपुढवीसु।
अविरदमिस्सेऽसंखं, संखासंखगुणं सासणे देसे[2] ॥ ६३७ ॥

सौधर्मादासहस्रारं ज्योतिषि वनभवनतिर्यक्पृथ्वीषु।
अविरतमिश्रेऽसंख्यं संख्यासंख्यगुणं सासने देशे॥ ६३७॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्गपर्यन्त पाँच युगल, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, तिर्यंच तथा सातों नरकपृथ्वी, इस तरह ये कुल १६ स्थान हैं। इनके अविरत और मिश्र गुणस्थान में असंख्यातका गुणक्रम है और सासादन गुणस्थानमें संख्यातका तथा तिर्यग्गतिसम्बन्धी देशसंयम गुणस्थानमें असंख्यातका गुणक्रम समझना चाहिये।

भावार्थ—सौधर्म ईशान स्वर्गके आगे सानत्कुमार माहेन्द्रके असंयत मिश्र सासादन गुणस्थान

---

१. २. प. खं. ३ पृ. २८५।

के भागहारोंका प्रमाण बता चुके हैं। इसमें सासादन गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण हैं उससे असंख्यातगुणा ब्रह्म ब्रह्मोत्तरके असंयत गुणस्थानका भागहार है। इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा[1] सासादनका भागहार है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तरसम्बन्धी सासादनके भागहारसे असंख्यातगुणा लांतव कापिष्ठके असंयत गुणस्थानसम्बन्धी भागहारका प्रमाण है और इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। इसी क्रमके अनुसार शुक्र महाशुक्रसे लेकर सातवीं पृथ्वीतकके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारोंका प्रमाण समझना चाहिए। विशेषता यह है कि देशसंयम गुणस्थान स्वर्गोंमें तथा नरकोंमें नहीं होता; किन्तु तिर्यञ्चोंमें होता है। इसलिये तिर्यंचोंमें जो सासादनके भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा तिर्यंचोंके देशव्रत गुणस्थानका भागहार है। तथा तिर्यंचोंके देशसंयम गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है वही प्रथम नरकके असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। किन्तु देशव्रतके भागहारका प्रमाण स्वर्ग तथा नरकमें नहीं है।

आनतादिकमें गुणितक्रमकी व्याप्तिको तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं—

चरमधरासाणहरा आणदसम्माण आरणप्पहुदिं।
अंतिमगेवेज्जंतं, सम्माणमसंखसंखगुणहारा ॥ ६३८ ॥

चरमधरासानहारादानतसमीचामारणप्रभृति।
अंतिमग्रैवेयकान्ते समीचामसंख्यसंख्यगुणहाराः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—सप्तम पृथ्वीके सासादनसम्बन्धी भागहारसे आनत प्राणतके असंयतका भागहार असंख्यातगुणा है। तथा इसके आगे आरण अच्युतसे लेकर नौवें ग्रैवेयकपर्यंत दश स्थानोंमें असंयतका भागहार क्रमसे संख्यातगुणा[3] संख्यातगुणा है।

तत्तो ताणुत्ताणं, वामाणमणुद्दिसाण विजयादि।
सम्माणं संखगुणो, आणदमिस्से असंखगुणो[4] ॥ ६३९ ॥

ततस्तेषामुक्तानां वामानामनुदिशानां विजयादि।
समीचां संख्यगुण आनतमिश्रे असंख्यगुणः ॥ ६३९ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर आनत प्राणतसे लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंतके मिथ्यादृष्टि जीवोंका भागहार क्रमसे अन्तिम ग्रैवेयक सम्बन्धी असंयतके भागहारसे संख्यातगुणा संख्यातगुण[5] है। इस अन्तिम ग्रैवेयक सम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके भागहारसे क्रमपूर्वक संख्यातगुणा[6] संख्यातगुणा नव अनुदिश और विजय वैजयंत जयंत अपराजितके असंयतोंका भागहार है। विजयादिकसम्बन्धी असंयतके भागहारसे आनत प्राणतसम्बन्धी मिश्रका भागहार असंख्यातगुणा है।

तत्तो संखेज्जगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो।
उत्तट्ठाणे कमसो, पणछस्सत्तट्ठचदुरसंदिट्ठी[7] ॥ ६४० ॥

---

१. यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है।

२. ४, ७. प. खं. ३ पृ० २८५।

३. ५, ६. इन स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पाँच अंक छह अंक तथा सातका अंक है। इस बात को आगेकी गाथामें कहेंगे।

तयः संख्येयगुणः सासनसमोचां भवति संख्यगुणः ।
उक्तस्थाने क्रमशः पञ्चषट्सप्ताष्टचतुःसंदृष्टि ॥ ६४० ॥

अर्थ—आनत प्राणतसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे आरण अच्युतसे लेकर नवम ग्रैवेयक पर्यंत दश स्थानोंमें मिश्रसम्बन्धी भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है । यहाँपर संख्यात की सहनानी आठका अंक है । अन्तिम ग्रैवेयकसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे आनत प्राणतसे लेकर नवम ग्रैवेयकपर्यंत ग्यारह स्थानोंमें सासादनसम्यग्दृष्टीके भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है । यहाँपर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है । इन पूर्वोक्त पांच स्थानोंमें संख्यातका सहनानी क्रमसे पाँच, छह, सात, आठ और चारके अंक हैं ।

सगसगअवहारेहिं, पल्ले भजिदे हवंति सगरासी ।
सगसगगुणपडिवण्णे, सगसगरासीसु अवणिदे वामा ॥ ६४१ ॥

स्वकस्वकावहारैः पल्ये भक्ते भवन्ति स्वकराशयः ।
स्वकस्वकगुणप्रतिपन्नेषु स्वकस्वकराशिषु अपनीतेषु वामाः ॥ ६४१ ॥

अर्थ—अपने २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे अपनी २ राशिके जीवोंका प्रमाण निकलता है । तथा अपनी २ सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रतका प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवों का प्रमाण रहता है ।

भावार्थ—यहां पर मनुष्योंके भागहारका प्रमाण नहीं बताया[1] है । देशव्रत गुणस्थान मनुष्य और तिर्यञ्च इन दोनों हीके होता है । इसलिये यहाँ तिर्यंचोंकी ही सामान्य राशिमें असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रत इन चार गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच जीवोंका प्रमाण होता है; किन्तु देव और नारकियोंकी सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र और सासादन इन तीन गुणस्थानवाले जीवोंका ही प्रमाण घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण होता है । परन्तु जहाँ पर मिथ्यादृष्टि आदि जीव सम्भव हों वहाँ पर ही इनका (मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंका) प्रमाण निकालना चाहिये, अन्यत्र नहीं; क्योंकि ग्रैवेयकसे ऊपरके सब देव असंयत ही होते हैं ।

मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंका प्रमाण बताते हैं—

तेरसकोडी देसे, बावण्णं सासणे मुणेदव्वा ।
मिस्सा वि य तद्दुगणा, असंजदा सत्तकोडिसयं[2] ॥ ६४२

त्रयोदशकोट्यो देशे द्वापञ्चाशत् सासने मन्तव्याः ।
मिश्रा अपि च तद्द्विगुणा असंयताः सप्तकोटिशतम् ॥ ६४२ ॥

अर्थ—देशसंयम गुणस्थानमें तेरह करोड़, सासादनमें बावन करोड़, मिश्रमें एकसौ चार करोड़ असंयतमें सात सौ करोड़ मनुष्य हैं । प्रमत्तादि गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पूर्वमें ही बता चुके हैं । इस प्रकार यह गुणस्थानोंमें मनुष्य जीवोंका प्रमाण है ।

१—यह संख्या आगे के गुणस्थानमें बताई है । २—षट् खं ३ गाथा नं ६८, ७० ।

जीविदरे कम्मचये, पुण्णं पावो त्ति होदि पुण्णं तु ।
सुहपयडीणं दव्वं, पावं असुहाण दव्वं तु ॥ ६४३ ॥

जीवेतरस्मिन् कर्मचये पुण्यं पापमिति भवति पुण्यं तु ।
शुभप्रकृतिनां द्रव्यं पापमशुभप्रकृतीनां द्रव्यं तु ॥ ६४३ ॥

अर्थ—जीव पदार्थमें सामान्यसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले जीव पाप हैं। और मिश्र गुणस्थानवाले पुण्य और पापके मिश्ररूप हैं। तथा असंयतसे लेकर सब ही पुण्य जीव हैं। इसके अनंतर अजीव पदार्थका वर्णन करते हैं। अजीव पदार्थमें कार्मण स्कन्धके दो भेद हैं—एक पुण्य दूसरा पाप। शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य और अशुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं।

भावार्थ—कार्मण स्कन्धमें सातावेदनीय, नरकायुको छोड़कर शेप तीन आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र इन शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य[1] कहते हैं। इनसे सिवाय घातिकर्मकी समस्त प्रकृतियां और असातावेदनीय, नरक आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र इन प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं।

आसवसंवरदव्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादव्वं ।
तत्तो असंखगुणिदं, उक्कस्सं होदि णियमेण ॥ ६४४ ॥

आस्रवसंवरद्रव्यं समयप्रबद्धं तु निर्जराद्रव्यम् ।
ततोऽसंख्यगुणितमुत्कृष्टं भवति नियमेन ॥ ६४४ ॥

अर्थ—आस्रव और संवरका द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्धप्रमाण है और उत्कृष्ट निर्जराद्रव्य समयप्रबद्धसे असंख्यातगुणा है।

भावार्थ—एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण कर्मपुद्गलका ही आस्रव होता है, इसलिये आस्रवको समयप्रबद्धप्रमाण कहा है। और आस्रवके निरोधरूप संवर है। सो यह संवर भी एक-समयमें उतने ही द्रव्यका होगा, इसलिये द्रव्य संवरको भी समयप्रबद्ध प्रमाण कहा है। गुणश्रेणि-निर्जरामें असंख्यात समयप्रबद्धोंको निर्जरा एक ही समयमें होजाती है, इसलिये उत्कृष्ट निर्जराद्रव्य-को असंख्यात समयप्रबद्धप्रमाण कहा है।

बंधो समयपबद्धो, किंचूणदिवड्ढमेत्तगुणहाणी ।
मोक्खो य होदि एवं, सद्दहिव्वा दु तच्चट्ठा ॥ ६४५ ॥

बन्धः समयप्रबद्धः किञ्चिदूनव्यर्धमात्रगुणहानिः ।
मोक्षश्च भवत्येवं श्रद्धातव्यास्तु तत्त्वार्थाः ॥ ६४५ ॥

अर्थ—बन्धद्रव्य समयप्रबद्धप्रमाण है; क्योंकि एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण ही कर्म-प्रकृतियोंका बंध होता है। तथा मोक्षद्रव्यका प्रमाण व्यर्धगुणहानिगुणितसमयप्रबद्ध प्रमाण है,

---

१–पुण्य और पाप प्रकृतियोंकी भिन्न-भिन्न संख्या कर्मकाण्डमें देखना चाहिये। विशेष यह है कि कर्मों की कुल प्रकृतियाँ १४८ ही हैं। परन्तु पुण्यकी ६८ और पापकी १०० प्रकृतियाँ बताई हैं। कारण यह कि नामकर्मकी स्पर्शादिक २० प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनों तरफ सम्मिलित हैं, इसलिये पुण्य पापकी गणना में २० संख्या बढ़ जाती है।

क्योंकि अयोगिगुणस्थानके अन्तमें जितनी कर्म प्रवृत्तियोंकी सत्ता रहती है उतना ही मोक्षद्रव्यका प्रमाण है। तथा यहाँ पर (अयोगिगुणस्थानके अन्त समयमें) कर्मोंकी सत्ता द्व्यर्धगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है, इसलिये मोक्षद्रव्यका प्रमाण भी द्व्यर्धगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण ही है। इस प्रकार इन सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना चाहिये।

भावार्थ—पूर्वमें जो छह द्रव्य पञ्चास्तिकाय नव पदार्थोंका स्वरूप बताया है उसके अनुसार ही उनका श्रद्धान करना चाहिये; क्योंकि इनके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वके भेदोंको गिनानेके पहले क्षायिक सम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं--

खीणे दंसणमोहे, जं सद्दहणं सुणिम्मलं होई[1] ।
तं खाइयसम्मत्तं, णिच्चं कम्मक्खवणहेदू ॥ ६४६ ॥

क्षीणे दर्शनमोहे यच्छ्रद्धानं सुनिर्मलं भवति।
तत्क्षायिकसम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ ६४६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षीण होजाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व नित्य है और कर्मोंके क्षय होनेका कारण है।

भावार्थ—यद्यपि दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन ही भेद हैं। तथापि अनन्तानुबन्धी कषाय भी दर्शनगुणको विपरीत करता है, इसलिये इसको भी दर्शनमोहनीय कहते हैं। इसीलिये आचार्योंने तथा पञ्चाध्यायीमें कहा है कि "सप्तैते दृष्टिमोहनम्"[1]। अतएव इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होजानेसे दर्शन गुणकी जो अत्यन्त निर्मल अवस्था होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। इसके प्रतिपक्षी कर्मोका एकदेश भी अवशिष्ट नहीं रहा है। इस ही लिये यह दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह सांत नहीं है। तथा इसके होनेपर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है, इसलिये यह कर्मक्षयका हेतु है। इसी अभिप्रायका बोधक दूसरी क्षेपक गाथा भी है। वह इसप्रकार है कि—

दंसणमोहे खविदे, सिज्झदि एक्केव तदियतुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभवं, ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥ १ ॥

दर्शनमोहे क्षपिते सिद्ध्यति एकस्मिन्नेव तृतीयतुरीयभवे।
नातिक्रामति तुरीयभवं न विनश्यति शेषसम्यक्त्वं व ॥ १ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होजाने पर उस ही भवमें या तीसरे चौथे भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होता है, किन्तु चौथे भवका उल्लंघन नहीं करता, तथा दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह यह सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेपर या तो उसही भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होजाता है या देवायुका सम्यक्त्व प्राप्तिके पूर्व नरकायुका बन्ध होगया हो तो तीसरे भवमें सिद्ध होता है। यदि सम्यग्दर्शनके पहले मिथ्यात्व अवस्थामें मनुष्य या तिर्यच आयुका बन्ध होगया हो तो चौथे

१. प० खं० १ गाथा नं० २१३।

भवमें सिद्ध होता है; किन्तु चतुर्थ भवका अतिक्रमण नहीं करता। यह सम्यक्त्व साद्यनन्त है। औपशमिक या क्षायोपशमिकको तरह उत्पन्न होनेके बाद फिर छूटता नहीं है।

क्षायिकसम्यक्त्वका और भी विशेष स्वरूप बताते हैं—

वयणेहिं वि हेदूहिं वि, इंदियभयआणएहिं रूवेहिं।
बीभच्छजुगुच्छाहिं य, तेलोक्केण वि ण चालेज्जो[1] ॥ ६४७ ॥

वचनैरपि हेतुभिरपि इन्द्रियभयानीतै रूपै।
बीभत्स्यजुगुप्साभिश्च त्रैलोक्येनापि न चाल्यः ॥ ६४७ ॥

अर्थ—श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले आकारोंसे यद्वा ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर उत्पन्न होनेवाली ग्लानिसे किं बहुना तीन लोकसे भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता।

भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगमसे विरुद्ध श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते। तथा यह भयोत्पादक आकार या ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर भ्रष्ट नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोक उपस्थित होकर भी उसको अपने श्रद्धानसे भ्रष्ट करना चाहें तो भी यह भ्रष्ट नहीं होता।

यह सम्यग्दर्शन किसके तथा कहाँ पर उत्पन्न होता है यह बताते हैं—

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥ ६४८ ॥

दर्शनमोहक्षपणाप्रस्थापकः कर्मभूमिजातो हि।
मनुष्यः केवलिमूले निष्ठापको भवति सर्वत्र ॥ ६४८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका प्रारम्भ केवलीके मूलमें कर्मभूमिका उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही करता है तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है।

भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली श्रुतकेवलीके पादमूलमें (निकट) ही होता है, तथा उसका (प्रारम्भका) करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है। यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होनेके प्रथम ही मरण हो जाय तो उसकी (क्षपणाकी) समाप्ति चारों गतियोंमेसे किसी भी गतिमें हो सकती है।

वेदकसम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं—

दंसणमोहुदयादो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं।
चलमलिणमगाढं तं, वेदयसम्मत्तमिदि जाणे[2] ॥ ६४९ ॥

---

१. रूपैर्भयंकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टांतसूचिभिः। जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः। तथा देखो प० खं० १ पृ० ३२ और गाथा नं० २१४।

२. प० खं० १ गाथा नं० २१५।

दर्शनमोहोदयादुत्पद्यते यत् पदार्थश्रद्धानम् ।
चलमलिनमगाढं तद् वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि ॥ ६४९ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल मलिन अगाढरूप श्रद्धान उत्पन्न होता है, उसको वेदकसम्यक्त्व कहते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्व मिश्र और अनंतानुबंधीचतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर; किन्तु अवशिष्ट सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होते हुए पदार्थों का जो श्रद्धान होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। यहां पर सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयजनित चलता मलिनता और अगाढता ये तीन दोष होते हैं। इन तीनोंका लक्षण पहले कह चुके हैं।

तीन गाथाओंमें उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप और सामग्रीका वर्णन करते हैं—

दंसणमोहुवसमदो, उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।
उवसमसम्मत्तमिणं, पसण्णमलपंकतोयसमं ॥ ६५० ॥

दर्शनमोहोपशमादुत्पद्यते यत्पदार्थश्रद्धानम् ।
उपशमसम्यक्त्वमिदं प्रसन्नमलपंकतोयसमम् ॥ ६५० ॥

अर्थ—उक्त सम्यक्त्वविरोधिनी पांच अथवा सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो पदार्थोंका श्रद्धान होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व इस तरहका निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थों के निमित्तसे कीचड़ आदि मलके नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है।

भावार्थ—उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं; क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मों का उदय दोनों ही स्थानपर नहीं है। किन्तु विशेषता इतनी ही है कि क्षायिक सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव हो गया है, और उपशम सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता है। जैसे किसी जलमें निर्मली आदिके द्वारा ऊपरसे निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं। ये दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं। अन्तर यही है कि एकके नीचे कीचड़ है, दूसरी के नीचे कीचड़ नहीं है। जिसके नीचे कीचड़ है ऊपरसे स्वच्छ है उस निर्मल जलके समान ही औपशमिक सम्यक्त्व है। और जिसके नीचे कीचड़ नहीं है उस निर्मल जलके सदृश क्षायिक सम्यक्त्व होता है। औपशमिक सम्यक्त्व अनादि मिथ्यादृष्टिके पांचप्रकृतियोंके उपशमसे और सादिमिथ्यादृष्टिके सात प्रकृतियोंके उपशमसे हुआ करता है।

खयउवसमियविसोही, देसणपाउग्गकरणलद्धी य ।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ ६५१ ॥

क्षायोपशमिकविशुद्धी देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च ।
चतस्रोऽपि सामान्याः करणं पुनर्भवति सम्यक्त्वे ॥ ६५१ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण ये पांच लब्धि हैं। इनमें पहली चार तो सामान्य हैं; भव्य अभव्य दोनों के ही संभव है। किन्तु करण-लब्धि विशेष[1] है। यह भव्य के ही हुआ करती है और इसके होनेपर सम्यक्त्व या चारित्र नियमसे होता है।

१. श्रेण्यारोहणके पूर्वमें चारित्रके लिये भी करणत्रय हुआ करते हैं।

भावार्थ—लब्धि शब्दका अर्थ प्राप्ति है। प्रकृतमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होना इसको लब्धि कहते हैं। उसके उक्त पांच भेद हैं। अशुभ कर्मोंके अनुभागेक—उत्तरोत्तर होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। निर्मलताविशेषको विशुद्धि कहते हैं। योग्य उपदेशको देशना अनन्तगुणसे हीन होनेको कहते हैं। पंचेन्द्रियादिस्वरूप योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंको करणलब्धि कहते हैं। इन तीनों करणोंका स्वरूप पहले कह चुके हैं। इन पांच लब्धियोंमेंसे आदिकी चार लब्धि तो सामान्य हैं—अर्थात् भव्य अभव्य दोनोंके होती हैं किन्तु करणलब्धि असाधारण है—इसके होने पर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र होता है। जब तक करणलब्धि नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता।

उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य सामग्रीको बताकर अब उसको ग्रहण करनेके लिये योग्य जीव कैसा होना चाहिये यह बताते हैं—

चदुगदिभव्वो सण्णी, पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो।
जागारो सल्लेसो, सलद्धिगो सम्ममुवगमई॥ ६५२॥

चतुर्गतिभव्यः संज्ञी पर्याप्तः शुद्धकश्च साकारः।
जागरूकः सल्लेश्यः सलब्धिकः सम्यक्त्वमुपगच्छति॥ ६५२॥

अर्थ—जो जीव चार गतियोंमेंसे किसी एक गतिका धारक तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धि—सातादिके बन्धके योग्य परिणतिसे युक्त, जागृत—स्त्यानगृद्धि आदि तीन निद्राओंसे रहित, साकार उपयोगयुक्त और शुभ लेश्याका धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामोंका धारक होता है वह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

चत्तारि वि खेत्ताइं, आउगवंधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइं, ण लहइ देवाउगं मोत्तुं॥ ६५३॥

चत्वार्यपि क्षेत्राणि आयुष्कबन्धेन भवति सम्यक्त्वम्।
अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा॥ ६५३॥

अर्थ—चारों गतिसम्बन्धी आयुकर्मका बन्ध हो जाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु देवायुको छोड़कर शेष आयुका बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते।

भावार्थ—चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमेंरहनेवाले जीवके चार प्रकारकी आयुमेंसे किसी भी आयुका बंध होने पर भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है—इसमें कोई बाधा नहीं है। किन्तु अणुव्रत या महाव्रत उसी जीवके हो सकते हैं जिसके चार आयुकर्मोंमेंसे केवल देवायुका ही बंध हुआ हो, अथवा किसी भी आयुका बंध न हुआ हो। नरकायु तिर्यगायु मनुष्यायु इन तीन आयुओं-मेंसे किसी भी आयुका बंध करके पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाले जीवके अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते।

सम्यक्त्वमार्गणाके दूसरे भेदोंको गिनाते हैं—

ण य मिच्छत्तं पत्तो, सम्मत्तादो य जो य परिवडिदो।
सो सासणो त्ति णेयो, पंचमभावेण संजुत्तो॥ ६५४॥

न च मिथ्यात्वं प्राप्तः सम्यक्त्वतश्च यश्च परिपतितः ।
स सासन इति ज्ञेयः पंचमभावेन संयुक्तः ॥ ६५४ ॥

अर्थ—जो जीव सम्यक्त्वसे तो च्युत हो गया है, किन्तु मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं हुआ है उसको सासन कहते हैं। यह जीव पांचवें पारिणामिक भावसे युक्त होता है।

भावार्थ—सासनरूप परिणामोंका होना भी सम्यक्त्वगुणका एक विपरिणाम है, इसलिये यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है। अतएव यहां पर इसका वर्णन किया है, क्योंकि सम्यक्त्व-मार्गणामें सामान्यसे सम्यक्त्वके समस्त भेदोंका वर्णन करना चाहिये। इस गुणस्थानमें दर्शनमोह-नीयकी अपेक्षा पारिणामिक भाव होता है, तथा अनन्तानुवन्धीकी अपेक्षा औदयिक भाव भी होता है। इसका विशेष स्वरूप गुणस्थानाधिकारमें कह चुके हैं, इसलिये यहां नहीं कहते हैं। सम्यग्दर्शन की यहां शुद्ध अवस्था छूट जानेसे और अशुद्ध-विपरीत-मिथ्यात्व अवस्था प्राप्त न होनेसे मध्यकी अनुभव दशा रहा करती है।

मिश्रगुणस्थानका स्वरूप वताते हैं—

सद्दहणासद्दहणं, जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।
विरयाविरयेण समे, सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥ ६५५ ॥

श्रद्धानाश्रद्धानं यस्य च जीवस्य भवति तत्त्वेषु।
विरताविरतेन समः सम्यग्मिथ्य इति ज्ञातव्यः ॥ ६५५ ॥

अर्थ—विरताविरतकी तरह जिस जीवके तत्त्वके विषयमें श्रद्धान और अश्रद्धान दोनों हों उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस तरह विरत और अविरत दोनों प्रकारके परिणामोंके जोड़की अपेक्षा विरताविरत नामका पांचवाँ गुणस्थान होता है उसी तरह श्रद्धान और अश्रद्धानरूप परिणामोंके जोड़की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व नामका तीसरा गुणस्थान होता है। यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है।

मिच्छादिट्ठी जीवो, उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ ६५६ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धधाति।
श्रद्दधाति असद्भावमुपदिष्टं वा अनुपदिष्टम् ॥ ६५६ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आप्त आगम पदार्थका श्रद्धान नहीं करता; किन्तु कुगुरुओंके कहे हुए या विना कहे हुए भी मिथ्या पदार्थका श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

भावार्थ—मिथ्यात्व-दर्शनमोहनीयके उदयसे दो प्रकारके विपरिणाम होते हैं—एक ग्रहीत विपरीत श्रद्धान दूसरा अग्रहीत विपरीत श्रद्धान। जो कुगुरुओंके उपदेशसे विपरीत श्रद्धान होता है उसको ग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। और जो विना उपदेशके ही विपरीत श्रद्धान हो उसको अग्रहीत-मिथ्यात्व कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके विपरिणामोंको मिथ्यात्व इस सामान्य शब्दसे कहते हैं।

क्रमप्राप्त संज्ञिमार्गणाका निरूपण करते हैं—

णोइंदियआवरणखओवसमं तज्जबोहणं सण्णा ।
सा जस्स सो दु सण्णी, इदरो सेसिंदिअवबोहो ।। ६६० ।।

नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्तज्जबोधनं संज्ञा ।
सा यस्य स तु संज्ञी इतरः शेषेन्द्रियावबोधः ।। ६६० ।।

अर्थ—नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं और जिनके यह संज्ञा न हो, किन्तु केवल यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं।

भावार्थ—जीव दो प्रकारके होते हैं—एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी। संज्ञा शब्दसे मुख्यतया तीन अर्थ लिये जाते हैं। १—नाम निक्षेप, जो कि व्यवहारके लिये किसीका रख दिया जाता है। जैसे ऋषभ, भरत, बाहुबली, अर्ककीर्ति, महावीर आदि। २—आहार भय मैथुन और परिग्रहकी इच्छा। ३—धारणात्मक या ऊहापोहरूप विचारात्मक ज्ञानविशेष। प्रकृतमें यह अन्तिम अर्थ ही विवक्षित है। यह दो प्रकारका हुआ करता है—लब्धिरूप और उपयोगरूप। प्रतिपक्षी नोइन्द्रिया-वरण कर्मके क्षयोपशमसे प्राप्त विशुद्धिको लब्धि और अपने विषयमें प्रवृत्तिको उपयोग कहते हैं। जिनके यह लब्धि या उपयोगरूप मन-ज्ञान विशेष पाया जाय उनको संज्ञी कहते हैं। और जिनके यह मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं। इन असंज्ञी जीवोंके मानस ज्ञान नहीं होता, यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान ही होता है।

संज्ञी असंज्ञीकी पहचानकेलिये चिन्होंका वर्णन करते हैं—

सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंवेण ।
जो जीवो सो सण्णी, तव्विवरीओ असण्णी दु ।। ६६१ ।।

शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही मनोऽवलम्वेन ।
यो जीवः स संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी तु ।। ६६१ ।।

अर्थ—हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं। इच्छापूर्वक हाथ पैरके चलानेको क्रिया कहते हैं। वचन अथवा चाबुक आदिके द्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं।

जो जीव इन शिक्षादिकको मनके अवलम्बनसे ग्रहण = धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं और जिन जीवोंमें यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी समझना चाहिये।

मीमंसदि जो पुव्वं, कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।
सिक्खदि णामेणेदि य, समणो अमणो य विवरीदो ।। ६६२ ।।

मीमांसति यः पूर्वं कार्यमकार्यं च तत्त्वमितरच्च ।
शिक्षते नाम्ना एति च समनाः अमनाश्च विपरीतः ।। ६६२ ।।

अर्थ—जो जीव प्रवृत्ति करनेके पहले अपने कर्तव्य और अर्तव्यका विचार करे, तथा तत्त्व और अतत्त्वका स्वरूप समझ सके और उसका जो नाम रक्खा गया हो उस नामके द्वारा बलाने

पर आसके, उन्मुख हो अथवा उत्तर दे सके उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं। और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं।

संज्ञीमार्गणागत जीवोंकी संख्याको बताते हैं—

देवेहिं सादिरेगो, रासी सण्णीण होदि परिमाणं।
तेणूणो संसारी, सव्वेसिमसण्णिजीवाणं ॥ ६६३ ॥

देवैः सातिरेको राशिः संज्ञिनां भवति परिमाणम्।
तेनोनः संसारी सर्वेषामसंज्ञिजीवानाम् ॥ ६६३ ॥

अर्थ—देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक संज्ञी जीवोंका प्रमाण है। सम्पूर्ण संसारी जीव राशिमेंसे संज्ञी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवोंका प्रमाण है।

भावार्थ—सम्पूर्ण देव, नारकी, मनुष्य और समनस्क तिर्यंचोंके सिवाय समस्त अनन्त संसारी जीवराशि असंज्ञी ही है। संज्ञी जीवोंमें नारकी मनुष्य और तिर्यंच बहुत थोड़े हैं, देव सबसे अधिक हैं, अतएव संज्ञी जीवोंका प्रमाण देवोंसे कुछ अधिक ऐसा कहा गया है।

॥ इति संज्ञिमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त आहारमार्गणाका वर्णन करते हैं—

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।
णोकम्मवग्गणाणं, गहणं आहारयं णाम ॥ ६६४ ॥

उदयापन्नशरीरोदयेन तद्देहवचनचित्तानाम्।
नोकर्मवर्गणानां ग्रहणमाहारकं नाम ॥ ६६४ ॥

अर्थ—शरीरनामा नामकर्मके उदयसे देह-औदारिक वैक्रियिक आहारक इनमेंसे यथा सम्भव किसी भी शरीर तथा वचन और द्रव्य मनरूप बननेके योग्य नोकर्मवर्गणाओंका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं।

निरुक्तिपूर्वक आहारकका अर्थ लिखतै हैं—

आहरदि सरीराणं, तिण्हं एयदरवग्गणाओ य।
भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥ ६६५ ॥

आहरति शरीराणां त्रयाणामेकतरवर्गणाश्च।
भाषामनसोर्नियतं तस्मादाहारको भणितः ॥ ६६५ ॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरके योग्य वर्गणाओंको तथा वचन और मनके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य जीवसमास तथा कालमें जीव आहरण—ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं।

जीव दो प्रकारके होते हैं—एक आहारक दूसरे अनाहारक। आहारक जीव कौन कौन होते हैं और अनाहारक जीव कौन-कौन होते हैं यह बताते हैं—

विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो, समुग्घदो आजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारया जीवा ॥ ६६६ ॥

विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्घाता अयोगिनश्च ।
सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ६६६ ॥

अर्थ—विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिसम्बन्धी जीव, प्रतर और लोकपूर्ण समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्त सिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं। और इनको छोड़कर शेष सभी जीव आहारक होते हैं।

समुद्घात, कितने प्रकारका होता है यह बताते हैं—

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो, सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६७ ॥

वेदनाकषायवैगुर्विकाश्च मारणान्तिकः समुद्घातः ।
तेज आहारः षष्ठः सप्तमः केवलिनां तु ॥ ६६७ ॥

अर्थ—समुद्घातके सात भेद हैं—वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक, केवल। इनका स्वरूप लेश्यामार्गणाके क्षेत्राधिकारमें कहा जाचुका है, इसलिये यहाँ पर नहीं कहा है।

समुद्घातका स्वरूप बताते हैं—

मूलसरीरमछंडिय, उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो, होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६८ ॥

मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिण्डस्य ।
निर्गमनं देहाद् भवति समुद्घातनाम तु ॥ ६६८ ॥

अर्थ—मूल शरीरको न छोड़कर तैजस कार्मण रूप उत्तर देहके साथ जीवप्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं।

आहारमारणंतिय, दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु ।
दसदिसि गदा हु सेसा, पंच समुग्घादया होंति ॥ ६६९ ॥

आहारमारणांतिकद्विकमपि नियमेन एकदिशिकं तु ।
दशदिशि गता हि शेषाः पञ्चसमुद्घातका भवन्ति ॥ ६६९ ॥

अर्थ—उक्त सात प्रकारके समुद्घातोंमें आहारक और मारणान्तिक ये दो समुघात तो एकही दिशामें गमन करते हैं; किन्तु बाकीके पाँच समुद्घात दशों दिशाओंमें गमन करते हैं।

आहारक और अनाहारकके कालका प्रमाण बताते हैं—

अंगुलअसंखभागो, कालो आहारयस्स उक्कस्सो ।
कम्मम्मि अणाहारो, उक्कस्सं तिण्ण समया हु ॥ ६७० ॥

अंगुलासंख्यभागः कालः आहारकस्योत्कृष्टः।
कार्मणे अनाहारः उत्कृष्टः त्रयः समया हि ॥ ६७० ॥

अर्थ—आहारकका उत्कृष्ट काल सूच्यंगुलके असंख्यातवें भागप्रमाण है। कार्मण शरीरमें अनाहारका उत्कृष्ट काल तीन समयका है और जघन्य काल एक समयका है। तथा आहारकका जघन्य काल तीन कम श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण है, क्योंकि विग्रहगतिसम्बन्धी तीन समयोंके घटाने पर क्षुद्र भवका काल इतना ही अवशेष रहता है।

आहारमार्गणासम्बन्धी जीवोंको बताते हैं—

कम्मइयकायजोगी, होदि अणाहारयाण परिमाणं।
तव्विरहिदसंसारी, सव्वो आहारपरिमाणं ॥ ६७१ ॥

कार्मणकाययोगी भवति अनाहारकाणां परिमाणम्।
तद्विरहितसंसारी सर्व आहारपरिमाणम् ॥ ६७१ ॥

अर्थ—कार्मणकाययोगी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अनाहारक जीवोंका प्रमाण है और संसारी जीवराशिमेंसे कार्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही आहारक जीवोंका प्रमाण है।

॥ इति आहारमार्गणाधिकारः ॥

०

क्रमप्राप्त उपयोगाधिकारका वर्णन करते हैं—

वत्थुणिमित्तं भावो, जादो जीवस्स जो दु उवजोगो।
सो दुविहो णायव्वो, सायारो चेव णायारो ॥ ६७२ ॥

वस्तुनिमित्तं भावो जातो जीवस्य यस्तूपयोगः।
स द्विविधो ज्ञातव्यः साकारश्चैवानाकारः ॥ ६७२ ॥

अर्थ—जीवका जो भाव वस्तुको (ज्ञेयको) ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्त होता है उसको उपयोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक साकार (सविकल्प) दूसरा निराकार (निर्विकल्प)।

दोनों प्रकारके उपयोगोंके उत्तरभेदोंको बताते हुए यह उपयोग जीवका लक्षण है यह बताते हैं—

णाणं पंचविहं पि य, अण्णाणतियं च सागरुवजोगो।
चदुदंसणमणगारो, सव्वे तल्लक्खणा जीवा ॥ ६७३ ॥

ज्ञानं पंचविधमपि च अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः।
चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तल्लक्षणा जीवाः ॥ ६७३ ॥

अर्थ—पाँच प्रकारका सम्यग्ज्ञान-मति श्रुति अवधि मनःपर्यय तथा केवल और तीन प्रकार [illegible]ज्ञान-मिथ्यात-कुमुति, कुश्रुत, विभंग ये आठ साकार उपयोगके भेद हैं। चार प्रकारका दर्शन [illegible]र्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन अनाकार उपयोग है। यह उपयोग ही सम्पूर्ण

जीवोंका लक्षण है, क्योंकि उपयोगके इन १२ प्रकारोंमेंसे जीवके कोई न कोई उपयोग अवश्य रहा करता है।

साकार उपयोगमें कुछ विशेषताको बताते हैं—

मदिसुदओहिमणेहि य, सगसगविसये विसेसविण्णाणं।
अंतोमुहुत्तकालो, उवजोगो सो दु सायारो ॥ ६७४॥

मतिश्रुतावधिमनोभिश्च स्वकस्वकविषये विशेषविज्ञानम्।
अन्तर्मुहूर्तकाल उपयोगः स तु साकारः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इनके द्वारा अपने अपने विषयका अन्तर्मुहूर्तकाल-पर्यन्त जो विशेप ज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं।

भावार्थ—साकार उपयोगके पाँच भेद हैं—मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल। इनमेंसे आदिके चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवोंके होते हैं। उपयोग चेतनाका एक परिणमन है। तथा एक वस्तुके ग्रहणरूप चेतनाका यह परिणमन छद्मस्थ जीवके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही रह सकता है। इस साकार उपयोगमें यही विशेषता है कि यह वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करता है।

अनाकार उपयोगका स्वरूप बताते हैं—

इंदियमणोहिणा वा, अत्थे अविसेसिदूण जं गहणं।
अंतोमुत्तकालो, उवजोगो सो अणायारो ॥ ६७५ ॥

इन्द्रियमनोऽवधिना वा अर्थे अविशेष्य यद्ग्रहणम्।
अन्तर्मुहूर्तकालः उपयोगः स अनाकारः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय मन और अवधिके द्वारा अन्तर्मुहूर्तकालतक पदार्थोंका जो सामान्यरूपसे ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं।

भावार्थ—दर्शनके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से आदिके तीन दर्शन छद्मस्थ जीवोंके होते हैं। नेत्रके द्वारा पदार्थका जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं। और नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मनके द्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुर्दर्शन कहते हैं। अवधिज्ञानके पहले इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना आत्ममात्रसे जो रूपी पदार्थविषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं। यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोगकी तरह छद्मस्थ जीवोंके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्ततक होता है।

उपयोगाधिकारमें जीवोंका प्रमाण बताते हैं—

णाणुवजोगजुदाणं, परिमाणं णाणमग्गणं व हवे।
दंसणुवजोगियाणं, दंसणमग्गण व उत्तकमो ॥ ६७६ ॥

ज्ञानोपयोगयुतानां परिमाणं ज्ञानमार्गणावद् भवेत्।
दर्शनोपयोगिनां दर्शनमार्गणावदुक्तक्रमः ॥ ६७६ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगवाले जीवोंका प्रमाण ज्ञानमार्गणावाले जीवोंकी तरह समझना चाहिये और दर्शनोपयोगवालोंका प्रमाण दर्शनमार्गणावालोंकी तरह समझना चाहिये। इनमें कुछ विशेषता नहीं है।

॥ इति उपयोगाधिकारः ॥

●

उक्त प्रकारसे बीस प्ररूपणाओंका वर्णन करके अब अन्तर्भावाधिकारका वर्णन करते हैं—

गुणजीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणुवजोगो ।
जोग्गा परूविदव्वा, ओघादेसेसु पत्तेयं ॥ ६७७ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणोपयोगौ ।
योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः प्रत्येकम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—उक्त बीस प्ररूपणाओंमेंसे गुणस्थान और मार्गणास्थानमें यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान जीवसमास पर्याप्ति प्राण संज्ञा मार्गणा और उयोगका निरूपण करना चाहिए।

भावार्थ—इस अधिकारमें यह बताते हैं कि किस-किस मार्गणामें या गुणस्थानमें शेष किस किस प्ररूपणाका अन्तर्भाव होता है। परन्तु इस अन्तर्भावका निरूपण यथायोग्य होना चाहिए।

किस-किस मार्गणामें कौन-कौन गुणस्थान होते हैं? उत्तरः—

चउ पण चोद्दस चउरो, णिरयादिसु चोद्दसं तु पंचक्खे ।
तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणं ॥ ६७८ ॥

चत्वारि पञ्च चतुर्दश चत्वारि निरयादिषु चतुर्दश तु पञ्चाक्षे ।
त्रसकाये शेषेन्द्रियकाये मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ॥ ६७८ ॥

अर्थ—गतिमार्गणाकी अपेक्षासे क्रमसे नरकगतिमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं और तिर्यग्गतिमें पाँच, मनुष्यगतिमें चौदह तथा देवगतिमें नरकगतिके समान चार गुणस्थान होते हैं। इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवोंके चौदह गुणस्थान और शेष एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जीवोंके केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है। कायमार्गणाकी अपेक्षा त्रसकायके चौदह और शेष स्थावर कायके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

भावार्थ—यहाँपर यह बताया है कि अमुक अमुक गति इन्द्रिय या कायवाले जीवोंके अमुक अमुक गुणस्थान होता है। इसी तरह जीवसमासादिकोंको भी यथायोग्य समझना चाहिये। जैसे कि नरकगति और देवगतिमें संज्ञी पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। तिर्यग्गतिमें चौदह तथा मनुष्यगतिमें संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रियजीवोंके बादर पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंके अपने-अपने पर्याप्त अपर्याप्त इस तरह दो दो जीवसमास होते हैं। पंचेन्द्रियमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त तथा असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं। कायमार्गणाकी अपेक्षा स्थावरकायमें एकेन्द्रियके समान चार जीवसमास होते हैं। और त्रसकायमें शेष दश जीवसमास होते हैं।

मज्झिमचउमणवयणे, सण्णिप्पहुदिं दु जाव खीणो त्ति ।
सेसाणं जोगि त्ति य, अणुभयवयणं तु वियलादो ॥ ६७९ ॥

मध्यमचतुर्मनोवचनयोः संज्ञिप्रभृतिस्तु यावत् क्षीण इति ।
शेषाणां योगिति च अनुभयवचनं तु विकलतः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—असत्य मन उभय मन असत्य वचन उभय वचन इन चार योगोंके स्वामी संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त बारह गुणस्थानवाले जीव हैं और सत्यमन अनुभयमन तथा सत्यवचन योग इनके स्वामी संज्ञीपर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर [1]आदिके तेरह गुणस्थानवाले जीव हैं। अनुभय वचनयोग विकल—द्वीन्द्रियसे लेकर सयोगीपर्यन्त होता है। अनुभय वचनको छोड़कर शेष तीन प्रकारका वचन और चार प्रकारका मन, इनमें एक संज्ञी पर्याप्त ही जीवसमास है और अनुभय वचनमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय संज्ञी पंचेन्द्रिय ये पाँच जीवसमास होते हैं।

ओरालं पज्जत्ते, थावरकायादि जाव जोगो त्ति ।
तम्मिस्समपज्जत्ते, चदुगुणठाणेसु णियमेण ॥ ६८० ॥

औरालं पर्याप्ते स्थावरकायादि यावत् योगीति ।
तन्मिश्रमपर्याप्ते चतुर्गुणस्थानेषु नियमेन ॥ ६८० ॥

अर्थ—औदारिककाययोग, स्थावर एकेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगी पर्यन्त होता है और औदारिक मिश्रकाययोग नियमसे चार अपर्याप्त गुणस्थानोंमें ही होता है। औदारिक काययोगमें पर्याप्त सात जीवसमास होते हैं, और मिश्रयोगमें अपर्याप्त सात जीवसमास[2] हैं।

उन अपर्याप्त चार गुणस्थानोंको गिनाते हैं जिनमें कि औदारिक मिश्रकाययोग पाया जाता है—

मिच्छे सासणसम्मे, पुंवेदयदे कवाडजोगिम्मि ।
णरतिरिये वि य दोण्णि वि, होंति त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६८१ ॥

मिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वे पुंवेदायते कपाटयोगिनि ।
नरतिरश्चोरपि च द्वावपि भवन्तीति जिनैर्निदिष्टम् ॥ ६८१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, पुरुषवेदके उदयसंयुक्त असंयत तथा कपाट समुद्घात करनेवाले सयोगकेवली इन चार स्थानोंमें ही औदारिकमिश्रकाययोग होता है। तथा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों ही मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

वेगुव्वं पज्जत्ते, इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु ।
सुरणिरयचउट्ठाणे, मिस्से ण हि मिस्सजोगो हु ॥ ६८२ ॥

वैगूर्वं पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रं तु ।
सुरनिरयचतुःस्थाने मिश्रे न हि मिश्रयोगो हि ॥ ६८२ ॥

---

१. गुणस्थानोंका क्रम गुणस्थानाधिकार गाथा नं. ९, १० के अनुसार समझना चाहिए।

२. इनमें एक सयोगीको मिलानेसे आठ जीवसमास होते हैं।

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतपर्यन्त चारों ही गुणस्थानवाले देव और नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक काययोग होता है और अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रकाययोग होता है; किन्तु यह मिश्रकाययोग चार गुणस्थानोंमेंसे मिश्रगुणस्थानमें नहीं हुआ करता; क्योंकि कोई भी मिश्रकाययोग कहीं भी मिश्रगुणस्थानमें नहीं पाया जाता। वैक्रियिककाययोगमें एक संज्ञीपर्याप्त ही जीवसमास है और मिश्रयोगमें एक संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त ही जीवसमास है।

आहारो पज्जत्ते, इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु।
अंतोमुहुत्तकाले, छट्ठगुणे होदि आहारो ॥ ६८३ ॥

आहारः पर्याप्ते इतरे खलु भवति तस्य मिश्रस्तु।
अन्तर्मुहूर्तकाले षष्ठगुणे भवति आहारः ॥ ६८३ ॥

अर्थ—आहारककाययोग पर्याप्त अवस्थामें होता है और आहारकमिश्रयोग अपर्याप्त अवस्थामें होता है। ये दोनों ही योग छट्ठे गुणस्थानवाले मुनिके ही होते हैं और इनके उत्कृष्ट और जघन्य कालका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त ही है।

भावार्थ—यहाँपर जो पर्याप्तता या अपर्याप्तता कही है वह आहारक शरीरकी अपेक्षासे कही है, औदारिक शरीरकी अपेक्षासे नहीं कही है; क्योंकि औदारिकशरीरसम्बन्धी अपर्याप्तता छट्ठे गुणस्थानमें नहीं होती। जीवसमास आहारककाययोगका १ संज्ञीपर्याप्त और आहारक मिश्रकाययोगका एक संज्ञी अपर्याप्त और गुणस्थान दोनोंका एक छट्ठा ही है।

ओरालियमिस्सं वा, चउगुणठाणेसु होदि कम्मइयं।
चदुगदिविग्गहकाले, जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे ॥ ६८४ ॥

औरालिकमिश्रो वा चतुर्गुणस्थानेषु भवति कार्मणम्।
चतुर्गतिविग्रहकाले योगिनश्च प्रतरलोकपूरणके ॥ ६८४ ॥

अर्थ—औदारिक मिश्रयोगकी तरह कार्मण योग भी उक्त प्रथम द्वितीय चतुर्थ ये तीन और सयोगकेवल इस तरह चार गुणस्थानोंमें और चारों गतिसम्बन्धी विग्रहगतियोंके कालमें होता है, विशेषता केवल इतनी है कि औदारिकमिश्रयोगको जो सयोगकेवलिगुणस्थानमें बताया है सो कपाटसमुद्घातके समयमें बताया है और कार्मणयोगको प्रतर तथा लोकपूरण समुद्घात समयमें बताया है। यहांपर कार्मणकाययोगमें जीवसमास भी औदारिकमिश्रकी तरह आठ होते हैं।

थावरकायप्पहुदी, संढो सेसा असण्णिआदी य।
अणियट्टिस्स य पढमो, भागो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ६८५ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः षण्ढः शेषा असंज्ञ्यादयश्च।
अनिवृत्तेश्च प्रथमो भाग इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६८५ ॥

अर्थ—वेदमार्गणाके तीन भेद हैं—स्त्री, पुरुष, नपुंसक। इनमें नपुंसक वेद स्थावरकाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके पहले सवेद भाग पर्यन्त रहता है अतएव इसमें गुणस्थान नव और जीवसमास चौदह होते हैं। शेष स्त्री और पुरुषवेद असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके सवेद भाग तक होते हैं। यहाँपर गुणस्थान तो पहलेकी तरह नव ही हैं; किन्तु जीवसमास असंज्ञी पंचेन्द्रियके पर्याप्त अपर्याप्त और संज्ञीके पर्याप्त अपर्याप्त इसतरह चार ही होते हैं।

जीवसमास चौदह होते हैं। अवधिदर्शनमें गुणस्थान नव[1] और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं। केवलदर्शनमें गुणस्थान दो और जीवसमास भी दो होते हैं। विशेषता यह है कि यह (केवलदर्शन) गुणस्थानातीत सिद्धोंके भी होता है।

लेश्याकी अपेक्षासे गुणस्थान और जीयसमासोंका वर्णन करते हैं—

थावरकायप्पहुदी, अविरदसम्मो त्ति असुहतियलेस्सा।
सण्णीदो अपमत्तो, जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥ ६९२ ॥

स्थावरकायप्रभृति अविरतसम्यगिति अशुभत्रिकलेश्याः।
संज्ञितः अप्रमत्तो यावत्तु शुभास्तिस्रो लेश्याः ॥ ६९२ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेदोंको पहले बता चुके हैं। उनमें आदिकी कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्या स्थावरकायसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त होती हैं और अन्तकी पीत पद्म शुक्ल ये तीन शुभलेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती हैं।

भावार्थ—अशुभ लेश्याओंमें गुणस्थान चार और जीवसमास चौदह होते हैं, तथा शुभ-लेश्याओंमें गुणस्थान सात और जीवसमास दो होते हैं।

इस कथनसे शुक्ललेश्या भी सातवें गुणस्थानतक ही सिद्ध होती है, अतः शुक्ललेश्याके विषयमें विशेष अर्थको सूचित करनेवाला पृथक् कथन करते हैं।

णवरि य सुक्का लेस्सा, सजोगिचरिमो त्ति होदि णियमेण।
गयजोगिम्मि वि सिद्धे, लेस्सा णत्थि त्ति णिद्दिट्ठं ॥ ६९३ ॥

नवरि च शुक्ला लेश्या सयोगिचरम इति भवति नियमेन।
गतयोगेऽपि च सिद्धे लेश्या नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६९३ ॥

अर्थ—शुक्ललेश्यामें यह विशेषता है कि वह संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवल गुणास्थानपर्यन्त होती है और इसमें जीवसमास दो ही होते हैं। इसके ऊपर अयोगकेवल चौद-हवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा सिद्धोंके कोई भी लेश्या नहीं होती यह परमागममें कहा है।

भव्यत्वमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं—

थावरकायप्पहुदी, अजोगिचरिमो त्ति होंति भवसिद्धा।
मिच्छाइट्ठिट्ठाणे, अभव्वसिद्धा हवंति त्ति ॥ ६९४ ॥

स्थावरकायप्रभृति आयोगिचरम इति भवन्ति भवसिद्धाः।
मिथ्यादृष्टिस्थाने अभव्यसिद्धा भवन्तीति ॥ ६९४ ॥

अर्थ—भव्यसिद्ध स्थावरकाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगिपर्यन्त होते हैं और अभव्यसिद्ध मिथ्यादृष्टिस्थानमें ही रहते हैं।

भावार्थ—भव्यत्वमार्गणाके दो भेद हैं—एक भव्य और दूसरे अभव्य—इन्हींको भव्यसिद्ध और

---

१. क्योंकि यह समीचीन अवधिज्ञानकी अपेक्षासे कथन है। जो मिथ्या अवधि है उसको विभंग कहते हैं। विभंगके पहले दर्शन नहीं होता। अवधिदर्शनके असंयतसे क्षीणकषाय तक ९ गुणस्थान हैं।

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमविरतसम्यगादिशांतमोहइति ।
क्षायिकं सम्यक्त्वं च तथा सिद्धइति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६९६ ॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर उपशांतमोहपर्यन्त होता है। क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर अयोगकेवलिगुणस्थान पर्यन्त होता है। द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त और देव पर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। क्षायिक सम्यक्त्वमें संज्ञीपयप्ति अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। तथा यह क्षायिक सम्यक्त्व सिद्धोंके भी होता है, परन्तु वहाँपर कोई भी जीवसमास नहीं होता।

भावार्थ—यहां पर चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ गुणस्थानमें जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बताया है उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातवें गुणस्थानमें ही उत्पन्न होता है, परन्तु वहाँ से श्रेणिका आरोहण करके जब ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे गिरता है, तब छट्ठे पांचवें चौथे गुणस्थानमें भी आता है। इस अपेक्षासे इन गुणस्थानोंमें भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है।

संज्ञीमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं—

सण्णी सण्णिप्पहुदी, खीणकसाओत्ति होदि णियमेण ।
थावरकायप्पहुदी, असण्णित्ति हवे असण्णी हु ॥ ६९७ ॥

संज्ञी संज्ञीप्रभृतिः क्षीणकषाय इति भवति नियमेन ।
स्थावरकायप्रभृतिः असंज्ञीति भवेदसंज्ञी हि ॥ ६९७ ॥

अर्थ—संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं। इनमें गुणस्थान बारह और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं। असंज्ञी जीव स्थावरकायसे लेकर असंज्ञी-पंचेन्द्रिय पर्यन्त होते हैं। इनमें गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही होता है, और जीवसमास संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंको छोड़कर शेष बारह होते हैं।

आहार मार्गणामें प्ररूपणा करते हैं—

थावर कायप्पहुदी, सजोगिचरिमोत्ति होदि आहारी ।
कम्मइय अणाहारी, अजोगिसिद्धे वि णायव्वो ॥ ६९८ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः सयोगिचरम इति भवति आहारी ।
कार्मण अनाहारी अयोगिसिद्धेपि ज्ञातव्यः ॥ ६९८ ॥

अर्थ—स्थावरकाय मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त आहारी होते हैं। और कार्मण-काय योगवाले तथा अयोगकेवली और सिद्ध अनाहारक समझने चाहिये।

भावार्थ—कार्मणकाययोग और अयोग केवल गुणस्थानवाले जीवोंको छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव आहारक होते हैं। आहारक जीवोंके आदिके तेरह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं। अनाहारक जीवोंके गुणस्थान पाँच (मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी अयोगी) और जीवसमास सात अपर्याप्त और एक अयोगीसम्बन्धी पर्याप्त इस प्रकार आठ होते हैं। गुणस्थानों और जीवसमासोंसे रहित सिद्ध भी अनाहारक हैं।

किस किस गुणस्थानमें कौन कौनसा जीवसमास होता है यह बताते हैं—

मिच्छे चोद्दस जीवा, सासण अयदे पमत्तविरदे य ।
सण्णिदुगं सेसगुणे, सण्णीपुण्णो दु खीणोत्ति ॥ ६९९ ॥

मिथ्यात्वे चतुर्दश जीवाः सासनायते प्रमत्तविरते च ।
संज्ञिद्विकं शेषगुणे संज्ञिपूर्णस्तु क्षीण इति ॥ ६९९ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें चौदह जीवसमास हैं । [1]सासादन असंयत प्रमत्तविरत और "च" शब्दसे सयोगकेवली इनमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं। शेष क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानोंमें तथा तु शब्दसे अयोगकेवली गुणस्थानमें संज्ञी पर्याप्त एक ही जीवसमास होता है ।

मार्गणास्थानोंमें जीवसमासोंको संक्षेपसे दिखाते हैं—

तिरियगदीए चोद्दस, हवंति सेसेसु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेवं, णेयाणि समासठाणाणि ॥ ७०० ॥

तिर्यग्गतौ चतुर्दश भवन्ति शेषेषु जानीहि द्वौ द्वौ तु ।
मार्गणास्थानस्यैवं ज्ञेयानि समासस्थानानि ॥ ७०० ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके जीवसमासोंको संक्षेपसे इसप्रकार समझना चाहिये कि तिर्यग्गति-मार्गणामें तो चौदह जीवसमास होते हैं । और शेष समस्त गतियोंमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो दो ही जीवसमास होते हैं । शेष मार्गणास्थानोंमें यथायोग्य पूर्वोक्त क्रमानुसार जीवसमास घटित कर लेने चाहिये ।

गुणस्थानोंमें पर्याप्ति और प्राणोंको बताते हैं—

पज्जत्ती पाणावि य, सुगमा भाविंदियं ण जोगिम्हि ।
तहिं वाचुस्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ ॥ ७०१ ॥

पर्याप्तयः प्राणा अपि च सुगमा भावेन्द्रियं न योगिनि ।
तस्मिन् वागुच्छासायुष्ककायत्रिकद्विकमयोगिन आयुः ॥ ७०१ ॥

अर्थ—पर्याप्ति और प्राण ये सुगम हैं, इसलिये यहाँ पर इनका पृथक् उल्लेख नहीं करते; क्योंकि बारहवें गुणस्थानतक सबही पर्याप्ति और सबही प्राण होते हैं । तेरहवें गुणस्थानमें भावेन्द्रिय नहीं होती; किन्तु द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा छहों पर्याप्ति होती हैं । परन्तु प्राण यहाँपर चार ही होते हैं—वचन श्वासोच्छ्वास आयु और कायबल[2] । इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होने पर तीन और श्वासोच्छ्वासका भी अभाव होनेपर दो ही प्राण रहते हैं । चौदहवें गुणस्थानमें काययोगका भी अभाव होजानेसे केवल आयु प्राण ही रहता है ।

क्रमप्राप्त संज्ञाओंको गुणस्थानोंमें बताते हैं—

छट्ठोत्ति पढमसण्णा, सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा ।
पुव्वो पढमणियट्टी, सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ ॥ ७०२ ॥

---

१. गाथा नं० ६९५ की टीका में सासादन मार्गणामें सात भी जीवसमास बताये हैं ।

२. द्रव्यकी अपेक्षा पाँच इन्द्रिय और मन भी पाया जाता है ।

पष्ठ इति प्रथमसंज्ञा सकार्या शेषाश्च कारणापेक्षाः ।
अपूर्वः प्रथमानिवृत्तिः सूक्ष्म इति क्रमेण शेषाः ।।७०२।।

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तपर्यन्त आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारों ही संज्ञाएँ कार्यरूप होती हैं। किन्तु इसके ऊपर अप्रमत्त आदिमें जो तीन आदिक संज्ञा होती हैं वे सब कारणकी अपेक्षासे ही बताई हैं। कार्यरूप नहीं हुआ करतीं। संज्ञाओं के कारणभूत कर्मोंके अस्तित्व की अपेक्षासे ही वहाँ पर वे संज्ञाएँ मानी गई हैं। छठे गुणस्थानमें आहारसंज्ञाकी व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष तीन संज्ञाएँ कारणकी अपेक्षासे अपूर्वकरणपर्यन्त होती हैं। यहाँपर (अपूर्वकरणमें) भयसंज्ञाकी व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष दो संज्ञाएँ अनिवृत्तिकरणके प्रथम सवेदभागपर्यन्त होती हैं। यहाँ पर मैथुन संज्ञाका विच्छेद होनेसे सूक्ष्म सांपरायमें एक परिग्रह संज्ञा ही होती है। इस परिग्रह संज्ञाका भी यहाँ विच्छेद होजानेसे ऊपर उपशांतकषाय आदि गुणस्थानोंमें कोई भी संज्ञा नहीं होती।

मग्गण उवजोगावि य, सुगमा पुव्वं परूविदत्तादो ।
गदिआदिसु मिच्छादी, परूविदे रूविदा होंति ।। ७०३ ।।

मार्गणा उपयोगा अपि च सुगमाः पूर्वं प्ररूपितत्वात् ।
गत्यादिषु मिथ्यात्वादौ प्ररूपिते रूपिता भवंति ।। ७०३ ।।

अर्थ—पहले मार्गणास्थानकमें गुणस्थान और जीवसमासादिका निरूपण कर चुके हैं इसलिये यहाँ गुणस्थानके प्रकरणमें मार्गणा और उपयोगका निरूपण करना सुगम है।

भावार्थ—मार्गणा और उपयोग किस तरह सुगम हैं यह संक्षेपमें यहाँ पर स्पष्ट करते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नरकादि चारों ही गति पर्याप्त और अपर्याप्त होती हैं। सासादन गुणस्थानमें नरकगतिको छोड़कर शेष तीनों गति पर्याप्त अपर्याप्त होती हैं और नरकगति पर्याप्त हो है। मिश्रगुणस्थानमें चारों ही गति पर्याप्त ही होती हैं। असंयत गुणस्थानमें प्रथम नारक पर्याप्त भी है अपर्याप्त भी है। शेष छहों नारक पर्याप्त ही हैं। तिर्य्यग्गतिमें भोगभूमिज तिर्यंच पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं। कर्मभूमिज तिर्यंच पर्याप्त ही होते हैं। मनुष्यगतिमें भोगभूमिज मनुष्य और कर्मभूमिज मनुष्य भी पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं। देवगतिमें भवनत्रिक पर्याप्त ही होते हैं। और वैमानिक देव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। देशसंयत गुणस्थानमें कर्मभूमिज तिर्यंच और मनुष्य ये दो ही और पर्याप्त ही होते हैं। प्रमत्त गुणस्थानमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। किन्तु आहारक शरीरकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं। अप्रमत्तसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। सयोगकेवलीमें पर्याप्त तथा समुद्घातकी अपेक्षा अपर्याप्त भी मनुष्य होते हैं। अयोगकेवलियोंमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं। इन्द्रियमार्गणाके पाँच भेद हैं। ये पाँचों ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं। सासादनमें पाँचों अपर्याप्त होते हैं, और पंचेन्द्रिय पर्याप्त भी होता है। अर्थात् अपर्याप्त अवस्थामें पाँचों ही इन्द्रियवालोंके सासादन गुणस्थान होता[1] है; किन्तु पर्याप्त अवस्थामें पंचेन्द्रियके ही सासादन

१, २. यह कथन जीव प्रबोधिनी टीकाके अनुसार है, विशेषकेलिये देखो गाथा ६९५ तथा ६९९ की टिप्पणी। तथा जी. प्र. के यहांके ये वाक्य कि "सासादने अपर्याप्ताः पंच पर्याप्तपञ्चेन्द्रियश्च"। तथा "सासादने बादपृथ्व्यब्वनस्पतिस्थावरकायाः द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञित्रसकायाश्चापर्याप्ताः संज्ञित्रसकायः उभयश्चेति षडजीवनिकायः।

इनमें आदिके तीन मिथ्या और अन्तके पाँच ज्ञान सम्यक् होते हैं। मिथ्यादृष्टि और सासादनमें आदिके तीन मिथ्या ज्ञान होते हैं। मिश्रमें भी आदिके तीन ही ज्ञान होते हैं, परन्तु वे विपरीत या समीचीन नहीं होते; किन्तु मिश्ररूप होते हैं। असंयत और देशसंयतमें पाँच सम्यग्ज्ञानोंमेंसे आदिके तीन होते हैं। प्रमत्तादिक क्षीणकषायपर्यन्त आदिके चार सम्यग्ज्ञान होते हैं। सयोगी अयोगीमें केवलज्ञान ही होता है। *संयमका सामान्यकी अपेक्षा एक सामयिक; किन्तु विशेष अपेक्षा सात भेद* हैं। असंयम देशसंयम सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय यथाख्यात। इनमें आदिके चार गुणस्थानोंमें असंयम और पाँचवें गुणस्थानमें देशसंयम होता है। प्रमत्त अप्रमत्तमें सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन संयम होते हैं। आठवें नववेंमें सामायिक छेदोपस्थापना दो ही संयम होते हैं। दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय संयम होता है। इसके ऊपर सब गुणस्थानोंमें यथाख्यात संयम ही होता है। दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु अचक्षु अवधि केवल। मिश्र गुणस्थान पर्यन्त तीन गुणस्थानोंमें चक्षु अचक्षु दो दर्शन होते हैं। असंयतादि क्षीणकषाय पर्यन्त चक्षु अचक्षु अवधि ये तीन दर्शन होते हैं। संयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलदर्शन ही होता है। लेश्याके छह भेद हैं, कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल। इनमें आदिकी तीन अशुभ और अन्तकी तीन शुभ हैं। आदिके चार गुणस्थानोंमें छहों लेश्या होती हैं। देशसंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त तीन शुभ लेश्या होती हैं। इसके ऊपर सयोगी पर्यन्त शुक्ल लेश्या ही होती है। और अयोगी गुणस्थान लेश्यारहित है। भव्य मार्गणाके दो भेद हैं, भव्य अभव्य। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें भव्य अभव्य दोनों होते हैं। सासादनादि क्षीणकषायपर्यन्त भव्य ही होते हैं। सयोगी और अयोगी भव्य अभव्य दोनोंसे रहित हैं। सम्यक्त्वके छह भेद हैं, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक। मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व, सासादनमें सासादन, मिश्रमें मिश्र सम्यक्त्व होता है। असंयतसे अप्रमत्ततक उपशम वेदक क्षायिक तीनों सम्यक्त्व होते हैं। उसके ऊपर उपशम श्रेणिमें-अपूर्वकरण आदि उपशांतकषायतक उपशम और क्षायिक दो सम्यक्त्व होते हैं। क्षपक श्रेणीमें-अपूर्वकरण आदि समस्त गुणस्थानोंमें तथा सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। संज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं–एक संज्ञी दूसरा असंज्ञी। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें संज्ञी असंज्ञी दोनों ही मार्गणा होती हैं। इसके आगे सासादन आदि क्षीणकषायपर्यन्त संज्ञी मार्गणा ही होती है। सयोगी अयोगीके मन नहीं होता अतः कोई भी संज्ञा नहीं होती। आहारमार्गणाके भी दो भेद हैं—एक आहार दूसरा अनाहार। मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी इनमें आहार अनाहार दोनों ही होते हैं। अयोगकेवली अनाहार ही होते हैं। शेष नव गुणस्थानोंमें आहार ही होता है।

गुणस्थानोंमें मार्गणाको बताकर अब उपयोगको बताते हैं—

दोण्हं पंच य छच्चेव दोसु मिस्सम्मि होंति वामिस्सा।
सत्तुवजोगा सत्तसु, दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥ ७०५ ॥

द्वयोः पञ्च च षट् चैव द्वयोर्मिश्रे भवन्ति व्यामिश्राः।
सप्तोपयोगाः सप्तसु द्वौ चैव जिने च सिद्धे च ॥ ७०५ ॥

अर्थ—दो गुणस्थानोंमें पाँच, और दोमें छह, मिश्रमें मिश्ररूप छह, सात गुणस्थानोंमें सात, जिन और सिद्धोंके दो उपयोग होते हैं।

भावार्थ—उपयोगके मूलमें दो भेद हैं, एक ज्ञान दूसरा दर्शन। ज्ञानके आठ भेद हैं, इनके

इष्टदेवको नमस्कार करते हुए आलापाधिकारको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

गोयमथेरं पणमिय, ओघादेसेसु वीसभेदाणं।
जोजणिकाणालावं, वोच्छामि जहाकमं सुणह ॥ ७०६ ॥

गौतमस्थविरं प्रणम्य ओघादेशयोः विंशभेदानाम्।
योजनिकानामालापं वक्ष्यामि यथाक्रमं शृणुत: ॥ ७०६ ॥

अर्थ—सिद्धोंको या वर्धमान-तीर्थंकरको यद्वा गौतमगणधरस्वामीको अथवा साधुसमूहको नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणाओंके योजनिकारूप बीस भेदोंके आलापको क्रमसे कहता हूँ सो सुनो।

भावार्थ—योजनाका आशय जोड़नेका है, पहले जो बीस प्ररूपणाओंका ग्रन्थके आरम्भमें ही गाथा नं० २ के द्वारा उल्लेख किया है, उनमेंसे ओघ-सामान्य या गुणस्थान तथा आदेश विशेष-मार्गणा इन दो स्थानोंमें सभी प्ररूपणाओंको जोड़कर भंगरूपसे इस अधिकारमें बताया जायगा। इसीलिए इनका नाम आलापाधिकार है।

इस अधिकारके प्रारम्भमें "गौतम स्थविर" को नमस्कार किया गया है। इस शब्दके तीन अर्थ किये हैं; सिद्ध परमात्मा, अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान भगवान् और उनके मुख्य गणधर[1]—गौतमस्वामी।

ओघे चोदसठाणे, सिद्धे वीसदिविहाणमालावा।
वेदकपायविभिण्णे अणियट्टीपंचभागे य ॥७०७॥

ओघे चतुर्दशस्थाने सिद्धे विंशतिविधानामालापाः।
वेदकपायविभिन्ने अनिवृत्ति पंचभागे च ॥ ७०७ ॥

अर्थ—परमागममें प्रसिद्ध चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणस्थानोंमें उक्त बीस प्ररूपणाओंके सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त ये तीन आलाप होते हैं। वेद और कपायकी अपेक्षासे अनिवृत्ति-

१. विशिष्टा गौर्भूमिः गोतमा-अष्टमपृथ्वी सा स्थविरा-नित्या यस्य स गोतमस्थविरः–सिद्धसमूहः स एव गौतमस्थविरः। स्वार्थे अण् विधानात्। गौतमः स्थविरो–मुख्यो गणधरो यस्य स श्री वर्धमानो भगवान्। विशिष्टा गौः-वाणी यस्यासौ गोतमः स एव गौतमः–गणधरः सचासौ स्थविरश्च, जी. प्र.। आदिपुराण परमागमे तु–गौतमा स्यात् प्रकृष्टा गौः सा च सर्वज्ञभारती आदि।

करणके पाँच भागोंमें पाँच आलाप भिन्न भिन्न समझने चाहिये।

गुणस्थानोंमें आलापोंको बताते हैं—

ओघे मिच्छदुगेवि य, अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि।
तिण्णेव य अलावा, सेसेसिक्को हवे णियमा ॥७०८॥

ओघे मिथ्यात्वद्विकेऽपि च अयतप्रमत्तयोः सयोगिस्थाने।
त्रय एव चालापाः शेषेष्वेको भवेत् नियमात् ॥ ७०८ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वद्विक अर्थात् मिथ्यात्व और सासादन तथा असंयत प्रमत्त और सयोगकेवली इन गुणस्थानोंमें तीनों आलाप होते हैं। शेष गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही अलाप होता है।

इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं।

सामण्णं पज्जत्तमपज्जत्तं चेदि तिण्णि अलावा।
दुवियप्पमपज्जत्तं, लद्धीणिव्वत्तगं चेदि ॥७०९॥

सामान्यः पर्याप्तः अपर्याप्तश्चेति त्रय आलापाः।
द्विविकल्पोऽपर्याप्तो लब्धिर्निर्वृत्तिकश्चेति ॥ ७०९ ॥

अर्थ—आलापके तीन भेद हैं—सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त। अपर्याप्तके दो भेद हैं—एक लब्ध्यपर्याप्त दूसरा निर्वृत्त्यपर्याप्त।

दुविहं पि अपज्जत्तं, ओघे मिच्छेव होदि णियमेण।
सासणअयदपमत्ते, णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि ॥७१०॥

द्विविधोप्यपर्याप्त ओघे मिथ्यात्व एव भवति नियमेन।
सासादनायतप्रमत्तेषु निर्वृत्त्यपूर्णको भवति ॥ ७१० ॥

अर्थ—*दोनों प्रकारके अपर्याप्त आलाप समस्त गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं।* सासादन असंयत प्रमत्त इनमें निर्वृत्यपर्याप्त आलाप होता है।

भावार्थ—अपर्याप्तके जो दो भेद गिनाये हैं उनमेंसे प्रथम गुणस्थानमें दोनों और सासादन असंयत प्रमत्त इनमें एक निर्वृत्त्यपर्याप्त ही होता है; किन्तु सामान्य और पर्याप्त ये दोनों आलाप सर्वत्र–पाँचों गुणस्थानोंमें होते हैं।

जोगं पडि जोगिजिणे, होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु।
अवसेसणवट्ठाणे, पज्जत्तालावगो एक्को ॥ ७११ ॥

योगं प्रति योगिजिने भवति हि नियमादपूर्णकत्वं तु।
अवशेषनवस्थाने पर्याप्तालापक एकः ॥ ७११ ॥

अर्थ—सयोगकेवलियोंमें योगकी (समुद्घातकी) अपेक्षासे नियमसे अपर्याप्तकता होती है; इसलिए उक्त पाँच गुणस्थानोंमें तीन तीन आलाप और शेष नव गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है।

भावार्थ—गुणस्थानोंमें जिस क्रमसे आलापोंका वर्णन किया है उस ही क्रमसे मनुष्यगति भी आलापोंको समझना चाहिये; किन्तु विशेषता यह है कि योनिमत् मनुष्यके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है।

मणुसिणि पमत्तविरदे, आहारदुगं तु णत्थि णियमेण ।
अवगदवेदे मणुसिणि, सण्णा भूदगदिमासेज्ज ॥ ७१५ ॥

मानुष्यां प्रमत्तविरते आहारद्विकं तु नास्ति नियमेन ।
अपगतवेदायां मानुष्यां संज्ञा भूतगतिमासाद्य ॥ ७१५ ॥

अर्थ—जो द्रव्यसे पुरुष है; किन्तु भावकी अपेक्षा स्त्री है ऐसे प्रमत्तविरत जीवके आहारक आङ्गोपाङ्ग नामकर्मका उदय नियमसे नहीं होता। वेदरहित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले भावस्त्रीमनुष्यके जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगतिन्यायकी अपेक्षासे कही है।

भावार्थ—जिस तरह पहले कोई सेठ था परन्तु वर्तमानमें वह सेठ नहीं है तो भी पहले की अपेक्षासे उसको सेठ कहते हैं। इसी तरह वेदरहित जीवके यद्यपि वर्तमानमें मैथुनसंज्ञा नहीं है तथापि पहले थी इसलिये वहाँ पर मैथुनसंज्ञा कही जाती है। इस गाथा में जो तु शब्द पड़ा है उससे इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके उदयमें मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता। द्रव्यस्त्रीके पाँच ही गुणस्थान होते हैं; किन्तु भावमानुषीके चौदहों गुणस्थान होसकते हैं। इसमें भी भाववेद नौवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं रहता। तथा आहारक ऋद्धि और परिहारविशुद्धि संयमवाले जीवोंके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता।

णरलद्धिअपज्जत्ते, एक्को दु अपुण्णगो दु आलावो ।
लेस्साभेदविभिण्णा, सत्त वियप्पा सुरट्ठाणा ॥ ७१६ ॥

नरलब्ध्यपर्याप्ते एकस्तु अपूर्णकस्तु आलापः ।
लेश्याभेदविभिन्नानि सप्त विकल्पानि सुरस्थानानि ॥ ७१६ ॥

अर्थ—मनुष्यगतिमें जो लब्ध्यपर्याप्तक हैं उनके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है। देवगतिमें लेश्याभेदकी अपेक्षासे सात विकल्प होते हैं।

भावार्थ—देवगतिमें लेश्याकी अपेक्षासे सात भेदोंको पहले बताचुके हैं कि भवनत्रिकमें तेजका जघन्य अंश, सौधर्मयुगलमें तेजका मध्यमांश, सनत्कुमार युगलमें तेजका उत्कृष्ट अंश और पद्मका जघन्य अंश, ब्रह्मादिक छह स्वर्गोमें पद्मका मध्यमांश, शतारयुगलमें पद्मका उत्कृष्ट और शुक्लका जघन्य अंश, आनतादिक तेरहमें शुक्लका मध्यमांश, अनुदिश और अनुत्तरमें शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है।

सव्वसुराणं ओघे, मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव ।
णवरि य भवणतिकप्पित्थीणं च य अविरदे पुण्णो ॥ ७१७ ॥

सर्वसुराणामोघे मिथ्यात्वद्विके अवरिते च त्रय एव ।
नवरि च भवनत्रिकल्पस्त्रीणां च च अविरते पूर्णः ॥ ७१७ ॥

अर्थ—समस्त देवोंके चार गुणस्थान सम्भव हैं। उनमेंसे मिथ्यात्व सासादन अविरत

बादरसुहमेइंदियबितिचउरिंदियअसण्णिजीवाणं ।
ओघे पुण्णे तिण्णि य, अपुण्णगे पुण अपुण्णो दु ॥ ७१९ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवानाम् ।
ओघे पूर्णे त्रयश्च अपूर्णके पुनः अपूर्णस्तु ॥ ७१९ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय—बादर सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंमेंसे जिनके पर्याप्ति—नामकर्मका उदय है उनके तीन आलाप होते हैं और जिनके अपर्याप्ति नामकर्मका उदय होता है उनके लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है ।

भावार्थ—निर्वृत्यपर्याप्तके भी पर्याप्ति नामकर्मका ही उदय रहता है अतः उसके भी तीन ही आलाप होते हैं ।

सण्णी ओघे मिच्छे, गुणपडिवण्णे य मूलआलावा ।
लद्धियपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७२० ॥

संज्ञ्योघे मिथ्यात्वे गुणप्रतिपन्ने च मूलालापाः ।
लब्ध्यपूर्णे एकः अपर्याप्तो भवति आलापः ॥ ७२० ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके जितने गुणस्थान होते हैं उनमेंसे मिथ्यादृष्टि या विशेष गुणस्थान-को प्राप्त होनेवालेके मूलके समान ही आलाप समझने चाहिये और लब्ध्यपर्याप्तक संज्ञीके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है ।

भावार्थ—संज्ञी जीवोंमेंसे तिर्यञ्चके पाँचही गुणस्थान होते हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व सासादन असंयतमें तीन तीन आलाप होते हैं और मिश्र देशसंयतमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । दूसरे संज्ञी जीवोंमें सामान्य गुणस्थानोंमें जो आलाप कहे हैं उसी तरह समझना चाहिये । संज्ञी जीवोंमें नारकी और देवोंके चार चार तथा मनुष्योंके चौदहों गुणस्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त कायमार्गणाके आलापोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं—

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गदिणिगोदगे तिण्णि ।
ताणं थूलिदरेसु वि, पत्तेगे तद् भेदेवि ।। ७२१ ।।
तसजीवाणं ओघे, मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ ।
लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ।। ७२२ ।। जुम्मं

भ्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतनिगोदके त्रयः ।
तेषां स्थूलेतरयोरपि प्रत्येके तद्द्विभेदेऽपि ।। ७२१ ।।
त्रसजीवानामोघे मिथ्यात्वादिगुणेऽपि ओघ आलापः ।
लब्ध्यपूर्णे एक अपर्याप्तो भवत्यालापः ।। ७२२ ।। युग्मम्

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद चतुर्गतिनिगोद इनके स्थूल और सूक्ष्म भेदोंमें तथा प्रत्येकके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित इन दो भेदोंमें भी तीन तीन आलाप होते हैं। त्रसजीवोंमें *सामान्यतया चौदह गुणस्थान होते हैं। इनके आलापोंमें भी कुछ विशेषता नहीं है। गुणस्थान* सामान्यके जिस तरह आलाप बताये हैं उसी तरह यहाँ भी समझने चाहिये। पृथ्वीसे लेकर त्रस-पर्यंत जितने भेद हैं उनमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है।

योगमार्गणामें आलापोंको बताते हैं—

एक्कारसजोगाणं, पुण्णगदाणं सपुण्ण आलाओ ।
मिस्सचउक्कस्स पुणो, सगएक्कअपुण्ण आलाओ ।। ७२३ ।।

एकादशयोगानां पूर्णगतानां स्वपूर्णालापः ।
मिश्रचतुष्कस्य पुनः स्वकैकापूर्णालापः ।। ७२३ ।।

अर्थ—चार मनोयोग चार वचनयोग सात काययोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे औदारिक मिश्र वैक्रियिकमिश्र आहारकमिश्र कार्माण इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह योगोंमें अपना अपना एक पर्याप्त आलाप होता है। और शेष उक्त चार योगोंमें अपना अपना एक अपर्याप्त आलाप होता ही है।

अवशिष्ट मार्गणाओंके आलापोंको संक्षेपमें कहते हैं—

वेदादाहारोत्ति य, सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ ।
णवरि य संढित्थीणं, णत्थि हु आहारगाण दुगं ।। ७२४ ।।

वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोघ आलापः ।
नवरि च षण्ढस्त्रीणां नास्ति हि आहारकाणां द्विकम् ।। ७२४ ।।

अर्थ—वेदमार्गणासे लेकर आहारमार्गणापर्यन्त दशमार्गणाओंमें अपने अपने गुणस्थानके समान आलाप होते हैं। विशेषता इतनी है कि जो भावनपुंसक या भावस्त्रीवेदी हैं उनके आहारक-काययोग और आहारक-मिश्रकाययोग नहीं होता।

भावार्थ—जिस जिस मार्गणामें जो जो गुणस्थान सम्भव हैं और उनमें जो जो आलाप बताये हैं वे ही आलाप उन उन मार्गणाओंमें होते हैं, इनको यथासम्भव लगा लेना चाहिये। गुण-स्थानोंके आलापोंको बता चुके हैं अतः पुनः यहाँपर लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

वेद आदि दश मार्गणाओंमेंसे प्रत्येकमार्गणामें गुणस्थान क्रमसे सामान्यतया इस प्रकार

क्रमप्राप्त कायमार्गणाके आलापोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं—

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गदिणिगोदगे तिण्णि ।
ताणं थूलिदरेसु वि, पत्तेगे तद् भेदेवि ॥ ७२१ ॥
तसजीवाणं ओघे, मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ ।
लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७२२ ॥ जुम्मं

भ्वप्तेजोवायुनित्यचतुर्गतनिगोदके त्रयः ।
तेषां स्थूलेतरयोरपि प्रत्येके तद्द्विभेदेपि ॥ ७२१ ॥
त्रसजीवानामोघे मिथ्यात्वादिगुणेऽपि ओघ आलापः ।
लब्ध्यपूर्णे एक अपर्याप्तो भवत्यालापः ॥ ७२२ ॥ युग्मम्

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद चतुर्गतिनिगोद इनके स्थूल और सूक्ष्म भेदोंमें तथा प्रत्येकके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित इन दो भेदोंमें भी तीन तीन आलाप होते हैं। त्रसजीवोंमें सामान्यतया चौदह गुणस्थान होते हैं। इनके आलापोंमें भी कुछ विशेषता नहीं है। गुणस्थान सामान्यके जिस तरह आलाप बताये हैं उसी तरह यहाँ भी समझने चाहिये। पृथ्वीसे लेकर त्रस-पर्यंत जितने भेद हैं उनमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है।

योगमार्गणामें आलापोंको बताते हैं—

एक्कारसजोगाणं, पुण्णगदाणं सपुण्ण आलाओ ।
मिस्सचउक्कस्स पुणो, सगएक्कअपुण्ण आलाओ ॥ ७२३ ॥

एकादशयोगानां पूर्णगतानां स्वपूर्णालापः ।
मिश्रचतुष्कस्य पुनः स्वकैकापूर्णालापः ॥ ७२३ ॥

अर्थ—चार मनोयोग चार वचनयोग सात काययोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे औदारिक मिश्र वैक्रियिकमिश्र आहारकमिश्र कार्माण इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह योगोंमें अपना अपना एक पर्याप्त आलाप होता है। और शेष उक्त चार योगोंमें अपना अपना एक अपर्याप्त आलाप होता ही है।

अवशिष्ट मार्गणाओंके आलापोंको संक्षेपमें कहते हैं—

वेदादाहारोत्ति य, सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ ।
णवरि य संढित्थीणं, णत्थि हु आहारगाण दुगं ॥ ७२४ ॥

वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोघ आलापः ।
नवरि च षण्ढस्त्रीणां नास्ति हि आहारकाणां द्विकम् ॥ ७२४ ॥

अर्थ—वेदमार्गणासे लेकर आहारमार्गणापर्यन्त दशमार्गणाओंमें अपने अपने गुणस्थानके समान आलाप होते हैं। विशेषता इतनी है कि जो भावनपुंसक या भावस्त्रीवेदी हैं उनके आहारक-काययोग और आहारक-मिश्रकाययोग नहीं होता।

भावार्थ—जिस जिस मार्गणामें जो जो गुणस्थान सम्भव हैं और उनमें जो जो आलाप बताये हैं वे ही आलाप उन उन मार्गणाओंमें होते हैं, इनको यथासम्भव लगा लेना चाहिये। गुणस्थानोंके आलापोंको बता चुके हैं अतः पुनः यहाँपर लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

वेद आदि दश मार्गणाओंमेंसे प्रत्येकमार्गणामें गुणस्थान क्रमसे सामान्यतया इस प्रकार

अर्थ—सामान्य (गुणस्थान) या विशेपस्थानमें (मार्गणास्थानमें) संज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त मूलजीवसमासोंका जहां निरूपण किया है वहां उत्तर जीवसमासस्थानके भेद उन्नीसपर्यन्त होते हैं और इनका भी एक दो तीनके साथ गुणा करनेसे क्रमसे उन्नोस अडतीस और सत्तावन जीवसमासके भेद होते हैं।

भावार्थ—गुणस्थान और मार्गणाओंमें जहाँ संज्ञिपर्यन्त भेद बताये हैं, वहाँ ही जीवसमासके एकसे लेकर उन्नोस पर्यन्त भेद और पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंसे गुणा करनेको अपेक्षा अड़तोस भेद तथा पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त इन तीन भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा सत्तावन भेद भी समझने चाहिये। इसका विशेप स्वरूप जीवसमासाधिकारमें कह चुके हैं।

"गुणजीवे"—त्यादि गाथाके द्वारा बताये हुए वीस भेदोंकी योजना करते हैं—

वीरमुहकमलणिग्गयसयलसुयग्गहणपवउणसमत्थं ।
णमिऊणगोयममहं, सिद्धंतालावमणुवोच्छं ॥ ७२८ ॥

वीरमुखकमलनिर्गतसकलश्रुतग्रहणप्रकटनसमर्थम् ।
नत्वा गौतममहं सिद्धान्तालापमनुवक्ष्ये ॥ ७२८ ॥

अर्थ—अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानस्वामीके मुखकमलसे निर्गत समस्त श्रुतसिद्धान्तके ग्रहण करने और प्रकट करनेमें समर्थ श्रीगौतमस्वामीको नमस्कार करके मैं उस सिद्धान्तालापको कहूँगा जो कि वीर भगवान्के मुखकमलसे उपदिष्ट श्रुतमें वर्णित समस्त पदार्थोंके प्रकट करनेमें समर्थ है।

भावार्थ—जिस तरह श्रीगौतमस्वामी तीर्थंकर भगवान्के समस्त उपदेशको ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ हैं उसी तरह यह आलाप भी उनके (भगवान्के) समस्त श्रुतके ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ है। क्योंकि इस सिद्धान्तालापमें उन्हीं समस्त पदार्थोंका वर्णन है जिनको कि श्रीगौतमस्वामीने भगवान्के समस्त श्रुतको ग्रहण करके प्रगट किया है।

पहले गुणस्थान जीवसमास आदि वीस प्ररूपणाओंको बता चुके हैं उनमें तथा उनके उत्तर भेदोंमें क्रमसे एक एक के ऊपर यह आलाप आगमके अनुसार लगा लेना चाहिए कि विवक्षित किसी भी एक प्ररूपणाके साथ बीसों प्रारूपणाओंमेंसे कौन कौनसी प्ररूपणा अथवा उनका कौन कौनसा उत्तर भेद पाया जाता है। इनका विशेष स्वरूप देखनेकी जिनको इच्छा हो उन्हें इसकी संस्कृत टीका अथवा वड़ी भाषा टीकामें विस्तारपूर्वक दिये गये यंत्र को देखना चाहिये।

इन आलापोंको लगाते समय जिन वातोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिए उन विशेष बातों को ही आचार्य यहाँ पर दिखाते हैं—

सव्वेसिं सुहुमाणं, काओदा सव्वविग्गहे सुक्का ।
सव्वो मिस्सो देहो, कओदवण्णो हवे णियमा[1] ॥ १ ॥

सर्वेषां सूक्ष्माणां कापोताः सर्वविग्रहे शुक्लाः ।
सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ १ ॥

१. यह गाथा यद्यपि लेश्या मार्गणामें नं. ४९८ पर भी आ चुकी है। तथापि यहांपर भी इसको उपयोगी समझर पुनः लिख दिया गया है।

अर्थ—सिद्ध जीवोंके सिद्धगति केवलज्ञान क्षायिकदर्शन क्षायिकसम्यक्त्व अनाहार और उपयोगकी अक्रम प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शनकी तरह सिद्धोंके क्षायिक ज्ञान दर्शन-रूप उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु युगपत् होती है। तथा सिद्धोंके आहार नहीं होता—वे अनाहार होते हैं। क्योंकि उनसे कर्मका और नोकर्मका सर्वथा सम्बन्ध ही छूट गया है। "णोक-म्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो, ओजमणोवि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो" ॥ १ ॥ इस गाथाके अनुसार नोकर्म और कर्म भी आहार ही हैं, अतः सर्वथा अनाहार सिद्धोंके ही होता है।

गुणजीवठाणरहिया, सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा ।
सेसणवमग्गणूणा, सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥ ७३२ ॥

गुणजीवस्थानरहिताः संज्ञापर्याप्तिप्राणपरिहीनाः ।
शेषनवमार्गणोनाः सिद्धाः शुद्धाः सदा भवन्ति ॥ ७३२ ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, चौदह गुणस्थान चौदह जीवसमास चार संज्ञा छह पर्याप्ति दश प्राण इनसे रहित होते हैं। तथा इनके सिद्धगति ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और अनाहारको छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जातीं और ये सिद्ध तथा शुद्ध ही रहते हैं; क्योंकि मुक्तिप्राप्तिके बाद पुनः कर्मका बन्ध नहीं होता।

अन्तमें वीस भेदोंके जाननेके उपायको बताते हुए इसका फल दिखाते हैं—

णिक्खेवे एयत्थे, णयप्पमाणे णिरुत्तिअणियोगे ।
मग्गइ वीसं भेयं, सो जाणइ अप्पसब्भावं ॥ ७३३ ॥

निक्षेपे एकार्थे नयप्रमाणे निरुक्त्यनुयोगयोः ।
मार्गयति विंशं भेदं स जानाति आत्मसद्भावम् ॥ ७३३ ॥

अर्थ—जो भव्य उक्त गुणस्थानादिक वीस भेदोंको निक्षेप एकार्थ नय प्रमाण निरुक्ति अनु-योग आदिके द्वारा जान लेता है वही आत्मसद्भावको समझता है।

भावार्थ—जिनके द्वारा पदार्थोंका समीचीन व्यवहार हो ऐसे उपायविशेषको निक्षेप कहते हैं। इसके चार भेद हैं, नाम स्थापना द्रव्य और भाव। इनके द्वारा जीवादि समस्त पदार्थोंका समीचीन व्यवहार होता है। जैसे किसी अर्थ विशेषकी अपेक्षा न करके किसीकी जीव यह संज्ञा रख दी, इसको जीवका नामनिक्षेप कहते हैं। किसी काष्ठ चित्र या मूर्ति आदिमें जीवकी "यह वही है" ऐसे संकल्परूपको स्थापनानिक्षेप कहते हैं। स्थापनामें स्थाप्यमान पदार्थकी ही तरह उसका आदर अनुग्रह होता है। भविष्यत् या भूतको वर्तमानवत् कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे कोई देव मरकर मनुष्य होनेवाला है उसको देवपर्यायमें मनुष्य कहना, अथवा मनुष्य होनेपर देव कहना यह द्रव्यनिक्षेपका विषय है। वर्तमान मनुष्यको मनुष्य कहना यह भावनिक्षेपका विषय है। प्राण-भूत असाधारण लक्षणको एकार्थ कहते हैं। जैसे जीवका लक्षण दश प्राणोंमेंसे यथासम्भव प्राणोंका धारण करना या चेतना (जानना और देखना) है। यही जीवका एकार्थ है। अथवा एक ही अर्थके वाचक भिन्न भिन्न शब्दोंको भी एकार्थ कहते हैं। जैसे कि प्राणी भूत जीव और सत्व ये शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंकी अपेक्षा रखते हुए भी एक जीव अर्थके वाचक हैं। वस्तुके अंशग्रहणको

अकारादिके क्रमसे गाथासूची

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित
परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) **गोम्मटसार—जीवकाण्ड**—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मचारी पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत नयी हिन्दीटीका युक्त। अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बड़ी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृतटीका लिखी है। चतुर्थावृत्ति। मूल्य-नौ रुपये।

(२) **स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा**—स्वामिकार्त्तिकेयकृत मूल गाथायें, श्रीशुभचन्द्रकृत बड़ी संस्कृत-टीका, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दीटीका। अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त। सम्पादक—डा० आ० ने० उपाध्ये, कोल्हापुर। मूल्य-चौदह रुपये।

(३) **परमात्मप्रकाश और योगसार**—श्रीयोगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रंश-दोहे, श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व पं० दौलतरामजीकृत हिन्दी-टीका। विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान अध्यात्म-ग्रन्थ। डा० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन संस्करण। मूल्य—नौ रुपये।

(४) **ज्ञानार्णव**—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत महान योगशास्त्र। सुजानगढ़निवासी पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। तृतीय सुन्दर आवृत्ति। मूल्य—आठ रुपये।

(५) **प्रवचनसार**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्रीमज्जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकायें तथा पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका। डा० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। तृतीयावृत्ति। मूल्य—पन्द्रह रुपये।

(६) **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धांतिदेवविरचित मूल गाथा, श्रीब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और पं० जवाहरलालशास्त्रिप्रणीत हिन्दी-भाषानुवाद सहित। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य—पांच रुपये पचास पैसे।

(७) **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक। पं० टोडरमल्लजी तथा पं० दौलतरामजीकी टीकाके आधारपर स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दीटीका सहित। श्रावक-मुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन। पंचमावृत्ति। मूल्य-तीन रुपये पच्चीस पैसे।

(८) **अध्यात्म राजचन्द्र**—श्रीमद् राजचन्द्रके अद्भुत जीवन तथा साहित्यका शोध एवं अनुभव-पूर्ण विवेचन डॉ० भगवानदास मनसुखभाई महेताने गुर्जरभाषामें किया है। मूल्य—सात रुपये

(९) **पंचास्तिकाय**—श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज। आ० अमृतचन्द्र-सूरिकृत 'समयव्याख्या' एवं आचार्य जयसेनकृत 'तात्पर्यवृत्ति'—नामक संस्कृत टीकाओं से अलंकृत और पांडे हेमराजजी—रचित बालावबोधिनी भाषा-टीकाके आधारपर पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी-अनुवादसहित। तृतीयावृत्ति। मूल्य—सात रुपये।

(१०) **अष्टप्राभृत**—श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्रीरावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य-पद्यात्मक भाषान्तर। मोक्षमार्गकी अनुपम भेंट। मूल्य—दो रुपये मात्र।

(११) **भावनाबोध—मोक्षमाला**—श्रीमद्राजचन्द्रकृत। वैराग्यभावना सहित जैनधर्मका यथार्थ-स्वरूप दिखाने वाले १०८ सुन्दर पाठ हैं। मू०—एक रुपया पचास पैसे।

(१२) **स्याद्वाद मंजरी**—श्रीमल्लिषेणसूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित। न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। बड़ी खोजसे लिखे गये १३ परिशिष्ट हैं। मूल्य–दस रुपये।

(१३) **गोम्मटसार—कर्मकाण्ड**—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तिकृत मूल गाथायें, स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका। जैनसिद्धान्त–ग्रंथ है। मूल्य–चार रुपये।

(१४) **समयसार**—आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यात्मग्रन्थ, तीन टीकाओं सहित। (प्रेसमें)

(१५) **लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)**—श्रीमन्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती–रचित करणानुयोग ग्रंथ। पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीभाषानुवाद सहित। अप्राप्य। (पुनः छपेगा)

(१६) **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है। (पुनः छपेगा)

(१७) **न्यायावतार**—महान् तार्किक श्री सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल श्लोक, व श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० ने किया है। न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूल्य–पांच रुपये।

(१८) **प्रशमरतिप्रकरण**—आचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित। वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। मूल्य–छह रुपये।

(१९) **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)**—श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल सूत्र और स्वोपज्ञभाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। मूल्य–छह रुपये।

(२०) **सप्तभंगीतरंगिणी**—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व० पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका। नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अप्राप्त। (पुनः छपेगा)

(२१) **इष्टोपदेश**—श्रीपूज्यपाद-देवनन्दिआचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर आशाधरकृत संस्कृत-टीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, स्व० बैरिस्टर चम्पतरायजी कृत अंग्रेजी-टीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी पद्यानुवादों सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना। मूल्य–एक रुपया पचास पैसे।

(२२) **इष्टोपदेश**—मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मू०–पचहत्तर पैसे।

(२३) **परमात्मप्रकाश**—मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथायें। मू०–दो रुपये।

(२४) **योगसार**—मूल गाथायें और हिन्दीसार। मू०–पचहत्तर पैसे।

(२५) **कार्तिकेयानुप्रेक्षा**—मात्रमूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना। मू०–दो रुपये पचास पैसे।

(२६) **प्रवचनसार**—अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित। मूल्य–पाँच रुपये।

(२७) **उपदेशछाया आत्मसिद्धि**—श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत। अप्राप्य।

(२८) **श्रीमद्राजचन्द्र**—श्रीमद्के पत्रों व रचनाओं का अपूर्व संग्रह। तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। म० गाँधीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना। (नवीन परिवर्द्धित संस्करण पुनः छप रहा है)

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मंगाने वालोंको कमीशन दिया जायेगा। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

(१) श्रीमद् राजचन्द्र (२) अध्यात्म राजचन्द्र (३) श्रीसमयसार (संक्षिप्त), (४) समाधि सोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोंका अनुवाद) (५) भावनाबोध, मोक्षमाला (६) परमात्मप्रकाश (७) तत्त्वज्ञान तरंगिणी (८) धर्मामृत (९) स्वाध्याय सुधा (१०) सहजसुखसाधन (११) तत्त्वज्ञान (१२) श्रीसद्गुरुप्रसाद (१३) श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (१४) सुबोध संग्रह (१५) नित्यनियमादि पाठ (१६) पूजा संचय (१७) आठदृष्टिनी सज्झाय (१८) आलोचनादिपद संग्रह (१९) पत्रशतक (२०) चैत्यवंदन चोवीशी (२१) नित्यक्रम (२२) श्रीमद् राजचन्द्र-जन्म-शताब्दीमहोत्सव-स्मरणांजलि (२३)श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत (२४) श्रीमद् राजचन्द्र-जन्म-शताब्दीमहोत्सव-स्मरणांजलि (२३) श्रीमद् लघुराज स्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत (२४) आत्मसिद्धि (२५) श्रीमद् राजचन्द्र वचनामृत-सारसंग्रह (२६) Shrimad Rajchandra, a Great Seer (२७) नित्यनियमादि पाठ (हिन्दी) (२८) सुवर्णमहोत्सव–आश्रम परिचय (२९) Mokshamala और (३०) समाधिसाधना आदि ।

आश्रमके गुजराती–प्रकाशनोंका पृथक सूचीपत्र मँगाइये । सभी ग्रन्थोंपर डाकखर्च अलग रहेगा। ।

प्राप्तिस्थान :

(१) श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन–अगास

पो० बोरिया : वाया–आणंद (गुजरात)

(२) परमश्रुतप्रभावक–मण्डल

(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)

चौकसी चेम्बर, खाराकुँवा, जौहरी बाजार, बम्बई–२